ॐ

श्री सद्‌गुरुदेवाय नमः

श्री अध्यात्म संदेश

भगवान श्री कुन्दकुन्दकहान जैन शास्त्रमाला

निवेदन

प्राचीन युग में राजदूतोंके ज़रिये नृपतियों के बीच आपस में संदेश भेजे जाते थे। धर्मराजा श्री तीर्थंकर परमात्मा की दिव्यध्वनि में आये हुए अध्यात्मसन्देश सम्यक्ज्ञानी आत्माएँ अपने अन्तर में उल्लासपूर्वक ग्रहण करते थे और बाद में जगत में उसका प्रचार व प्रसार करते थे। गणदरदेव, आचार्य भगवन्त, महामुनिवर और सम्यक्दृष्टिओं द्वारा इस प्रकार की प्रवृत्ति की जाती थी और वर्तमान में भी वह जारी है।

पंडितप्रवर श्री टोडरमलजीने तथा श्री बनारसीदासजी ने तीन चिट्ठियों में अध्यात्मरहस्य गूढ तरीके से भर दिया है। इनके ऊपर स्वरूपानुभवी आत्मज्ञसंत पूज्य श्री कानजीस्वामी ने विस्तृत प्रवचन करके उनके रहस्यों का उद्घाटन किया है एवं स्वात्मानुभव करने के दिव्य संदेश वे दे रहे हैं। इसके लिये इस मुक्तिदूत का अत्यंत उपकार मान रहे हैं।

इन प्रवचनों को समझकरके-ग्रहण करके उनके भाव यथातथ बने रहे इस प्रकार से ब्रह्मचारी श्री हरिलालभाई ने उसका सुन्दर प्रकार से संकलन करके दिया है, जो इस पुस्तकाकार में प्रसिद्ध हो रहा है। इसके लिये उनका आभार व्यक्त कर रहे हैं।

राजकोट के सद्धर्मप्रेमी भाईश्री मोहनलाल कानजीभाई धीयाने इस पुस्तक की दो हजार प्रत छपवा करके गुजराती 'आत्मधर्म' मासिक पत्रिका के ग्राहकों को उपहार के रुप में देने का निर्णय किया है। इस उदारता के लिये उनके प्रति भी आभारदर्शन करते हैं।

इस पुस्तक में दिये गये 'अध्यात्मसन्देश' को उल्लासपूर्वक ग्रहण करके/उठा लेकर समग्र अध्यात्मरुचिपूर्वक आत्मशान्ति का अनुभव करो ऐसी प्रार्थना कर रहे हैं।

खीमचंद जे. शेठ
(साहित्य प्रकाशन समिति)

सोनगढ़ दि.१-८-६५

प्रस्तावना

परम वीतरागी जैनधर्म के अनादिनिधन प्रवाह में तीर्थंकरों ने तथा सन्तोने आत्महित के हेतुभूत अध्यात्मवाणी का प्रवाह बहाया है; तीर्थंकरों का एवं सन्तों का यह अध्यात्मसन्देश ग्रहण करके अनेक जीव पावन हुए हैं। गृहस्थ-श्रावक-धर्मात्माओंने भी इस अध्यात्मरस के पुनित प्रवाह को स्वयं की अध्यात्मरसिकता द्वारा प्रवहित रखा है। इस अध्यात्मरस के पान से संसार के संतप्त जीव परमतृप्ति का अनुभव करते हैं।

तीर्थंकरों की एवं मुनियों की तो बात ही क्या ?! उनका तो जीवन स्वानुभव द्वारा अद्यात्मरस से ओतप्रोत है; इसके अलावा, जैन शासन में अनेक धर्मात्मा-श्रावक भी ऐसै पैदा हुए हैं कि जिनका अध्यात्मजीवन और अध्यात्मवाणी अनेक जिज्ञासुओं में अध्यात्म की प्रेरणा जगाते हैं। उनमें से इस पुस्तक से सम्बन्धित अध्यात्मरसिक विद्वान श्रावक - एक तो पंडित श्री टोडरमलजी और दूसरे पंडित श्री बनारसीदासजी; इन दोनों द्वारा लिखित अद्यात्म-वचनिका के ऊपर पूज्य गुरुदेवश्री ने अध्यात्मरस से सभर प्रवचन किये वे इस 'अध्यात्मसंदेश' पुस्तक के रुप में प्रसिद्ध हो रहे हैं। जगत के सभी रसों से अध्यात्मरस कितना सर्वोत्कृष्ट है, और उसका स्वाद कितना रसभरपूर है - यह बात तो जिज्ञासुओं को इन प्रवचनों के अभ्यास द्वारा ख्याल में आयेगी। सम्यक्त्व से सम्बन्धित एवं निर्विकल्प-स्वानुभव से सम्बन्धित जो आत्मस्पर्शी चर्चाएँ इसमें भरी है वह सम्यक्त्वपिपासु जीवों को वास्तव में आह्लादकारी है। पूज्य गुरुदेव ने उस स्वानुभव की और सम्यक्त्व की कोई अद्भुत-अचिंत्य महिमा का झरना इन प्रवचनों में बहाया है; उसके द्वारा स्वानुभवी संतों की परिणति का साक्षात् दर्शन कराया है। छपने से पहले इन प्रवचनों के लेखों को पढ़ लेने की कृपा गुरुदेवश्रीने की है।

पंडित श्री टोडरमलजी ने साधर्मियों के ऊपर जो पत्र लिखा है उसमें अध्यात्मचर्चा का प्रेम दिखाई देता है। अध्यात्मरसिक जीव उस समय भी बहुत ही कम थे; जो थे उनको भी एक दुसरे से संपर्क व समागमे होना बहुत ही मुश्किल

था, क्योंकि उस माने में आज जैसी वाहनव्यवहार की सुविधा नहीं थी। २०० वर्ष पूर्व यह पत्र लिखा गया है उस समय डाक की भी सुविधा नहीं थी; खेपिया के द्वारा बड़ी मुश्किल से एकाध महिने में पत्रोत्तर का साधन बन पाता था। ऐसी परिस्थिति में लम्बे समय के अन्तराल के बात खेपिया जब अध्यात्मरसिक साधर्मी का पत्र लेकर आता होगा तब उस पत्र के हाथमें आते ही जिज्ञासुलोग कितने आनन्दित हो जाते होंगे ! साधर्मी का पत्र प्राप्त होने पर लिख रहे हैं कि, 'भाईश्री ऐसे प्रश्न आप सरीखे ही लिख सकते हैं। इस वर्तमानकाल में अध्यात्मरस के रसिक जीव बहुत ही कम हैं। धन्य है उनको जो स्वानुभव की वार्ता भी करते हैं।'

अहा, स्वानुभव की चर्चा करे उनको भी धन्य कहा, तो जो लोग स्वानुभवरुप साक्षात् परिणमित हुए हैं - स्वयं अध्यात्मरूप हो गये हैं - ऐसे सन्तों की महिमा की क्या बात ! और ऐसे सन्तों का साक्षात् समागम तथा उनके चरणों की साक्षात् उपासना और उनकी वाणी का साक्षात् श्रवण हम सब को मिला, - यह कैसे धन्य भाग्य !!

पंडित श्री टोडरमलजी पत्र में अन्त में लिख रहे हैं कि 'जब तक मिलने का अवसर न बन पाये तब तक पत्र तो शीघ्र ही लिखते रहिये। स्वधर्मी को तो परस्पर चर्चा ही चाहिए।' इस परसे ख्याल आता है कि साधर्मी का समागम कितना दुर्लभ था और उनके पत्र के लिये कैसी झंखना और धगश रहती थी।

उस समय बैलगाडी का और ऊँट का युग था आज हवाई जहाज और रोकेट का युग है। आज तो भारत के एक सिरे से दूसरे सिरे तक हवाई-मुसाफरी द्वारा कुछ एक घण्टों में ही पहुँचा जा सकता है, हजारों मील दूर बैठे बैठे होने पर भी टेलिफोन द्वारा सीधी बातचीत हो सकती है। उस समय एक प्रांतमें से दूसरे प्रांत में जाने में भी बैलगाडी में अनेक महीने लग जाते थे; संदेशों का लेन-देन भी लम्बे समय अन्तराल में ही हो सकता था। इसलिये उस समय साधर्मी के मिलन का या साधर्मी के अध्यात्म-सन्देश की प्राप्ति

जो अनूठा आह्लाद जागता था उसका खयाल आज के युग में आना मुश्किल है।

गुरुदेव के हाथ में जब सर्वप्रथम यह चिट्ठी आई और उसे उन्होंने पढ़ा, सो ही उन्हें आह्लाद हुआ कि वाह ! ऐसी चिट्ठी ? इसका क्या मूल्य हो सकता है ? ज्ञान का अर्थी उसकी सही कीमत कर सकता है।

अहो ! इसमें तो मानो हीरे की कणिकाएँ भरी है ! उस समय (करीब ४० वर्ष पूर्व) भी ऐसे साहित्य की प्राप्ति दुर्लभ थी।

जिस पत्र के उत्तरस्वरुप पंडितजी ने यह चिट्ठी लिखी है वह पत्र सीधा पंडित टोडरमलजी के लिये नहीं लिखा गया है, परन्तु मुलतान के भाईयों ने जहानावाद के रामसिंह भुवानीदासजी को संबोधन करके पत्र लिखा था, उनकी अन्य साधर्मियों के साथ बात हुई थी, और उस अन्य साधर्मियों ने जहानावाद से पंडित टोडरमलजी को जयपुर में लिखा था; अतः मूल पत्र लिखा जाने के बाद घूमते-फिरते तीसरे तबक्के में पंडितजी को मिला है; और पंडितजी ने उसका उत्तर सीधे ही मुलतान के भाईयों को लिखा है; (हालाँकि जहानावाद के भाईयों को अपने पत्र का उत्तर मिलने में सामान्य तौर से दो-तीन मास बीत गये होंगे। इतने लम्बे समय बाद जब अपने जिज्ञासासभर प्रश्नों के जवाब के रुप में यह अध्यात्मरस से भरपूर चिट्ठी साधर्मी के पास से मुलतान के भाईयों को प्राप्त हुई होगी तप इस 'अध्यात्म संदेश' से उनको कितना ज्यादा हर्षोल्लास हुआ होगा !! आज २०० वर्ष बाद भी उस चिट्ठी की हस्तलिखित प्रतें प्राचीन शास्त्र भंडार में सुरक्षित पड़ी है - इस बात से ख्याल में आयेगा कि साधर्मीजन उस चिट्ठी को कितनी कीमंती मान रहे थे। ऐसी दो प्राचीन हस्तलिखित प्रतों के आधार से खूरई (सागर, मध्यप्रदेश) के 'कर्तव्यप्राबोध काल्यालय' ने कबीर ५० वर्ष पूर्व (वीर संवत् २४४२ में) इस रहस्यपूर्णचिट्ठि को प्रकाशित किया था। उसमें प्रकाशक लिख रहे हैं कि - 'यह चिट्ठी कितनी महत्त्वपूर्ण है उसको प्रेमी पाठक स्वयं अवलोकन करके जान सकेगे। परन्तु यहाँ हम इतना अवश्य कहेंगे कि, यदि इस तरह की कोई प्राचीन विद्वान की कृति आज युरोपादि देशोंमें किसी को प्राप्त होती तो सारे देश और समाचारपत्रों

में धूम पड़ जाती।' पचास वर्षों से प्रसिद्ध होजाने के बावजूद यह चिट्ठी विशेष प्रचार में नहीं आई थी, परन्तु अब पूज्य गुरुदेवने इसके ऊपर तीन बार प्रवचन करके इस चिट्ठी की महिमा प्रसिद्ध की है, और उसके रहस्य को खुला किया है। इस रहस्यपूर्ण चिट्ठी के ऊपर एवं पंडित श्री बनारसीदासजी की दो चिट्ठी (परमार्थवचनिका तथा उपादान-निमित्त की चिट्ठी) के ऊपर, इस प्रकार तीन चिट्ठी पर पूज्य गुरुदेवने सं.२४७१ में २४७९ में तथा २४८९ में ऐसे तीन बार जो विस्तृत प्रवचन किये उसका संकलन करके उनको इस 'अध्यात्म संदेश' के रुप में प्रगट किये गये हैं।

यहाँ प्रसंगोपात इन दोनों विद्वानों का संक्षिप्त परिचय दे रहे हैं -

अनेक शास्त्रों के रहस्यों का मिलान करने के बाद 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' जैसे शास्त्र की जिन्होंने रचना की वे पंडित श्री टोडरमलजी ने शिथिलाचार के सामने नीडरतापूर्वक चुनौती देकर आध्यात्मिक आंदोलन द्वारा तथा महान विपुल साहीत्यरचना द्वारा जैनसमाज में क्रान्ति की लहर फैलाई थी। गृहस्थी होने के बावजूद जैनसमाज में उनका स्थान एक आचार्य के बराबर (आचार्यकल्प) गिना जाता है। पंडित श्री टोडरमलजी का जन्म विक्रम सं.१७९७ न्म जयपुर के गोदीकापरिवार में हुआ था। उनके पिताश्री जोगीदासजी तथा माताजी रंभादेवी थे। उनका परिवार 'ढोलाका' रूपसे प्रसिद्ध था। आज भी जयपुर में उनके वंश में श्री छगनलालजी लादूलालजी ढोलाका है। उनके शिक्षागुरु श्री बंशीधरजी थै - जो कि मैनपुरी (आग्रा) से जयपुर आकर बसे थे। पंडितजी असाधारण प्रतिभावंत थे, छोटी उम्र में ही उन्होंने बहुत अध्ययन-मनन किया था। सं.१८११ की माघ महीने की कृष्णपंचमी के दिन जब उन्होंने यह रहस्यपूर्ण चिट्ठी लिखी तब उनकी उम्र कितनी थी ? - सिर्फ १४ या १५ वर्ष की उनकी उम्र थी। इतनी छोटी उम्र में उनके द्वारा लिखित यह अध्यात्म शास्त्र के मर्म से भरी चिट्ठी बता रही है कि वे कितने विद्वान एवं अध्यात्मरसिक थे।

सं.१८११ के निकट में अर्थात् १४-१५ वर्ष की वय में ही वे जयपुर राज्य के 'सिधाणा' ग्राम में जाकर एक सेठ के वहाँ नौकरी करने लगे। इस

दौरान साधर्मी भाई रायमल कि जो १३-१४ वर्ष की वय से ही शास्त्राभ्यासी थे तथा धर्म का रहस्य समझने की जिज्ञासा से अनेक जगह जा जाकर घूम रहे थे, वे पंडित टोडरमल्लजी से मिले, और उनके परिचय से प्रसन्न होकर उन्होने लिखा कि, `टोडरमल्लजी के ज्ञान की महिमा अद्‌भुत देखी।' तत्पश्चात् भाई रायमल्लजीने उनसे गोम्मटसार इत्यादि शास्त्रों की टीका लिखने का आग्रह किया और पंडित टोडरमल्लजी ने हिन्दी भाषा में टीका लिखने का शुरु किया। वे लिखते जाते थे और भाई रायमलजी उसे पढते जाते थे। सं.१८१५ तक के तीनेक वर्ष अर्थात् मात्र १५ से १८ वर्ष की छोटी उम्र में तो उन्होंने गोम्मटसार के ३८ हज़ार श्लोक, लब्धिसार-क्षपणसार के १३ हजार श्लोक और त्रिलोकसार के १४ हजार श्लोक, इस प्रकार कुल ६५००० पांसठ हजार श्लोकप्रमाण (`सम्यग्ज्ञानचंद्रिका' नामकी) टीका की रचना की। सिर्फ १५ वर्ष की वय में `गोम्मटसार' जैसे महानशास्त्र की टीका लिखना यह श्रुत के अभ्यास का असाधारण प्रेम तथा विद्वता को दर्शित करते हैं। भाई रायमल्लजी लिखते हैं कि `आजकल इस कनिष्ठ काल में टोडरमल्लजी के ज्ञान का क्षयोपशम विशेष है। `गोम्मटसार' ग्रन्थ का अभ्यास पाँचसो वर्ष पूर्व था। परन्तु तत्पश्चात् बुद्धि की मन्दता के कारण भावसहित का वांचन-अभ्यास रुक गये थे; अब पुनः (टोडरमल्लजी द्वारा) उसका उद्योत हुआ। वर्तमानकाल में यहाँ धर्म का जो निमित्त है वैसा अन्यत्र नहीं है।'

इससे स्पष्ट होता है कि पंडित टोडरमल्लजी कितने प्रतिभाशाली थे एवं धर्मप्रचार की लगन उनको कितनी थी। उस समय जयपुर में इन्द्रध्वजपूजा का बड़ा भारी उत्सव मनाया गया था, उसकी निमंत्रण-पत्रिका में (सं.१८२१ के माघ मास कृत्य नौवीं की) लिखा है कि `यहाँ पर भाईजी टोडरमल्लजी के ज्ञान का क्षयोपशम अलौकिक है, उन्होंने गोम्मटसार आदि अनेक ग्रन्थों की पूरे लाख श्लोक प्रमाण टीकाएँ बनाई है और आगे अभी अन्य पाँच-सात ग्रन्थों की टीका बनाने का विचार है, वह यदि आयु की अधिकता होगी तो बन पायेगा। पुनःश्च धवल-महाधवल आदि ग्रन्थों को प्रगट में-प्रकाश में लाने

का उद्यम उन्होंने किया है, तथा उस दक्षिणदेश से अन्य पाँच-सात ग्रन्थ ताडपत्र में कर्णाटकलिपि में लिखे हुए यहाँ पधारे हैं उन्हें `मलजी' पढते हैं, तथा उन पर यथार्थ व्याख्यान रते हैं। एवं कर्णाटकलिपी में लिख लेते हैं। इत्यादि न्याय, व्याकरण, गणित, छंद, अलंकार इत्यादि का ज्ञान उन्हें है। महानबुद्धि के धारक ऐसे पुरुष इस काल में होना दुर्लभ है।' इस उल्लेख पर से समाज में पंडितजी का महत्त्व कितना था इसका अंदाज हो सकता है।

आज के माफिक उस जमाने में शीघ्र प्रवास के या संदेशाव्यवहार के साधन नहीं थे; ऐसे उस साधनहीन काल में भी दक्षिणदेश के धवलादि सिद्धांत ग्रन्थों के उध्धार की योजना पंडित श्री टोडरमल्लजी ने बनाई थी तता जयपुर से कुछेक भाईयों को वहाँ भेजा था; इसके लिये दो हजार रुपये खर्च किये तथा इस कार्य में पाँच वर्ष लग गये; उनमें से एक व्यक्ति की तो वहाँ पर (दक्षिण में) ही मृत्यु हुई। लेकिन उशमें सफलता हाँसिल न हुई, फिर भी श्रुत की तीव्र भक्तिपूर्वक प्रयत्न ज़ारी रखा। यदि छोटी उम्र में उनका अकस्मात (अकाल) देहांत न हुआ होता तो अवश्य उनके समय में ही ये षड्खंडागम आदि शास्त्र जयपुर आ गये होते। फिर भी कर्णाटकलिपि में वे शास्त्र आये, उनको वे पढ़ने लगे, और उसकी लिपि लिखने लगे, यह कितने आश्चर्य की बात है।

उपरोक्त गोम्मटसारादि ग्रन्थों की टीका के बाद उन्होंने `आत्मानुशासन' की तथा `पुरुषार्षसिद्धिउपाय' की हिन्दी टीका (जयपुरी ढुंढरी भाषा में) लिखी एवं `मोक्षमार्ग प्रकाशक' सरीखे सर्वोपयोगी महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना की। इस प्रकार श्रीमान पंडितजीने `मोक्षमार्ग प्रकाशक' इत्यादि ग्रन्थ द्वारा शुद्ध जैनमार्ग का प्रकाश किया, तथा शिथिलाचार, पाखंड तथा असत्यमार्ग का निषेध करके जो महान क्रान्ति की, वह सहज नहीं होने के कारण कुछ विद्वेषी-विधर्मियों ने षड़यंत्र द्वारा भारी अत्याचार किया इतना ही नहीं, पंडितजी के ऊपर झूठे आक्षेप लगाकर छलकपट द्वारा राजा को उनके विरुद्ध उकसाया, जिसके फलस्वरूप उनको हाथी के पैर तले कुचलवाकर मार दिया गया। (सं.१८२४ की कार्तिक शुक्ला ७ यह उनका देहांतदिन माना जाता है।) उस समय उनकी आयु मात्र २७

साल की थी। जैनगगन का एक चमकता हुआ सितारा पूर्णरुप से चमके इससे पहले ही अस्त हो गया। फिर भी इतने छोटे आयुकाल में उन्होंने जैनसाहित्य की महत्त्वपूर्ण स्वनाओं द्वारा श्रुतदेवीमाता की तथा जैनसमाज की बहुत मूल्यवान सेवा की है। फिलहाल जयपुर में गोदिका परिवार की ओरसे `श्री टोडरमल्लजी स्मारकभवन' बन रहा है और उस भवन के माध्यम से आध्यात्मिक साहित्य के प्रचार का ध्येय अपनाया गया है, यह हर्ष की बात है। ऐसे अद्यात्मरसिक महान श्रुतोपासक विद्वान द्वारा साधर्मियों पर लिखी गई रहस्यपूर्ण चिट्ठी पर हुए पूज्य श्री कानजीस्वामी के प्रवचन इस पुस्तक के प्रथम प्रकरण में प्रसिद्ध हुए हैं।

दूसरे प्रकरण में `परमार्थ वचनिका' के ऊपर हुए प्रवचन हैं और तीसरे प्रकरण णें `उपादान-निमित्त की चिट्ठी' पर के प्रवचन है। - इन दोनों के लेखक है - `श्रीमान पंडित बनारसीदासजी'। उन्होंने स्वयं ही `अर्धकथानक' में अपने जीवनवृत्तांत का आलेखन किया है. हिन्दीभाषा के कवियों में `आत्मकथा' लिखनेवाले वे प्रथम ही माने जाते हैं। उनके द्वारा लिखी गई आत्मकथामें से ही उनके जीवन का संक्षिप्त परिचय यहाँ दे रहैं हैं।

मध्यभारत में रोहतपुर के पास `बिहोली' गाँव है, वहाँ राजपूतों की वस्ती है। एकबार `बिहोली' में कोई जैनमुनि पधारे उनके पवित्र चारित्र से तथा विद्वतासभर उपदेश द्वारा प्रभावित होकर वहाँ के सभी राजपूत जैन धर्मी हो गये। और-

पहिरी माला मंत्र की, पायो कुल श्रीमाल,
थाप्यो गोत विहोलिया, बीहोली-रखपाल।

इस प्रकार नमस्कारमंत्र की माला पहनकर `बिहोलिया' गोत्र की जो स्थापना हुई, उसमें क्रमशः मूलदासजी हुए, वे राज्य के मोदी थे। सं.१६०२ में उनके यहाँ खरगसेन नामका पुत्र हुआ। सं.१६१३ में मूलदासजी का देहांत होने पर मुगल सरदार ने उनके घर को खालसा किया; अतः उनकी विधवा पत्नी अपने पुत्र खरगसेन को लेकर `जोनपुर' गई, वहाँ उनका मायका था।

सं.१६२६ में खरगसेन `आग्रा' आकर व्यापार करने लगे और उनके पास ठीक मात्रा में धन इकट्ठा हुआ। मेरठनगर के `सूरदासजी' की कन्या के साथ

उनकी शादी हुई - यही हमारे चरित्र नायक के माता-पिता। पुनः वे `जोनपुर' में आकर जवाहरात धंधा करने लगे। सं.१६३५ में उनको एक पुत्र हुआ, परन्तु वह सिर्फ आठ-दस दिन ही जिंदा रहा। थोडे दिन बाद `खरगसेन' पुत्रलाभ की इच्छावश `रोहतपुर' एक सती की यात्रा के लिए सपरिवार गये, किन्तु रास्ते में चोरों ने उनके लूंट लिया, इस प्रसंग के अनुलक्ष में पंडित `बनारसीदासजी' लिख रहे हैं कि - सती के पास पुत्र की मांग करने के लिये जाते समय रास्ते में लूँट और गये; ऐसा प्रगट देखने पर भी मूर्ख लोग समझते नहीं है, और फोकट में देव-देवी की मान्यताएँ (आस्था) रखते हैं। `खरगसेनजी' फिर से सं.१६४३ में पुत्रलाभ की इच्छा से सती की यात्रा करने के लिये गये। वहाँ से लौटने के बाद कुछ समय पश्चात् उनको पुत्र हुआ। उसका नाम `विक्रम'। यह जो विक्रम है वही हमारे `पंडित बनारसीदासजी'। (सं.१६४३ की माघ शुक्ला ११ ग्यारहवी) के रविवार के दिन उनका जन्म हुआ।)

बालक विक्रम जब छह महिना का हुआ तब `खरगसेनजी' सपरिवार पार्श्वनाथप्रभु की यात्रा में काशी गये। भावपूर्वक पूजन करके बालक विक्रम से प्रभुचरण में नमस्कार करवाये; तब पूजारीने कपटपूर्वक कहा कि पार्श्वनाथप्रभु का भक्त यक्ष ध्यान दौरान आकर मुझ से बोल गया है कि पार्श्वनाथप्रभु का इस जन्मनगरी का जो नाम है (बनारस) वही नाम इस बालक का रखना, इससे वह चिरजीवी बनेगा। इस वज़ह से कुटुम्बीजनोंने इस बालक का नाम `बनारसीदास' रखा।

पाँचवी साल में उसे संग्रहणी का रोग हुआ था। जैसे तैसे वह रोग शांत हुआ उतने में छोटी माता (चेयक के रोग) ने घेर लिया; इस प्रकार एक वर्ष तक बालक ने अत्यधिक कष्टभोगा। सात वर्ष की उम्र में उन्होंने शाला मे पांडे `रुपचंदजी' के पास विद्याभ्यास शुरु किया। और दो-तीन वर्ष में प्रवीण हो गये।

करीब चारसौ वर्ष पूर्व के समय का यह जो इतिहास है, उस समय देश में मुसलमानों का राज्य था और बालविवाह का प्रचार बहुत था; ९ वर्ष की उम्र में `खेरादाबाद' के कल्याणमलजी शेठ की कन्या के साथ बालक बनारसीदास

की सगाई हुई, और ११ वर्ष की उम्र में (सं.१६५४ की माघ शुक्ला १२) शादी हो गई। जिस दिन नववधू घर में आयी उसी दिन खरगसेन के यहाँ एक पुत्र का जन्म हुआ, तथा उसी दिन उसकी वृद्ध नानी की मृत्यु हुई। एक ही दिन में एक ही घर में तीन प्रसंग बनने से पंडितजी लिखते हैं -

यह संसार विडंबना देख प्रगट दुःख खेद,
चतुर चित्त त्यागी भये, मूढ न जाने भेद।

सोलह साल की युवावस्था में उन्हें `कोढ' (सफेद दाग या रक्तपित) का रोग हुआ और शरीर ग्लानिजनक बन गया; वह रोग बड़ी मुश्किल से मिट पाया। युवावस्था में दुराचार के संस्कारवश हज़ार चोपाई-दोहाकी एक शृंगारपोषक पोथी उन्होंने बनाई (रचना करी)थी, परन्तु बाद में सद्बुद्धि होने पर वह पोथी (पुस्तिका) पश्चातापपूर्वक गोमती नदीमें फेंक दी थी। सं.१६६० में फिर से उनको बड़ी भारी बीमारी हुई थी, २१ लंघन बाद वे नीरोगी हुए।

सं. १६६१ में (१८ वर्ष की उम्र में) एक संन्यासी-जोगीने `बनारसीदासजी' को जाल में फसाया, एक मंत्र देकर एक वर्ष तक उसका जाप करने से रोज़ एक सोनामहोर आंगन में गिरी हुई दिखेगी - ऐसा कहा। `बनारसीदासजी' उसकी जाल में फंस गये, और लगे जाप करने में। जैसे-तैसे एक वर्ष के जाप पूर्ण किये और सोनामहोर की उत्कंठा से आंगन में खोज करने लगे किन्तु कुछ मिला नहीं। संन्यासी की इस चालबाजी से उनकी आँख खुल गई।

किन्तु बाद में फिर एक दूसरे जोगीने उनको फसाया; एक `शंख' देकर कहा कि यह सदाशिव है, उसकी पुजा करने से महापापी भी शीघ्र मोक्ष की प्राप्ति करता है। `बनारसीदासजी' मूर्खतापूर्वक उस शंख की पूजा करने लगे इस मूर्खता के सम्बन्ध में वे लिख रहे हैं कि -

शंखरूप शिव देव, महाशंख बनारसी,
दोउ मिले अबेब, साहिब सेवक एक से।

सं.१६६१ में `हीरानन्दजी ओसवाल'ने शिखरजी की यात्रा का संघ निकाला, खरगसेनजी भी उनके साथ यात्रा करने चले गये। उस समय रेलगाडी इत्यादि था नहीं। अतः यात्रा में एकाध साल बीत जाता था। संघ बहुत दिनों बाद यात्रा करके वापस आया तब अनेक लोग लूट गये, अनेक बीमार हो गये और अनेक मर गये। `खरगसेनजी' भी रोगसे पीडित हुए और जैसे तैसे `जोनपुर' में वापस घर पहुँचे।

`खरगसेनजी' शिखरजी की यात्रा में गये उस दौरान बाद में `बनारसीदासजी' को पार्श्वनाथ की (बनारसकी) यात्रा का विचार आया, और प्रतिज्ञा ली की जब तक यात्रा न करुँ तब तक दूध-दहीं-घी-चावल-चना-तेल इत्यादि पदार्थों का भोग नहीं करुँगा। इस प्रतिज्ञा को छ महिने बीत चुके। उसके बाद कार्तिकी पुर्णीमा के दिन बहुत लोग गंगास्नान हेतु तथा जैनी लोग पार्श्वनाआथप्रभु की यात्रा के लिये बनारस की और चले, उनके साथ `बनारसीदासजी' भी किसी से पूछे-ताछे बिना बनारस चले गये। वहाँ गंगास्नानपूर्वक भगवान पार्श्वनाथ की भावसहित दस दिन तक पूजा की और साथ में वहाँ शंखपूजा भी करते थे ! यात्रा करके, शंख साथ में लेकर हर्षपूर्वक वे घर लौटे।

एकबार वे घर की सीडी पर बैठे थे, उतने में खबर मिली कि अकबर बादशाह की मृत्यु हो गई है। वह सुनते ही आघातवश सीडी पर से नीचे गिर पडे, और सिर में चोटलगी जिसके कारण कपड़े लहूलुहान हो गये। इस प्रसंग के बाद एकान्त में बैठे-बैठे एकबार उनको विचार आया कि -

जब मैं गियो पड्यो मुरझाय,
तब शिव कछु नहिं करी सहाय।

इस बात का समाधान नहीं होने के कारण उन्होंने शंखरुप सदाशिव का पूजन छोड़ दिया। उनके विचारों में परिवर्तन हुआ और विवेक ज्योति जागृत हुई; अब शृंगाररस के प्रति अरुचि होने लगी। तथा पश्चातापपूर्वक पाप के भय स शृंगाररस की पोथी को गोमती नदी में बहा दी। उनकी परिणति में परिवर्तन हुआ और उनको धर्म की चाहत प्रगट हुई। पूर्व के शृंगाररस के रसिक `बनारसी'

अब जिनेन्द्र के शान्तरस में मग्न रहने लगे। पहले गलीकूँची में भटकनेवाले बनारसी अब अष्टद्रव्यसहित जिनमंदिर में जाने लगे। जिनदर्शन के न होने पर भोजनत्याग की उनकी प्रतिज्ञा थी, इसके अलावा व्रत-नियम-सामायिकादि आचारों का भी वे पालन करने लगे।

सं.१६६७ में (२४ वर्ष की उम्र में) पिताजीने घर का कारोबार बनारसी को सौंप दिया; और दो मुद्रिका, २४ माणिक, ३४ मणि, नौ नीलम, बीस पन्ना, कुछ छुटक-पुटक जवाहरात तथा ४० मन घी, दो कुप्पे तेल, दो सौ रुपये के कपड़े और कुछ रोकड़ रकम देकर व्यापार हेतु आग्रा भेजा। आग्रा के मोतीकटरा नामक महोल्ले में अपने बहनोई के घर ठहरे और व्यापार शुरु किया। घी, तेल, कपड़ा बेचकर उसकी हुंडी जौनपर भेज दी। उस समय आग्रा में बड़े चतुर-चालाक लोग भी ठग लिये जाते थे, परन्तु सद्भाग्य से `बनारसीदासजी' पर किसी की दृष्टि पड़ी नहीं थी। फिर भी अशुभ कर्म के उदय ने उनको नहीं छोड़ा, रुमाल में बाँधा हुआ जवाहरात कहीं गायब हो गया, जिस कपड़े में माणिक बाँधे थे, वह पोटली चुहा ले ये; दो रत्नजडित पोंची जिस सराफ को बेची थी, उसने दूसरे ही दिन दिवाला निकाला, अक रत्नजडित मुद्रिका रास्ते में गिर गई; - इस प्रकार एक के बाद एक आपत्ति के कारण बनारसीगा हृदय क्षुब्ध हो गया। पास में जो कुछ वस्तु बच गई थी उसे बेच बेच कर खाने लगे। आखिर में पास में कुछ न रहा तब बज़ार में जाना छोड़ दिया और घर में ही रहकर पुस्तक पढ़ने लगे। चार-पाँच श्रोताजन उनके पास शास्त्र सुनने के लिये आते थे। उसमें एक कचौड़ी बनानेवाला था, उससे रोज कचौड़ी उधार लेकर `बनारसीदासजी' खाते थे। बहुत दिनों बाद एकान्त में उससे कहा कि, भाई ! तुम उधार में कचौड़ी दे रहे हो किन्तु मेरे पास तो कुछ है नहीं कि आपको कुछ दे पाऊँ। - अतः आज से उदार देना बन्द कर दो। परन्तु कचौड़ीवाला भाई भला आदमी था और `बनारसीदासजी' की परिस्थिति जानता था; उसने कहा कि आप पैसों के लिये फिकर मत करिये, चिन्ता की कोई बात नहीं है, आप ऊधार लेते रहिये समय आने पर

सब कुछ भरपाई हो जायेगा - इस प्रकार छह महिने बीत गये। एकबार शास्त्र सुनने के लिये `ताराचंदजी' नाम के गृहस्थ आये, वे `बनारसीदासजी' के श्वसुर लगते थे; वे `बनारसीदासजी' को अपने घर लिया ले गये, दो महीने बाद पुनः उन्होंने व्यापार शुरु किया, और कुछ धन कमाया, उसमें से कचौड़ीवाले का हिसाब चुका दिया, कुल १४ रुपये हुए थे। आग्रा जैसे शहर में दो समय पुडी कचौड़ी का सात माह का खर्च मात्र १४ रुपये हुआ -ऐसे उस समय सस्ते भाव थे। इस प्रसंग में कचौड़ीवाले भाईने अपने एक साधर्मी के प्रति संकट के समय जैसी उदारभावना से वात्सल्य दिखाया। वह इस जमाने में अत्यंत अनुकरणीय है। आज के जैनसमाझ को ऐसे वात्सल्यवंत भाईयों की जरुरत बहुत है। `बनारसीदासजी' को व्यापार में दो वर्ष में दोसौ रुपयों की कमाई हुई, और उतना ही खर्च हुआ। व्यापार के बहुत प्रयत्न किये मगर सफलता हांसिल न हुई; `अलीगढ' की यात्रा पर गये, वहाँ प्रबल तृष्णावश प्रभु के पास लक्ष्मी के लिये प्रार्थना की।

इस दौरान उनकी पत्नी को तीसरा पुत्र हुआ, परन्तु मात्र १५ दिन जिंदा रहकर वह मर गया तथा अपनी माता को भी ले गया। अपनी साली के साथ फिर से शादी की; सं.१६७३ में उनके पिता का स्वर्गवास हुआ। उसके बाद वे आग्रा गये। आग्रा में प्लेग के रोग का भयंकर प्रकोप हुआ। लोग भयभीत होकर जंगल में रहने के लिये चले गये। सं.१६८० में (३७ साल की उम्र में) तीसरी बार शादी की।

`आग्रा' में `अर्थमल्लजी' नाम के अध्यात्मरसिक सज्जन थे। वे `बनारसीदासजी' की काव्यशक्ति देखर आनंदित होते थे, परन्तु उसमें अध्यात्मिक रस का अभाव देखकर दुःख भी होता था। उन्होंने एक बार मौका पाकर पंडित राजमल्लजी रचित `समयसार' - `कलशटिका' देकर उसका स्वाध्याय करने के लिये बोला; परन्तु गुरुगम बिना उनको अध्यात्ममार्ग की सूझ नहीं आई। उनको तथा उनके मित्रों को आत्मस्वाद तो आया नहीं और क्रियाओं का रस मिटगया, एकबार तो नग्न होकर कमरे में घुमने लगे, और कहने लगे कि हम मुनि हो गये...

ऐसे में `पंडित रुपचंदजी' `आग्रा' में आये और एकान्तग्रसित `बनारसीदासजी' को `गोम्मटसार' के अभ्यास द्वारा गुणस्थान अनुसार ज्ञान-क्रियाओं का विधान समझाया; इसे समझते ही उनकी आँखे खुल गई -

तब बनारसी औरहि भयो,
स्याद्वादपरणति परणियो;
सुनि सुनि रुपचंद के वैन,
बनारसी भयो दिढ जैन।
हिरदे में कुछ कालिमा, हुति सरदहन बीच,
सोउ मिटि, समता भई, रही न ऊँच न नीच।

`कुन्दकुन्दचार्यदेव' रचित `समयसार' की जो टीका `अमृतचंद्राचार्यदेव'ने की है और जिस टीका के अध्यात्मरस झरते हुए कलशों के ऊपर `पंडित श्री राजमल्लजी'ने (बनारसीदासजी से पहले करीब सौ साल पूर्व) अध्यात्म की खुमारी से भरपूर कलशटीका की रचना की है, वह `पंडित बनारसीदासजी' को अत्यंत प्रिय थी; उस कलशटीका के सम्बन्ध में वे लिखते हैं कि -

पांडे राजमल्ल जिनधर्मी, समयसार नाटक के मर्मी,
तिन्हें ग्रंथ की टीका कीनी बालबोध सुगम कर दीनी।

इस कलशटीका पर से हमारे कविराज ने छंदबद्ध पद्यरुप `नाटकसमयसार' की रचना की; सं.१६९३ की अश्विन शुक्ला १३ को रविवार के दिन वह पूर्ण हुऊ। उस समय आग्रा में बादशाह शाहजहाँ का राज्य था। पंडितजीने पचपन वर्ष तक का अपना कथानक (जो अर्धकथानक कहलाता है वह) लिखा है। तत्पश्चात लोगों में प्रचलित बातों के अनुसार कुछेक प्रसंगो का उल्लेख `समयसार नाटक' की पीठीका में है। `पंडित श्री बनारसीदासजी' की मुख्य रचना `समयसार नाटक', इसके अलावा `बनारसीविलास' जिनेन्द्र देव के १००८ नामों की नाममाला (सहस्त्रउद्बोत्तरी) `अर्धकथानक' (आत्मकथा) और `परमार्थवचनिका' तथा उपादान-निमित्त की चिट्ठी उन्होंने लिखी है। `पंडित श्री बनारसीदासजी'

का जीवन पहले कैसा था और बाद में अध्यात्मरस द्वारा कितना उज्जवल बन गया यह हमें उनके जीवनचरित्र में दिखता है, तथा अध्यात्मरसमय उज्जवल जीवन की प्रेरणा देता है। जैनशास्त्र में भगवान तीर्थंकरदेव से लेकर एक छोटे से छोटे सम्यग्दृष्टि का जीवन भी उज्जवल, प्रशंसनीय और आराधना की प्रेरणा देनेवाला है; वह धर्मजीवन धन्य है।

इस पुस्तक में 'श्रीमान पंडित टोडरमल्लजी' की रहस्यपूर्ण चिठ्ठी तथा 'श्रीमान पंडित बनारसीदासजी' की परमार्थवचनिका तथा उपादान-निमित्त की चिठ्ठी - इन तीनों पर पूज्य गुरुदेव के स्वानुभव प्रेरक प्रवचन प्रसिद्ध हुए हैं। इस पुस्तक के प्रकाशन में माननीय मुरब्बी श्री खीमचंदभाई जे. शेठ ने प्रेमपूर्वक प्रत्येक बात की सलाह-सूचनाएँ एवं प्रोत्साहन दिये हैं; इसके लिये उनका हार्दिक आभार मान रहा हूँ। इसके अलावा इन प्रवचनों को तैयार करने में ब्र.भाईश्री चंदुलालभाई तथा ब्र.भाई श्री गुलाबचंदभाई - इन दोनों सहयोगी बंधुओं के कुछ लेख उपयोगी हुए हैं, इसके लिये उन दोनों का भी हार्दिक आभार व्यक्त कर रहा हूँ। इन प्रवचनों के द्वारा गुरुदेव का दिया हुआ अध्यात्मसंदेश भव्यजीवों को सम्यक्त्व की तथा स्वानुभव की प्रेरणा सदैव देते रहो... स्वानुभव द्वारा सारे भव्य जीव सुख सुधासमुद्र में मग्न हो जाओ.. यही भावना।

ब्र.हरिलाल जैन

वात्सल्यपूर्णिमा
वीर सं.२४९१ (श्रा.शु.१५)
सोनगढ

अध्यात्म सन्देश

[१]

सम्यक्त्व और स्वानुभव की चर्चा

श्रीमान पंडित श्री टोडरमल्लजी - लिखित
रहस्यपूर्ण चिट्ठी पर
पूज्य श्री कानजीस्वामी के प्रवचन

सुवाक्य

अहा, अध्यात्मरस की ऐसी बात ! उसकी विचारधारा, उसका निर्णय व उसका अनुभव, यही करने योग्य है। निरंतर उसके लिये अभ्यास चाहिए। सत्समागम में श्रवण करके, मनन करके, एकान्त में स्थिरचित्त से उसका अभ्यास करना चाहिए। इस मनुष्यभव में वास्तव में करने लायक यह ही है, और अभी सही अवसर है। - सब अवसर आ चुका है।

ॐ

श्रीसद्‌गुरुदेवाय नमः

अध्यात्म संदेश

प्रकरण - १

मंगल उपोद्‌घात

चिदानंदघन के अनुभव द्वारा सहजानंद की वृद्धि चाहता हूँ।

`श्री'

सिद्ध श्री मुलताननगर महा शुभस्थान में साधर्मी भाई अनेक उपमा योग्य अध्यात्मरस रोचक भाई श्री खानचन्दजी, गंगाधरजी, श्रीपालजी, सिद्धारथदासजी, अन्य सर्व साधर्मी योग्य लिखी टोडरमल के श्री प्रमुख विनय शब्द अवधारण करना। यहाँ यथासम्भव आनन्द है, तुम्हारे चिदानन्दघन के अनुभव से सहजानन्द की वृद्धि चाहिये।

पंडित श्री टोडरमल्लजी ने आज से करीब २०० वर्ष पूर्व (सं.१८११ फागुन मास - गुजराती में माघ महीने की कृष्ण पंचमी के दिन) साधर्मी भाईयों के ऊपर एक अद्यात्मरसपूर्ण पत्र लिखा था, उसमें सविकल्प-निर्विकल्पदशा एवं सम्यग्दर्शन तथा स्वानुभवमें प्रत्यक्ष-परोभपना इत्यादि से संबंधित अध्यात्मिक रससभर चर्चा की है। वह चिट्ठी बहुत ही सरस है, अतः प्रवचन में ली जा रही है। एक धर्मी गृहस्थ दूसरे साधर्मियों के ऊपर कैसा पत्र लिखते हैं और स्वानुभव संबंध में कैसी चर्चा करते हैं - यह बात इस पत्र परसे देखने को मिल रही है।

मांगलिक में `श्री' अर्थात् सिद्धस्वरूप जो आत्मलक्ष्मी है उसका सबसे पहले स्मरण करके प्रारंभ करते हैं। साधर्मियों के लिये `**अध्यात्मरसरोचक**' विशेषण का प्रयोग करके कितना सुंदर संबोधन किया है ! साधर्मी के प्रति कैसा विनय-सत्कार है ! पुनःश्च लिखते है कि हमें यथासंभव आनन्द है, और '**आपको चिदानंदघन के अनुभव द्वारा सहजानंदकी वृद्धि चाहता हूँ।**' वाह ! देखो, यह साधर्मी की एक दूसरों के प्रति भावना ! धर्मी को दूसरे साधर्मी के प्रति धर्म का प्रमोद आता है, इसलिये लिखते हैं कि आपको चिदानंद के अनुभव से सहजानंद की वृद्धि हो। स्वयं को अंतरमें चिदानंद का अनुभव जच रहा है इसलिये दूसरों के लिये भी उसकी ही भावना भाते है। पत्र की शुरुआत ही ऐसी है कि पढ़ते ही समझ में आ जाय कि यह कोई लौकिक पत्र नहीं है यह तो लोकोत्तर पत्र है। यह चिट्ठी पढ़ी तब (गुरुदेव को) ऐसा लगा था कि इसमें तो हीरे भरे हैं। उस समय तो ऐशी छपी हुई चिट्ठी भी बड़ी मुश्किल से मिल पाती थी, आजकल तो हजारों प्रत (नकल/कॉपी) प्रकाशित हो चुकी है।

सं.१८११ में इस चिट्ठी को लिखनेवाले पंडित टोडरमल्लजी गृहस्थ थे, फिर भी स्वानुभव इत्यादि की चर्चा उन्होंने कितने प्रेम से की है। उनका शास्त्र-अभ्यास भी बहुत था। टीकासहित श्री समयसार, पंचास्तिकाय, प्रवचनसार, नियमसार, अष्टपाहुड, पुरुषार्षसिद्धउपाय एवं गोम्मटसार इद्यादि अनेक शास्त्रों का उनको गहन अब्यास था, और उसको दोहन करके उन्होंने `मोक्षमार्ग प्रकाशक' ग्रंथ की रचना की, उसमें तत्त्व संबंधित बहुत खुलासा एकदम स्पष्ट करके दिया है। `गोम्मटसार' जैसे महान ग्रंथ की संस्कृत टीका के हिन्दी अर्थ उन्होंने लिखे हैं। साधर्मी के ऊपर उनकी लिखी हुई इस चिट्ठी में अध्यात्म के गंभीर भाव भरे हैं, पहले के गृहस्थ भी अध्यात्मरस के कैसे रसिकजन थे यह बात इसे चिट्ठी की लिखाई में दिख रही है। कुटुम्ब एवं धंधा-व्यापार के बीच रहते हुए भी निवृत्ति लेकर अंतर में आत्मा के स्वानुभव इत्यादि की चर्चा-विचारणा करते थे। चिट्ठी में लिख रहे है कि `**चिदानंदघन के अनुभव द्वारा आपको सहजानंदकी वृद्धि चाहता हूँ।**' अर्थात् सहजानंद तो चैतन्य के अनुभव में ही

है; और उसकी ही चाहना है। उसके अलावा अन्य कोई भी चाहना हमें और आपको न हो। संसार के सुख की वृद्धि नहीं चाहते हैं, परन्तु चैतन्य के स्वानुभव से हो रहा सहज-अतीन्द्रिय सुख, उसकी ही वृद्धि की भावना है। स्वयं को जिसकी रुचि है उसीकी वृद्धि की भावना सामनेवाले में भी भाते हैं। यह चिट्ठी-लिखनेवाले पंडित टोडरमल्लजी लगभग २८ वर्ष की उम्र में तो स्वर्गवासी हुए हैं; २८ वर्ष तो छोटी उम्र मानी जाती है। इतनी छोटी उम्र में भी कितने सारे शास्त्रों का अभ्यास और स्वानुभव की चर्चा कितनी सुंदर की है ! 'श्रीमद् राजचंद्र' इत्यादिने भी देखो न, छोटी-छोटी उम्र में आत्मा का कैसा काम किया है ! अंदर से आत्मा का प्रेम जाग जाना चाहिए। जिसे अध्यात्म का कुछ रस हो और अपना आत्मकल्याण कर लेने की धगश (झंखना) हो ऐसे जीव को यह बात रुचि में जचे ऐसी है। हालाँकि ऐसे अध्यात्मरसिक जीव विरले ही होते हैं, परन्तु खुद इन विरलों की बिरादरी में मिल जाना ! अध्यात्म की ऐसी चर्चा सुनने को भी महाभाग्य से मिलता है।

प्रकरण - २

धन्य है उनको... जो स्वानुभव की चर्चा करते हैं
चैदन्य स्वभाव के श्रवण में मुमुक्षु का उल्लास

'अपरंच तुम्हारा एक पत्र भाईजी श्री रामसिंहजी भुवानीदासजी पर आया था। उसके समाचार जहानाबाद से मुझको अन्य साधर्मियोंने लिखे थे। सो भाईजी, ऐसे प्रश्न तुम सरीखे ही लिखें। इस वर्तमानकाल में अध्यात्मरस के रसिक बहुत थोड़े हैं। धन्य हैं जो स्वात्मानुभव की बात भी करते हैं।'

देखो, ऐसी अध्यात्मरस की चर्चा करनेवाले जीव उस समय भी विरल थे। स्वानुभव की तथा सम्यग्दर्शन की चर्चा करनेवाले जीव २०० वर्ष पूर्व भी विरले ही थे, और तीनों काल में अध्यात्म के रसिक जीव जगत में थोड़े ही होते हैं। अतः अध्यात्मचर्चा के प्रमोदपूर्वक पंडितजी लिख रहे है कि भाईश्री, ऐसे प्रश्न आप सरीखे ही लिख सकते हैं। अध्यात्मरस के रसिक जीव बहुत ही थोडे हैं। जो लोग स्वानुभव की ऐसी चर्चा कर रहे हैं उनको भी धन्यवाद है ! वाह ! देखो ! यह स्वानुभव के रसीक महिमा ! जिसे विकार का रस छुटकर के अध्यात्म के रस की रुचि हूई वे जीव भाग्यशाली है; 'सिद्धसमान सदा पद मेरो' ऐसी अंतरदृष्टि और उसके स्वानुभव की भावना करनेवाले जीव वास्तव में धन्य है। इस बात का आधार देते हुए पत्र में लिख रहे हैं कि-

तत्प्रति प्रीतिचितेन येन वार्तापि हि श्रुता।
निश्चंत स भवेद्भव्यो भाविनिर्वाणभाजनम्।।२३।।

अध्यात्मरस की प्रीति कहो या चैतन्यस्वभाव की प्रीति कहो उसकी महिमा एवं फल बताते हुए वनवासी दिगम्बर संत श्री 'पद्मनंदीस्वामी' 'पद्मनंदी पच्चीसी' में कहते हैं कि, इस चैतन्यस्वरूप आत्मा के प्रति प्रीति चित्तपूर्वक - उत्साह से उसकी वार्ता (कथा) भी जिसने सुनी है वह भव्य जीव निश्चितरूप से भाविनिर्वाण का भाजन बन जाता है, अर्थात् अल्पकाल में तो वह अवश्य मोक्ष प्राप्त कर लेता है, चैतन्य के साक्षात् स्वानुभव की तो बात ही क्या ! परन्तु अन्तरमें उसके प्रति प्रेम जागा अर्थात् रागादि का प्रेम टूटा वह जीव भी जरूर मुक्ति प्राप्त करेगा। शास्त्रकार ने एक खास शर्त रखी है कि 'चैतन्य प्रति के प्रेमपूर्वक' उसकी बात सुने; अर्थात् जिसके अन्तर में कहीं गहराई के किसी कोने में भी राग का प्रेम है, राग से लाभ होगा - ऐसी बुद्धि है उसे चैतन्य का सच्चा प्रेम नहीं है किन्तु राग का प्रेम है, उसको चैतन्यस्वभाव के प्रति गहराई से सच्चा उल्लास नहीं आयेगा। यहाँ तो सुलटे हुए जीव की बात है। राग का प्रेम तथा शरीर-कुटुम्ब का प्रेम तो अनादि से जीव करता ही चला आया है, किन्तु अब उस प्रेम को तोड़कर चैतन्य का प्रेम जिसने जगाया, वीतरागी

स्वभाव रस का रंग जिसने लगाया है वह जीव धन्य है... वह निकट मोक्षगामी है। चैतन्य की बात सुनते ही अंदर से रोम रोम उल्लसित हो जाय... असंख्यप्रदेश चमक उठे कि वाह ! मेरे आत्मा की यह कोई अपूर्व नयी बात मुझे सुनने को मिली है... कभी सुना नहीं था ऐसा चैतन्यतत्त्व आज मेरे सुनने में आया; पुण्य और पाप से अलग ही कोई बात यह है। - इस प्रकार अन्तर स्वभाव का उत्साह लाकर और बहिर्भावों का (पुण्य-पाप इत्यादि परभावों का) उत्साह छोड़कर एकबार जिसने स्वभाव का श्रवण किया उसका बेड़ा पार हो गया ! श्रवण तो निमित्त है परंतु उसके भाव में अंतराल पड़ गया, स्वभाव और परभाव के बीच जरा-सी दरार पड़ गई - (इस वज़ह से) वह अब दोनों का अलग अनुभव करके ही चैन लेगा। `मैं ज्ञायक चिदानंदघन हूँ, एक समयमें परिपूर्ण शक्ति से भरा ज्ञान और आनंद का सागर हूँ' ऐसी अध्यात्म की बात सुनानेवाले संत-गुरु भी महाभाग्य से मिलते हैं, और ऐसी बात सुनने को मिली तब प्रसन्नचित्त से अर्थात् उसके अलावा बाकी सबी की प्रतीति एकबार छोड़कर तथा उसकी ही प्रीति करके, `मुझे तो यही समझना है, इसका ही अनुभव करना है' ऐसी गहरी उत्कंठा जगाकर, उपयोग को तनिक उस तरफ रुकाकर, जिस जीवने सुना वह जीव जरूर उसकी प्रीति बढ़ाकर आगे चलकर स्वानुभव करेगा, और मुक्ति को प्राप्त होगा। इसलिये कहा कि धन्य है उनको कि जो अध्यात्मरस के रसिक होकर ऐसे स्वानुभव की चर्चा करते हैं।

प्रश्न :- जीव अनंतबार त्यागी हुआ और भगवान के समोसरण में गया, तो क्या उसने शुद्धात्मा की बात सुनी नहीं होगी ?

उत्तर :- देखो, यहाँ `प्रसन्न चित्तसे' सुनने को कहा है अर्थात् यों ही सुन ले उसकी बात नहीं है, परन्तु अंतर में चैतन्य का उल्लास लाकर सुने उसकी बात है। क्या सुने ? - कि चैतन्यस्वरूप आत्मा की वार्ता (कथा) सुने। किस प्रकार सुने ? कि उल्लासपूर्वक सुने; राग के उल्लासपूर्वक नहीं; परन्तु चैतन्य के उल्लासपूर्व सुने। पुण्य-पाप या बाहर की क्रियाएँ हैं वह चैतन्य का स्वरूप नहीं है, चैतन्यस्वरूप इन सबसे न्यारा है; परद्रव्य-परक्षेत्र-परकाल तथा परभाव

से रहित सदा अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल व भाव से परिपूर्ण आत्मस्वरूप है। - इसकी बात सुनते ही प्रमोद आ जाय, इसीको यहाँ श्रवण कहा है। ऐसे श्रवण द्वारा शुद्धात्मा लक्षगत किया, - यह अपूर्व है। बाकी भगवान की सभा में बैठा-बैठा भले शुद्धात्मा की बात सुन रहा हो; परन्तु अन्दर में यदि राग के पक्ष (राग के आश्रय से लाभबुद्धि) का सेवन कर रहा हो, व्यवहार के शुभराग की बात आये वहाँ अन्दर में ऐसा पक्ष हो जाता हो कि 'देखो... यह हमारी बात आई !' - तो आचार्यदेव कह रहे हैं कि उस जीवने शुद्धात्मा की बात प्रीतिपूर्वक सुनी नहीं है। जीव को शुद्धनय का पक्ष भी पूर्व में कभी आया नहीं है - ऐसा 'समयसार' में कहा है, शुद्धनय का पक्ष कहो या चैतन्य की प्रीति कहो, शुद्धात्मा का उल्लास कहो, यह सब एकार्थ ही है। द्रव्यलिंगी जैन साधु होकर भी जो मिथ्यादृष्टि रह गया उसका कारण यह है कि उसे अन्तरमें से चैतन्य का उल्लास नहीं आया परन्तु भीतर भीतर सूक्ष्मरूप से विकार का ही उल्लास रह गया है। राग करने से धर्म होगा - इस प्रकार सीधा-सीधा हो वह नहीं कहता है, परन्तु अन्तर में अभिप्राय की गहराई में उसे विकार का रस रह जाता है। शुद्ध चैतन्य का लक्ष करे तो ही उसका सच्चा पक्ष किया कहा जाता है। 'समयसार' की चौथी गाथा में कहते हैं कि -

सुदपरिचिदाणुभूदा सव्वस्स वि कामभोगबंधकहा।
एयत्तस्सुवलंभो णवरि ण सुलहो विहत्तस्स।।

काम-भोग एवं बंन्धन की कथा तो सभी जीवों ने पूर्व में अज्ञानी के रूपमें अनंतबार सुनी है, परिचय में ली है और उसका अनुभव भी किया है; परन्तु पर से विभक्त ज्ञानानंदस्वरूप एकाकार आत्मा की बात पूर्व में कभी सुनी नहीं है, परिचय में ली नहीं है और उसका अनुभव भी किया नहीं है। देखो, मात्र शब्द कान में पड़ना या नहीं पड़ना उसे यहाँ श्रवण के रूप में नहीं लिया है, परन्तु जिसे जिसकी रुचि-भावना-अनुभव है उसे उसका ही श्रवण है। भले शुद्धात्मा के शब्द कान में पड़ते हो, परन्तु यदि अन्तर में राग की मीठास-भावना और अनुभव विद्यमान है तो वह जीव शुद्धात्म की कथा का वास्तव

में श्रवण ही नहीं कर रहा है परन्तु रागकथाका ही श्रवण कर रहा है। शुद्धात्मा को लक्ष में ले तो ही शुद्धात्मा का श्रवण किया कहा जायेगा।

प्रश्न :- बहुत जीव ऐसे हैं कि अभी तक कभी त्रसपर्याय ही पाई नहीं है, अतः उन्हें कान ही मिले नहीं है, फिर भी उन जीवों ने भी कामभोग बंन्धन की कथा अनंतबार सुनी - ऐसा कैसे कहा जा सकता है ?

उत्तर :- उसमें भी उपरोक्त न्याय ही लागू हो रहा है। जिस प्रकार शुद्धात्मा की जिसे रूचि नहीं है उसे शुद्धात्मा के शब्द कान में पड़े होने के बावजूद भी उसे शुद्धात्मा का श्रवण नहीं कहते हैं परन्तु बंधकथा का श्रवण ही कहते हैं - क्यों कि उस समय भी उसके भावश्रुत में तो बंधभाव का ही पोषण हो रहा है; उसी प्रकार निगोद इत्यादि के जीवों को बंधकथा के शब्द भले ही कान में नहीं पड़ रहे हैं, परन्तु उसके भाव में तो क्षण-क्षण बंधभाव का सेवन चल ही रहा है, अतः वे जीव बंधकथा ही सुन रहे हैं - ऐसा कहा जाता है। अर्थात् जिस उपादान के भाव में जिसका पोषण है उसका ही वह श्रवण कर रहा है, ऐसा कहा जाता है। भाई ! तेरे भाव की रूचि यदि नहीं पलट रही है तो खाली शब्द तेरा क्या कर लेगे ? यहाँ तो कहते हैं कि अहो ! एकबार भी अंतर्लक्ष करके चैतन्य के उल्लासपूर्वक उसकी बात जिसने सुनि उसके भवबंधन टूटने लगे; उसने ही सच्चा सुना, कहा जायेगा। इस अपेक्षा से कहते हैं कि धन्य है उनको कि जो स्वानुभव की चर्चा कर रहे हैं। द्रव्यलिंगी मुनि होकर नौ पूर्व पढ़ ले, ग्यार अंग जाने, परन्तु अन्तर में यदि पुण्य-पाप से पार चैतन्यस्वरूप को दृष्टि में नहीं लिया तो यहाँ कहते हैं कि शुद्धात्मा की बात उसने सुनी ही नहीं है; उसने चैतन्य का पक्ष नहीं किया है परन्तु वह राग के पक्ष में ही रूका है। उसे राग में उल्लास आया, परन्तु चैतन्य-स्वभाव में उल्लास नहीं आया... स्वभाव में उल्लास आये तो उस तरफ वीर्य झुककर उसका अनुभव करेगा ही। अहा, मैं तो चैतन्यस्वरूप... वीतरागी संतो की वाणी मेरे चैतन्यस्वरूप का ही प्रकाश कर रही है, इस प्रकार अन्तर में चैतन्य का भणकार (आसार/ झंकार) लाकर उत्साहपूर्वक-वीर्योल्लासपूर्वक जिसने

सुना वह अल्पकाल में स्वभाव के उल्लास के बल से मोत को प्राप्त कर लेगा। चैतन्य की ऐसी महिमा आना उसका नाम मांगलिक है !

ऊपर पद्मनंदीपच्चीसी की जो गाथा कही है वह एकत्वस्वरूप-अधिकार की गाथा है; उसमें कहा कि इस चैतन्य के एकत्वस्वरूप के प्रति प्रसन्नता और उल्लास लाकर, तथा जगत का उल्लास छोड़कर परभाव का प्रेम छोड़कर उसका जिसने श्रवण किया - `पढ़ लिया' ऐसा नहीं; किन्तु `श्रवण किया' अर्थात् श्रवण करवानेवाले ज्ञानी संत के पाससे विनयपूर्वक सुना वह जीव जरूर स्वानुभव प्रकट करके मुक्ति प्राप्त करता है। अहा ! देखो यह आथ्मस्वरूप महिमा ! पंडित टोडरमल्लजी ने २०० वर्ष पहले साधर्मी के ऊपर लिखे हुए पत्र में इस गाथा का संदर्भ दिया है। उस समय के गृहस्थ भी कितने अध्यात्मप्रेमी थे - यह बात इस पत्र से ख्याल में आ रही है। `समयसार' की पाँचवीं गाथा में आचार्यदेव कह रहे हैं कि आत्मा का एकत्व-विभक्त स्वरूप कि जिसे जीवोंने पूर्व में कभी सुना नहीं है, अनुभव किया नहीं है, उस एकत्व-विभक्त को में अपने आत्मा के समस्त वैभव द्वारा इस `समयसार' में दिखा रहा हूँ, हे श्रोताजन ! तुम अपने स्वानुभव द्वारा उसे प्रमाण करना... मात्र शब्दों द्वारा नहीं परन्तु स्वानुभव द्वारा प्रमाण करना... हम जैसा भाव कह रहे हैं वैसा भाव अपने आत्मा में प्रगट करना। शब्दो की ओर देखकर रूक मत जाना; किन्तु `वाच्य' की और झूककर शुद्धात्मा का स्वानुभव करना। यहाँ पर भी पत्र की शुरूआत में ही स्वानुभव का स्मरण किया है कि `स्वानुभव द्वारा सहजानंदकी वृद्धि चाहता हूँ।'

भगवान आत्मा चैतन्यवस्तु है, उसके मूल स्वरूप में तो राग का भी प्रवेश नहीं है। अहा ! मात्र चैतन्यवस्तु पर से तो निरपेक्ष ही है मगर परभावों से (पर के लक्ष से हो रहे अपने विभावभावोंसे) भी निरपेक्ष, - उसके प्रति अंतर में उल्लास लाकर ज्ञानी के श्रीमुख से उसकी बात जिसने सुनी उसका परिणमन चक्र मोक्ष की तरफ घूम गया, अल्पकाल में सम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्र तथा केवलज्ञान प्रकट करके वह मोक्ष प्राप्त करेगा। चैतन्य की कोई अचिंत्य अपार महिमा

है, उस महिमा को जिसने लक्षगत की उसने अपने आत्मा में मोक्ष के बीजों की रोपाई कर दी। इस प्रकार पत्र के उपोद्घात में चैतन्य स्वभाव की एवं उसके स्वानुभव की महिमा करके फिर सामनेवाले साधर्मी के पत्र का उत्तर देते हुए लिख रहे हैं कि -

`भाईश्री, आपने जो प्रश्न लिखे हैं उनके उत्तर मेरी बुद्धि अनुसार यत्किंचित् लिख रहा हूँ ऐसा समझियेगा; तथा अध्यात्म-आगम के चर्चागर्भित पत्र तो शीघ्र-शीघ्र देते रहियेगा। प्रत्यक्ष मिलन तो कभी होना होगा तब हो जायेगा और निरंतर स्वरूपानुभव में रहियेगा। श्रीरस्तु।'

यहाँ तक पत्र की भूमिका है और बाद में स्वानुभव इत्यादि से संबंधित चर्चा लिखी है।

देखो ! इसमें प्रथम तो अपनी निर्मानता बताई है; कहाँ शास्त्रों की अगाधता और कहाँ मेरी अल्पबुद्धि ! इसलिये लिखा है कि तेरी बुद्धि अनुसार मैं यत्किंचित् लिख रहा हूँ। गणधर भगवंतो का तथा मुनिवरों का तो अगाध अपार सामर्थ्य है, स्वानुभव का विषय उनके ज्ञान में तो स्पष्ट झलकता है। कहाँ उनकी अगाध बुद्धि और कहाँ मेरे ज्ञान की अल्पता ! फिर भी स्वानुभव की चर्चा के प्रेमवश कह रहे हैं कि मैं अपनी बुद्धि अनुसार आपके प्रश्नों का यत्किंचित् उत्तर लिख रहा हूँ।

पुनःश्च साधर्मी के साथ ऐसी आध्यात्मिक तत्त्वचर्चा का प्रेम कितना ज्यादा है ! इसलिये लिख रहे हैं कि भाईश्री ! अध्यात्म ऐसी चर्चा से भरे हुए पत्र बारंबार लिखते रहियेगा। और साथ में ऐसा साधर्मियों से प्रत्यक्ष मिलन

की भावना भी भाई है। लेकिन ऐसा संयोग बन पाना यह तो उदयाधीन है, इसलिये लिख रहे हैं कि '**मिलाप तो होना होगा तब होगा।**' उस जमाने में कोई आज की तरह रेलवे या बलून (विमान) नहीं थे कि एक-दो दिन में जहाँ जाना हो वहाँ पहुँचा जा सके। उस समय तो सफर करना बहुत मुश्किल था। और एक गाँव से दूसरे गाँव जाने में बहुत दिन लग जाते थे। उस समय आज के माफिक डाकव्यवस्था नहीं थी, परन्तु 'खेपिया' द्वारा पत्र भेजते थे, जो बहुत दिनों बाद मिल पाते थे। बाह्य मिलाप होना यह अपने हाथ की बात नहीं है परन्तु अन्दर में स्वरूप के अनुभव की भावना करना, यह स्वाधीन है, अतः उसकी भावना से लिख रहे हैं कि निरंतर स्वानुभव में रहियेगा। स्वानुभव में रहने का स्वयं को पसंद आया है इसलिये अन्य साधर्मी को भी उसीके लिये सिफारीश करते हुए लिख रहे हैं। स्वयं के भव में जिसकी रूचि हो गई है उसकी दूसरों के लिये अनुमोदना कर रहे हैं। देखो, साधर्मी; के साध पत्र द्वारा भी कैसी भावना भा रहे हैं !

सुवाक्य

स्वानुभव है वह मूलवस्तु है। वस्तुस्वरूप का यथार्थ निर्णय करके मति-श्रुतज्ञान को अन्तर में झुकाकर स्वद्रव्य में परिणाम को एकाग्र करने से सम्यग्दर्शन व स्वानुभव होता है। ऐसा अनुभव करे तभी मोह की गांठ टूटती है, और तभी जीव भगवान के मार्ग में आता है।

प्रकरण - ३

साधक को निश्चय-सम्यक्त्व सदैव रहता है।

`अब स्वानुभवदशा विषयक प्रत्यक्ष-परोक्षादि प्रश्नों के उत्र बुद्धि अनुसार लिख रहा हूँ। उसमें प्रथम ही स्वानुभव का स्वरूप जानने हेतु लिख रहा हूँ। जीवपदार्थ अनादि से मिथ्यादृष्टि है; स्व-परके यथार्थरूप से विपरीत श्रद्धान का नाम मिथ्यात्व है। पुनःश्च जिस काल में किसी जीव को दर्शनमोह के उपशम-क्षयोपशम से स्व-पर के यथार्थ श्रद्धानरूप तत्त्वार्थश्रद्धान होवे तब वह जीव सम्यक्त्वी बनता है। अतः स्व-पर के यथार्थ श्रद्धान में शुद्धात्मश्रद्धारूप निश्चय सम्यक्त्व गर्भित है।'

देखो, पहले तो सम्यक्त्व का स्वरूप बताते है, बाद में सम्यग्ज्ञान की एवं स्वानुभव इत्यादि की चर्चा करेंगे। यह तो लोकोत्तर चिट्ठी है, इसलिये इसमें कोई व्यापारधंधेकी या घर-परिवार की बात नहीं आती है, इसमें तो स्वानुभव इत्यादि की लोकोत्तर चर्चा भरी हुई है। इसके भाव जो समझ पाये, उसे उसकी कींमत समझ में आयेगी। जिस प्रकार कोई एक शाहुकार व्यापारी दूसरे शाहुकार पर खुले पोस्टकार्ड में चिट्ठी लिखे कि `बज़ारभाव से जरा ऊँचे भाव देकर भी एक लाख गठरी रूईकी खरीद कर लो।' देखो, इस डेढ़ पंक्ति की लिखाई में तो कितनी बात समा जाती है ! परस्पर दोनों व्यापारियों का एक-दूसरे के ऊपर विश्वास, हिंमत, शाहुकारी (सज्जनता), व्यापार से संबंधित ज्ञान - ये सारी चीजें डेढ पंक्ति में भरी हुई है। इसके जानकार को ही इसका पता लग सकता है, अनाड़ी को क्या समझ में आयेगा ? उस प्रकार सर्वज्ञ भगवानने शास्त्ररूपी चिट्ठी में संतो के ऊपर धन्म का संदेश लिखा है, उसमें स्वानुभव के तता स्व-पर की भिन्नता इत्यादि के अनेक गंभीर रहस्य भरे हैं। उस परसे

उनकी सर्वज्ञता, वीतरागता एवं झेलनेवाले (ग्रहण करनेवाले) की ताकत - यह सब ख्याल में आ जाता है। भगवान के शास्त्र में भरे गूढ भावों को ज्ञानी ही जानते हैं। अज्ञानी को उसके रहस्य का पता नहीं लग सकता, तथा रहस्य जाने बिना उसकी सच्ची महिमा आ नहीं सकती।

यहाँ साधर्मी के ऊपर चिट्ठी लिखने में स्वानुभव की चर्चा में पहले ही सम्यग्दर्शन की बात की है। सम्यग्दर्शन के बिना स्वानुभव हो नहीं सकता है। स्वानुभवपूर्वक ही सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति होती है। स्वानुभव यह एक दशा है, यह दशा जीव को अनादिसे नहीं होती है, परन्तु नयी प्रगट होती है। इस स्वानुभवदशा की भारी महीमा का शास्त्रों में वर्णन किया गया है; स्वानुभव है वह मोक्षमार्ग है। स्वानुभव में जो आनन्द है ऐसा आनन्द जगत में अन्यत्र कहीं नहीं है। ऐसी स्वानुभवदशा का स्वरूप यहाँ कहेंगे।

इस जगत में अनन्त जीव हैं; प्रत्येक जीव चैतन्यमय है, परिपूर्म ज्ञान व परिपूर्ण सुख प्रत्येक जीव के स्वभाव में भरा हुआ है। किन्तु अपने ऐसे स्वरूप को खुद देखता नहीं है - अनुभव करता नहीं है इसलिये अनादि से वह मिथ्यादृष्टि है। अनादि से अपने वास्तविक स्वरूप को भूलकर परभावों में ही तन्य हो रहा है, जैसी स्व-पर की भिन्नता है वैसी उसे यथार्थरूप से जानता नहीं है और विपरीत मान्यता रखता है, इसलिये परसे मेरे में कुछ होता है तथा में पर में कुछ कर दूँ - ऐसी भीतर गहराऊ में स्व-परकी एकत्वबुद्धि उसे बनी रहती है, ऐसी विपरीत श्रद्धा का नाम मिथ्यात्व है। देखो, यह विपरीत मान्यता जीव स्वयं ही अपने स्वरूप को भूलकर कर रहा है, एक-एक समय करते-करते अनादिकाल से स्वयं ही अपने अज्ञान के कारण मिथ्याभावरूप परिणमित हो रहा है, किसी अन्य ने उसे मिथ्यात्व करा दिया है, ऐसा नहीं है। मिथ्यात्वकर्म ने जीव में मिथ्यात्व करा दिया, ऐशा जो मानता है उसे स्वपरकी एकत्वबुद्धि है। पूजन की जयमाला में भी आता है कि `कर्म बिचारे कौन, भूल मेरी अधिकाई' प्रभो ! मैं अपनी भूलकी अधिकता से ही दुःख भोग रहा हूँ। निगोद का जो जीव अनादि से निगोद में रहा है वह भी अपने भावकलंक की अत्यंत प्रचुरता

के कारण ही निगोद में रहा है : `भावकलंक सु... निगोयवासं ण मुंजई' - `गोम्मटसार' - जीवकांड : भाई, तेरी भूल तू जडके सिर पर डाल देगा तो उस भूल से छुटकारा किस दिन हो पायेगा ? जीव तथा चड़ ये दोनों द्रव्य ही जहाँ अत्यंत भिन्न, दोनों की जाति ही भिन्न, दोनों का परिणमन भिन्न, वहाँ एकदूसरे में क्या करेंगे ? किन्तु ऐसी वस्तुस्थिति को नहीं जाननेवाले जीव को स्व-परकी एकत्वबुद्धि का अथवा कर्ताकर्म की बुद्धि का भ्रम अनादि से चला आया है, वही मिथ्यात्व है और वही संसारदुःख का मूल है। यहाँ तो अब वह भ्रमरूप मिथ्यात्व किस तरह टल सकता है उसकी बात है।

कोई मुमुक्षु जीव जब अंतर के पुरुषार्थ से स्व-परके यथार्थ श्रद्धानरूप तत्त्वार्थश्रद्धान सरता है तब वह जीव सम्यक्त्वी होता है। स्व क्या, पर क्या, स्व में आत्मा का शुद्ध स्वभाव क्या और रागादि परभाव क्या - इन सबको भेदज्ञान द्वारा एकदम ठीक प्रकार से पहचान करके प्रतीति करने पर सम्यक्त्व होता है। `**स्व-परके ऐसे यथार्थ श्रद्धान में, शुद्धात्मश्रद्धानरूप निश्चय सम्यक्त्व गर्भित है।**' देखो, यह मूल बात ! स्व-पर की श्रद्धा में या देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धारूप व्यवहार सम्यक्त्व के समय निश्चय सम्यक्त्व तो साथ ही साथ है ही। कोई कहता है कि निश्चय सम्यक्त्व चौथे गुणस्थानमें नहीं होता है। तो कहते हैं कि भाई, यदि निश्चयसमकित साथ ही साथ न हो, तो तेरे माने हुए अकेले व्यवहार को शास्त्रकार सम्यक्त्व कहते ही नहीं है। जिसे शुद्धात्मश्रद्धानरूप निश्चय समकित नहीं है वह जीव तो सम्यक्त्वी ही नहीं है, वह तो मिथ्यात्वी ही है। शुद्धात्मा के श्रद्धानरूप निश्चय सम्यक्त्व होता है तब ही जीव को चौथा गुणस्थान प्रकट होता है और तभी उसको समकिती कहा जाता है। इसलिये कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि जीव को स्व-पर के यथार्थ श्रद्धान में शुद्धात्मश्रद्धानरूप निश्चय सम्यक्त्व गर्भित है। `गर्भित है' इसका मतलब है उसकेसाथ ही वर्तता (रहता) है। और ऐसे जीव को निमित्तरूप में दर्शनमोह कर्म का उपशम, क्षयोपशम या क्षय स्वयमेव होता है। अतः कथन में निमित्त से ऐसा भी कहा जाता है, कि दर्शनमोह के उपशमादि से सम्यक्त्व हुआ। परन्तु वास्तव में तो स्व-

पर के यथार्थ श्रद्धान का प्रयत्न जीवने किया तब सम्यक्त्व हुआ; जीव यथार्थ श्रद्धान का उद्यम न करे और कर्म में उपशमादि हो जाय ऐसा बनता नहीं है। इसके अलावा यहाँ तो यह बताना है कि स्व-परकी श्रद्धा में शुद्धात्मा की श्रद्धा आ ही जाती है। शुद्धात्मा की श्रद्धा यह निश्चय सम्यक्त्व है, वह हो तो ही स्व-परकी या देव-गुरु-धर्म की श्रद्धा को सच्ची श्रद्धा कहा जाता है। निश्चय बिना के मात्र शुभरागरूप व्यवहारसे जीव समकिती नहीं कहा जाता है। निश्चय सम्यक्त्व हो उसे ही समकिती कहते हैं। यही बात अब कह रहे हैं।

सुवाक्य

भाई ! यह तो सर्वज्ञ का निर्ग्रंथ मार्ग है। यदि तूने स्वानुभव द्वारा मिथ्यात्व की गांठ नहीं तोड़ी तो तू निर्ग्रंथमार्ग में कैसे आया ? जन्म-मरण की गांठ को यदि नहीं तोड़ा तो निर्ग्रंथमार्ग में जन्म लेकर तूने क्या किया ? भाई, ऐसा अवसर मिला तो ऐसा उद्यम कर कि जिसके कारण यह जन्म-मरण की गाँठ टूट जाय एवं अल्पकाल में मुक्ति हो जाय।

प्रकरण - ४

निश्चय सम्यक्त्व से ही मोक्षमार्ग की शुरुआत है।
निश्चय सम्यक्त्व के बिना जीव सम्यग्दृष्टि कहा जाता नहीं है।

`पुनश्च जिसे स्व-परका यथार्थ श्रद्धान नहीं है, परंतु जैनमत में कहे हुए देव-गुरु और धर्म इन तीनों को मानता है तथा अन्यमत में कहे हुए देवादि या तत्त्वादि को न माने, तो इस प्रकार के सिर्फ व्यवहार सम्यक्त्व द्वारा वह सम्यक्त्वी नाम को प्राप्त नहीं करता है। अतः स्व-पर भेदविज्ञानपूर्वक जो तत्त्वार्थश्रद्धान होता है उसे सम्यक्त्व जानना।' (पृष्ठ-३४३)

वाह देखो, निश्चय-व्यवहार की कैसी स्पष्ट बात है ! यथार्थ श्रद्धान से निश्चय सम्यक्त्व होवे तभी जीव सम्यक्त्वी बनता है। निश्चय सम्यक्त्व ही मोक्षमार्गरूप है, व्यवहार सम्यक्त्व तो शुभ-आस्रवरूप है, वह कोई मोक्षमार्गस्वरूप नहीं है। सिद्धांत में `सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' ऐशा कहा है उसमें निश्चय सम्यग्दर्शन की बात है। `तत्त्वार्थ श्रद्धान सम्यग्दर्शनम्' - यह निश्चय सम्यग्दर्शन है। भूतार्थ के आश्रित सम्यग्दर्शन कहा (समयसार गाथा-११) उसमें तथा इस सम्यग्दर्शनमें कोई फर्क नहीं है। ऐसा सम्यग्दर्शन चौथे गुणस्थान में प्रगट होता है तो तबसे लेकर सिद्धदशा तक भी रहता है। शुभरागरूप व्यवहारसम्यग्दर्शन कोई सिद्धदशामें टिकता नहीं है। इस प्रकार निश्चय सम्यग्दर्शन ही मोक्षमार्गरूप है। चौथे गुणस्थान से लेकर ही सभी जीवों को ऐसा निश्चय सम्यक्त्व होता है। ऐसे निश्चय सम्यक्त्व के बिना धर्म की या मोक्षमार्ग की शुरुआत भी नहीं हो सकती।

आत्मवस्तु का जैसा स्वभाव है उसी प्रकार श्रद्धान में लेना यह सम्यक्त्व

है, और वह वस्तु का 'भाव' है अर्थात् निश्चय है। ऐसे निश्चयसम्यक्त्व की भूमिका में धर्मी को वीतरागी देव-शास्त्र-गुरु की पहिचान, भक्ति उनके प्रति उत्साह, प्रमोद, बहुमान तथा आते हैं। परन्तु इस वजह से कोई जीव इस प्रकार के सिर्फ व्यवहार में ही संतुष्ट हो जाय तथा निश्चयसम्यक्त्व को भूल जाय तो उसे सम्यग्दृष्टि नहीं कहते हैं। यदि व्यवहार के साथ ही साथ निश्चयसम्यक्त्व (शुद्धात्मा की निर्विकल्प प्रतीत) हो - ('दोनों साथ में रहे हो') तो ही उसका व्यवहार सच्चा है, अन्यथा वह तो व्यवहाराभास है। निश्चयश्रद्धा तो है नहीं और सिर्फ व्यवहार के शुभराग में संतुष्ट हो जाता है इसलिये वह राग को ही मोक्षमार्ग माने बिना रहेगा नहीं, अतः उसकी श्रद्धा मिथ्या ही है। इस प्रकार व्यवहार के आश्रय से मोक्षमार्ग है ही नहीं। निश्चयसम्यक्त्वादि के आश्रय से ही मोक्षमार्ग है। अथवा तो निश्चयसम्यक्त्वादि है वही मोक्षमार्ग है। व्यवहार-सम्यक्त्वादि शुभरागरूप है वह मोक्षमार्ग नहीं है।

अरे भाई, मोक्षमार्ग तो वस्तु के स्वभाव की जातिका होगा या उससे विरुद्ध होगा ? निश्चय-सम्यक्त्व का जो भाव है वह तो वस्तुस्वभाव की जाति का ही है और सिद्धदशा में भी वह भाव रहता है। व्यवहार-सम्यक्त्व का जो भाव (राग) है वह वस्तुस्वभाव की जाति का नहीं है किन्तु विरुद्ध भाव है, सिद्धदशा में वह भाव रहता नहीं है। ऐसी स्पष्ट एवं सीधी बात, जिज्ञासु होकर समझे तो तुरंत समझ में आ जाय ऐसी है। किन्तु जिसे समझना नहीं है और वादविवाद करना है वह तो ऐसी स्पष्ट बात में भी कुछ न कुछ कुतर्क करेगा। क्या हो सकता है ? किसी दूसरी को जबरदस्ती समझा सके ऐसा तो है नहीं।

'तत्त्वार्थश्रद्धान' को सम्यक्त्व कहा है 'तत्त्व' अर्थात् जिस वस्तु का जैसा 'भान' हो वैसा उसे जानना चाहिए, तो ही उस वस्तु को सही रूपसे मानी है ऐसा कहा जायेगा। जीवमें ज्ञानादि अनंत स्वभाव है वह जीवका 'भाव' है; इस अनंत शक्तिरूप भाव को भूलकर एक क्षणिक विकार भाव के बराबर ही जीव की कींमत आंके, तो उसने वास्तव में जीवके 'भाव' को जाना नहीं है। राग से लाभ माननेवाला वास्तव में तो उस राग के जितनी ही जीव

की कींमत मान रहा है; 'इस राग द्वारा मुझे जीव का स्वभाव मिल जायेगा' इसका अर्थ यह हुआ कि जीवके स्वभाव की कींमत उसने राग जितनी ही मानी। वह अपने शुद्ध स्वभाव को अपने सम्यक् भावको, अपने स्वभावकी सही कींमत को जानता नहीं है, अतः बाहर के पदार्थोंको या विकारी भाव को अधिक तू देता है और स्वयं को कींमत बगैर का विकारी समझने की कल्पना कर लेता है, अतः उसकी श्रद्धा 'सम्यक्' नहीं है परन्तु मिथ्या है; - भले ही वह शुद्ध जैन के देव-गुरु-शास्त्र को शुभराग से मानता हो तता कुदेवादिको मानता न हो - फिर भी इतना करने से उसका मिथ्यात्व छूट नहीं जाता। भाई, तेरी कींमत अचिंत्य है, जगत में महंगे से महंगा चैतन्यरत्न तू ही है, स्वयं की वस्तु में प्रवेश करके खुद को सच्चे भाव को - सच्चे स्वरूप को तू जान तो ही तुझे सम्यक्त्व होगा तथा तेरा मिथ्यात्व टलेगा। स्व-परका भेदज्ञान तब ही सच्चा कहलाता है कि जब शुद्धात्मा का श्रद्धान साथ में होता है; देव-गुरु की पहिचान तब ही सच्ची कही जाती है कि यदि शुद्धात्मा का श्रद्धान साथ में हो। नवतत्त्व की श्रद्धा तब ही सम्यक् कहलाती है कि जब भूतार्थस्वभाव के सन्मुख होकर शुद्धात्मा का श्रद्धान करे। खाली व्यवहार से वह सब करता रहे और यदि शुद्धात्मा के श्रद्धानरूप निश्चय सम्यक्त्व जो निश्चय-सम्यक्त्व है वही सच्चा सम्यक्त्व है और वही मोक्षमार्ग है - ऐसा जानना।

अंतरमें अपने शुद्ध स्वभाव का अवलंबन लेकर जो प्रतीति हुई, उस सम्यक् प्रतीति का भाव स्वभाव में से आया है, वह प्रतीति स्वभाव की जाति की है, सिद्ध भगवान की प्रतीति तथा छोटे से छोटा अर्थात् चतुर्थ गुणस्थानवाले समकिती की प्रतीति इन दोनों की प्रतीति में कोई फर्क गिनने में नही आया है; जैसा शुद्धात्मा सिद्धप्रभु की प्रतीति में है वैसा ही शुद्धात्मा समकिती की प्रतीति में हो बाहर के आश्रय से हुआ व्यवहारश्रद्धा का भाव कोई सभी जीवों को एकसमान होता नहीं है। परन्तु इससे ऐसा नहीं समझ लेना कि वह भाव चाहे जैसा (विपरीत भी) हो सकता है। नवतत्त्व को जो विपरीत मानता हो, देव-गुरु-शास्त्र को अन्यथा मानता हो, सर्वज्ञता आदि को न मानता हो, ऐसे

जीव को तो व्यवहारश्रद्धा भी विपरीत है। जिसे नवतत्त्व की, देव-गुरु-शास्त्र की या स्व-परके भिन्नत्व की पहचान नहीं है उसे तो शुद्धात्मा का श्रद्धान बहुत दूर है। यहाँ तो इन सब के अलावा आगे की बात बतानी है कि ये सब करने के बावजूद भी यदि शुद्धात्मा की निर्विकल्प प्रतीति करे तो ही सम्यग्दृष्टि होगा, इसके बिना सम्यग्दृष्टि नहीं कहलायेगा।

`शुद्धात्मा के श्रद्धानरूप ऐसा निश्चय सम्यग्दर्शन तो सातवें गुणस्थान में होता है, छठ्ठे-पांचवे-चौथे में निश्चय सम्यग्दर्शन नहीं होता है' - ऐसा कोई कहे तो इसका अर्थ यह हुआ कि वहाँ मोक्षमार्ग ही नहीं होता है, अरे, भाई ! यह तो मार्ग की बहुत विपरीतता है। चौथे-पाँचवे-छठ्ठे में निश्चय के बिना सिर्फ व्यवहार से ही यदि तू मोक्षमार्ग मान लेता है तो उसे तो आचार्य भगवानने `व्यवहारमूढता' कहा है। निश्चय बिना के सिर्फ व्यवहार को मोक्षमार्ग में गिनते नहीं है। मोक्षमार्ग में जो सम्यग्दर्शन कहा है वह शुद्धात्मा के श्रद्धानरूप निश्चय सम्यक्त्व है, और ऐसा निश्चय-सम्यक्त्व चौथे गुणस्थान में भी नियमपूर्वक होता है, अतः वहाँ एकदेश-मोक्षमार्ग भी गिना जाता है।

सम्यक्त्व का ऐसा सच्चा स्वरूप न पहचाने और उसमें घोटाला करे उसने तो मोक्षमार्ग का सच्चा स्वरूप जाना नहीं है। मोक्षमार्ग का सच्चा स्वरूप समझे तक नहीं तो उसकी प्राप्ति तो कहाँ से करेगा ? अतः यहाँ पहले ही मोक्षमार्ग के निश्चय-सम्यक्त्व का स्वरूप कहा है। सम्यक्त्व की इतनी बात करने के बाद अब उसके साथ के सम्यग्ज्ञान की बात करते हैं।

प्रकरण - ५

सम्यग्दृष्टि का सारा ही ज्ञान सम्यक् है।
वह मोक्षमार्गरूप निजप्रयोजनकी साधना करता है।

'पुनःश्च ऐसे सम्यक्त्व के होते ही, जो ज्ञान (पूर्व में) पाँच इन्द्रिय तथा छठे मन द्वारा क्षयोपशमरूप मिथ्यात्वदशा में कुमति-कुश्रुतरूप हो रहा था वही ज्ञान अब मति-श्रुतरूप सम्यक्ज्ञान हुआ। सम्यक्दृष्टि जो कुछ जाने वह सारा जानना सम्यग्ज्ञानरूप है। वह (सम्यग्दृष्टि) यदि कदाचित् घटपटादि पदार्थों को अयथार्थ भी जाने तो वह आवरणजनित उदय का अज्ञानभाव है; तथा क्षयोपशमरूप प्रगट ज्ञान है वह तो सारा सम्यग्ज्ञान ही है, क्योंकि जानते समय पदार्थों के प्रति विपरीतरूप अभिगम को प्राप्त नहीं होता है।' (मो.मा.प्र.पृष्ठ - ३४३-३४४)

देखो, समकिती का सम्यग्ज्ञान। जहाँ शुद्धात्मश्रद्धानरूप निश्चयसम्यक्त्व हुआ वहाँ सारा ज्ञान भी स्व-पर की भिन्नता की यथार्थ साधना करता हुआ सम्यक्रूप परिणमित हुआ, अतः ज्ञानी का सारा ही ज्ञान सम्यग्ज्ञान हुआ। कदाचित् क्षयोपशम दोष से बाहर के अप्रयोजनभूत कोई पदार्थ (घट-पट, रस्सी इत्यादि) अयथार्थ जानने में आ जाय तो भी इसकी वजह से मोक्षमार्गरूप प्रयोजन को साधने में कोई विपरीतता होती नहीं है; क्योंकि अंदर की प्रयोजनरूप वस्तु कों जानने में कुछ विपरीतता उसे होती नहीं है; अंदर के राग को ज्ञानरूप जान लेवे या शुभराग को मोक्षमार्गरूप जान लेवे - इस प्रकार प्रयोजनभूत तत्त्वों में ज्ञानी को विपरीतता होती नहीं है, प्रयोजनभूत तत्त्व - स्वभाव-विभाव का भिन्नत्व, स्व-

परका भिन्नत्व - इत्यादि को तो उसका ज्ञान यथार्थ ही समझता (साधता) है, अतः उसका सारा ही ज्ञान सम्यग्ज्ञान ही है। और अज्ञानी कदाचित रस्सी को रस्सी, सर्प को सर्प, डाक्टरी, वकीलात, ज्योतिष इत्यादि अप्रयोजनरूप तत्त्वों को जाने तो भी स्वप्रयोजन को उसका ज्ञान साधता नहीं होने के कारण उसका सारा ही जानपना मिथ्याज्ञान है, स्व-परकी भिन्नता के कारण-कार्य इत्यादि में उसकी भूल रहती है। अहा ! यहाँ तो कहते हैं कि मोक्षमार्ग की साधना करने में जो ज्ञान काममें आये, उसमें विपरीतता न हो, वही ज्ञान सम्यक्ज्ञान है; और भले ही बाहर का चाहे जितना जानपना हो, परंतु मोक्षमार्ग की साधना करने में जो ज्ञान काममें नहीं आता, उसमें जिसे विपरीतता होती है, वह मिथ्याज्ञान है। जगत में सबसे मूलभूत, प्रयोजनरूप मुख्य वस्तु शुद्धात्मा, उसे जानने से स्व-पर सभी का सम्यग्ज्ञान हुआ। अतः 'श्रीमद् राजचंद्रजी' ने कहा है कि 'जिसने आत्मा को जाना उसने सब कुछ जाना।' तथा 'अनन्तकाल से जो ज्ञान भवहेतु हो रहा था उस ज्ञान को एक समयमात्र में जात्यांतर करके जिसने भवनिवृत्तिरूप किया उस कल्याणमूर्ति सम्यग्दर्शन को नमस्कार।' ऐसे सम्यग्दर्शन बगैर का सारा ही ज्ञान व सारा ही आचरण थोथा है।

देखो, यह साधर्मी के साथ की चर्चा ! दोसौ वर्ष पूर्व साधर्मियों के प्रश्न आये थे उसके जवाब प्रेमपूर्वक पंडित टोडरमल्लजीने लिखे हैं। निश्चय सम्यग्दर्शन प्रत्यक्ष और व्यवहार सम्यग्दर्शन परोक्ष - ऐसा है या नहीं ? इत्यादि प्रश्नों के जावाब में सम्यग्दर्शन की तथा स्वानुभूति इत्यादि की अध्यात्म रहस्य से भरी हुई चर्चाए इसमें लिखी है। अतः इसे 'रहस्यपूर्ण चिट्ठी' कही जाती है। इसमें कहेंगे कि सम्यक्त्व में कोई प्रत्यक्ष और परोक्ष ऐसा भेद नहीं है। प्रत्यक्ष व परोक्ष ऐसे भेद तो ज्ञान में पड़ते हैं। सम्यक्त्व तो शुद्धात्मा की प्रतीतिरूप निर्विकल्प है। ज्ञानका उपयोग समकिती को स्व में हो या परमें हो तब भी सम्यक्त्व तो ऐसा का ऐसा ही विद्यमान रहता है।

यहाँ तो कहते हैं कि समकिती कदाचित् रस्सी को सर्प समझ लेवे, इत्यादि प्रकार से बाहर के अप्रयोजनभूत पदार्थ में अन्यथा जान लेवे, तो भी उसका

ज्ञान सम्यग्ज्ञान ही है, क्योंकि उसमें ज्ञान के सम्यक्पने की कोई भूल नहीं है, परन्तु वह तो उस प्रकार के क्षयोपशम का अभाव है; ज्ञानावरण का उदयजन्य अज्ञानभाव जो कि बारहवें गुणस्थान तक होता है उस अपेक्षा से उसे 'अज्ञान' भले ही कहा जाय परन्तु मोक्षमार्ग मोक्षमार्ग को साधने या नहीं साधने की अपेक्षासे जो सम्यग्ज्ञान तथा मिथ्याज्ञान कहा जाता है, उसमें तो समकिती का सारा सम्यग्ज्ञान ही है, उसे मिथ्याज्ञान नहीं है। उसको रस्सी को रस्सी नहीं जानकर, सर्प की कल्पना (रस्सी में) हो गई तो उसके कारण कोई उसके ज्ञान में स्व-पर की एकत्वबुद्धि या रागादि परभाव में तन्मयबुद्धि हो नहीं जाती है, अतः उसका ज्ञान मिथ्या होता नहीं है; उस समय भी भेदज्ञान तो यथार्थरूप से प्रवर्तमान है ही अतः उसका सारा ही ज्ञान सम्यग्ज्ञान ही है। लोगों को बाहर के जानपने की जितनी महिमा है उतनी अन्दर के भेदविज्ञान की महिमा नहीं है। सम्यग्दृष्टि का ज्ञान एक एक क्षण में अन्दर में क्या काम करता है उसकी लोगों को खबर नहीं है। प्रतिक्षण स्वभाव एवं परभाव के पृथक्करण का अपूर्व कार्य उसके ज्ञान में हो ही रहा है। वह ज्ञान स्वयं राग से भिन्न होकर स्वभाव की जाति का हो गया है, वह तो केवलज्ञान का ही टूकडा (अंश) है। आगे चलकर उसे 'केवलज्ञान का अंश' कहेंगे। वह ज्ञान इन्द्रिय-मन द्वारा नहीं हुआ है परन्तु आत्मा द्वारा हुआ है।

ज्ञानी को समस्त परभावों से अपने ज्ञान की भिन्नता अनुभव में आई है अतः पहले अज्ञानदशा में राग में तथा इन्द्रियों मे तन्मय होकर जो ज्ञान काम कर रहा था वह ज्ञान अब अपने स्वभाव में ही तन्मय रहकर कार्य रता है। मेरा ज्ञान तो सदा ज्ञानरूप ही रहता है, मेरा ज्ञान रागरूप होता नहीं है, इस प्रकार ज्ञान को ज्ञानरूप ही रखता हुआ वह हमेशा भेदज्ञानरूप, सम्यग्ज्ञानरूप परिणमित होता है; इस प्रकार उसका सारा ही ज्ञान सम्यग्ज्ञान ही है - ऐसा जानना। एक जीव बहुत शास्त्र पढ़ा हुआ हो तथा भारी त्यागी होकर हजारों जीवों द्वारा पूजाया जा रहा हो, परन्तुयदि शुद्धात्मा के श्रद्धानरूप निश्चय सम्यक्त्व न हो तो उसका सारा ही जानपना मिथ्या है; दूसरा जीव छोटा मेंढ़क, मत्स्य,

सर्प, सिंह या बालक दशा में हो, शास्त्र के शब्दों का पढ़ना भी आता न हो फिर भी यदि शुद्धात्मा के श्रद्धानरूप निश्चय सम्यक्त्व से सहित है तो उसका सारा ही ज्ञान सम्यक् है, तथा वह मोक्ष के पंथ में है; सारे ही शास्त्रों के रहस्यरूप अंदर का स्वभाव-परभावका भेदज्ञान उसने स्वानुभव से जान लिया है। अंदर में जो बाह्य तरफ की शुभ या अशुभ संवेदनाएँ उठती हैं वह मैं नहीं हूँ, में उसके वेदन में मेरी शांति नहीं है, मैं तो ज्ञानानंद हूँ - कि जिसके वेदन में मुझे शांति का अनुभव होता है - इस प्रकार अंतर के वेदन में उस समकिती को भेदज्ञान तथा शुद्धात्मप्रतीति रहती है। शुद्धात्मा से विरुद्ध किसी भाव में उसे कभी आत्मबुद्धि नहीं होती है। जबसे सम्यग्दर्शन हुआ तबसे ज्ञान इस प्रकार राग से भिन्न होकर काम करने लगा, इसलिये सम्यग्दृष्टि जो कुछ जानता है वह सब सम्यग्ज्ञान है ऐसा कहा। ज्ञान का उघाड (क्षयोपशम) थोड़ा हो या अधिक हो, उसके ऊपर से कोई सम्यक् - मिथ्यापना का नाप नहीं निकलता, परंतु वह ज्ञान किस तरफ कार्य कर रहा है, किसमें तन्मयरूप होकर प्रवर्तन करता है इसके ऊपर सम्यक्-मिथ्यापना का नाप है। यदि स्वभाव में तन्मय रहता हो, तो सम्यक् है, परभाव में तन्मय रहता हो तो मिथ्या है। ज्ञानी को उपयोग पर को जानने में रहता हो उससे ऐसा नहीं समझ लेना कि तब उसका उपयोग पर में तन्मय हो गया है; उस समय भी अंतर के भान में उपयोग पर से भिन्न और भिनन ही रहता है। स्व में तन्मयता की बुद्धि उस समय भी उसकी छूटी नहीं है। यह तो ज्ञानी के अंतर की अलौकिक वस्तु है, उसका नाप बाहर से समझ में आ सके ऐसा नहीं है। शुभ-अशुभ परिणाम द्वारा भी उसके नाप निकाल पाये ऐसा है नहीं। अंतरदृष्टि क्या काम करती है उसका नाप अंतर्दृष्टि से ही समझ में आ सके ऐसा है।

अरे, भाई, एक बार इस बात को लक्ष में तो ले, तो तेरा उत्साह पर की तरफ से निवर्तित हो जायेगा और तुझे स्वभाव का उत्साह जागेगा। मूल स्वभाव का ज्ञान करना यही मोक्षमार्ग में प्रयोजनरूप है।

कोई कहते हैं - `धर्मी हुआ और आत्मा को जाना इसलिये पर का भी

सारा ही जानपना उसे हो जाता है।' तो कहते हैं कि ना पर का सब कुछ जान ही ले ऐसा नियम नहीं है। ज्ञानका उघाड हो उसके अनुसार जानता है; वह कदाचित् उस प्रकार का उघाड नहीं होने की वज़हसे डोरी को सर्प इत्यादि प्रकार से अन्यथा जाने तो भी डोरी या सर्प दोनों से भिन्न में तो ज्ञान हूँ - ऐसा स्व-परकी भिन्नता का ज्ञान तो उसे यथार्थ ही रहता है, वह हटता नहीं है। रस्सी को रस्सी जान रहा होता तो भी उससे मैं भिन्न हूँ - इस प्रकार जानेगा तथा रस्सी को सर्प जाना तो भी उससे मैं भिन्न हूँ - ऐसा जानता है अतः स्व-परकी भिन्नता को जाननेरूप सम्यक्पने में तो कोई फुट पड़ा नहीं है। आत्मा का जानपना होने से पर का सारा ही जानपना तुरंत खुलजाता है ऐसा कोई नियम नहीं है। अज्ञानी कोई ज्योतिष इत्यादि जानता हो और ज्ञानी को वह न भी आता हो, यहाँ बैठा बैठा (अज्ञानी) मेरु इत्यादि का विभंग ज्ञान द्वारा देख पाता हो और ज्ञानी के ऐसा उघाड (क्षयोपशम) न भी होवे। अज्ञानी गणित इत्यादि जानता हो, उसमें भूल नहीं पड़ती हो, फिर भी उस जानपने की धर्म में कोई कीमत नहीं है। ज्ञानी को कदापि गणित इत्यादि न आता हो, हिसाब में भूल भी पड़ती हो, फिर भी उसका ज्ञान सम्यक् है, स्व को स्वपने से तथा पर को परपने से साधित करनेरूप मूलभूत यथार्थपने में उसकी भूल होती नहीं है। अज्ञानी तो स्व-पर को, स्वभाव-परभाव को एक दूसरे में मिश्रित करके जानता है इसलिये उसका सारा ही ज्ञान मिथ्या है। बाहर के जानपने का उघाड पूर्व क्षयोपशम अनुसार कम-ज्यादा हो, परंतु जो ज्ञान अपने भिन्न स्वभाव को भूलकर जानता है वह अज्ञान है, तथा अपने भिन्न स्वभाव का भान रखकर जो जानता है वह सम्यक्ज्ञान है। संसार से संबंधित कुछ जानपना न हो अथवा कम जानपना हो इससे, ज्ञान कोई मिथ्या नहीं हो जाता है। और संसार की चतुराई तथा होशियारी बहुत ज्यादा हो इससे ज्ञान कोई सम्यक् हो जाता नहीं है। उसका आधार तो शुद्धात्मा के श्रद्धान के ऊपर है; शुद्धात्मा का श्रद्धान जहाँ है वहाँ सम्यक् ज्ञान है, शुद्धात्मा का श्रद्धान जहाँ नहीं है वहाँ मिथ्याज्ञान है। अतः बाहर का जानपना

कम हो, तो ज्ञानी को उसका खेद नहीं है तथा बाहर का जानपना विशेष हो तो ज्ञानी को उसकी महिमा नहीं है। महिमावंत तो आत्मा है और उसे जिसने जान लिया उस ज्ञानकी महिमा है। अहो, जगत से भिन्न मेरे आत्मा को मैंने जान लिया है तो मेरे ज्ञान का प्रयोजन मैंने साध लिया है, इस प्रकार निजात्मज्ञान से ज्ञानी संतुष्ट है - तृप्त है।

सुवाक्य

यह बात ऐसी है कि यदि समझे तो अन्दर स्वानुभूति का रंग चढ़ जाय तथा राग का रंग उतर जाय। आत्मा की अनुभूति राग के रंग बगैर की है; जिसे ऐसी अनुभूति का रंग है वह राग से रंग नहीं जाता है। है जीव ! एक बार आत्मा में से राग का रंग उतारकर स्वानुभूति का रंग चढ़ा दे।

स्वानुभूतिपूर्वक हो रहा सम्यग्दर्शन मोक्ष का द्वार है; उसके द्वारा ही मोक्ष का मार्ग खुलता है। उसका उद्यम ही प्रत्येक मुमुक्षु का पहला काम है। और प्रत्येक मुमुक्षु से यह (काम) हो सके ऐसा है।

प्रकरण - ६

केवलज्ञान का टूकडा
आत्मज्ञान की अचिंत्य महिमा

`... जानने में पदार्थों को विपरीतरूप से साधता नहीं है, अतः वह सम्यग्ज्ञान केवलज्ञान का अंश है। जिस प्रकार मेघपटल (बादल) जरा-सा विलय होने पर जो कुछ प्रकाश प्रगट होता है वह सर्वप्रकाशका अंश है। जो ज्ञान मति-श्रुतरूप प्रवर्तन कर रहा है वही ज्ञान बढ़ते-बढ़ते केवलज्ञानरूप होता है। अतः सम्यग्ज्ञान की अपेक्षा से तो जाति एक है।' (पृ.३४४)

अहा, देखो इस सम्यग्ज्ञान की केवलज्ञान के साथ संधि ! मति-श्रुतज्ञान को केवलज्ञान का अंश कौन कह सकता है ? कि जिसने पूर्ण ज्ञानस्वभाव को प्रतीत में लिया हो तथा उस स्वभाव के आधार से सम्यक्अंश प्रगट किया हो वही पूर्णता के साथ की संधि के कारण (पूर्णता के लक्षपूर्वक) कह सकता है कि मेरा यह ज्ञान है वह केवलज्ञान का अंश है, केवलज्ञान की ही जाति का है। परन्तु जो राग में ही लीन रहकर प्रवर्तन कर रहा है उसका ज्ञान तो राग का हो गया है, उसे तो राग से भिन्न ज्ञानस्वभाव की खबर ही नहीं है, उसमें `यह ज्ञान स्वभाव का अंश है' ऐसा तो वह किस प्रकार से जानेगा ? ज्ञान को ही पर से एवं राग से भिन्न नहीं जानता है वहाँ उसे स्वभाव का अंश कहने का तो उससे कहाँसे हो पायेगा ? स्वभाव के साथ जो एकता करे वही अपने ज्ञान को `यह स्वभाव का अंश है' इस प्रकार जान सकता

है। राग के साथ एकतावाला यह बात जान नहीं सकता है।

अहा ! यह तो अलौकिक बात है ! मतिश्रुतज्ञान को स्वभाव का अंश कहना अथवा तो केवलज्ञान का अंश कहना यह बात अज्ञानी की समझ में नहीं आती है, क्योंकि उसे तो राग व ज्ञान एकमेक (मिला-झुला) ही भासित हो रहा है। ज्ञानी तो निःशंक जानता है कि जितने रागादि अंश है वे सभी मेरे से भिन्न (पर)भाव है, तथा जितने ज्ञानादि अंश है वे सब मेरे स्वभाव है, वे मेरे स्वभाव के ही अंश है, और वे अंश बढ़ते बढ़ते केवलज्ञान होनेवाला है।

प्रश्न :- चार ज्ञान को तो विभावज्ञान कहा है, यहाँ इन्हें स्वभाव का अंश क्यों कहा ?

उत्तर :- उनको विभाव कहा है वह तो अपूर्णताकी अपेक्षा से कहा है, कोई (रागादि के समान) विरुद्ध जाति की अपेक्षा से उनको विभआव नहीं कहा है। वे चारों ही ज्ञान है तो स्वभाव का ही अंश... और स्वभाव की ही जाति; परन्तु वे अभी अधूरे है तथा अपूर्णता के आश्रय से पूर्ण ज्ञानों को विभाव कहा है। किन्तु जिस प्रकार रागादि विभाव तो स्वभाव से विरुद्ध है - उनकी जाति ही अलग है, उस प्रकार कोई ज्ञानकी जाति अलग नहीं है, ज्ञान तो स्वभाव से अविरुद्ध जाति का ही है। जिस प्रकार पूर्ण प्रकाश से जलाँहलाँ सूर्यमें से बादलों से विलय होने पर जो प्रकाशकिरणें चमकती है वे सूर्यप्रकाश का ही अंश है, उस प्रकार ज्ञानावरणादि बादल टूटने पर सम्यक् मतिश्रुतरूप जो ज्ञानकिरणे प्रगट हुई वे, केवलज्ञान के पूर्णप्रकाश से जहाँहलाँ जो चैतन्यसूर्य, उसीके प्रकाश के अंश है। सम्यक् मतिश्रुतरूप जो अंश है वे सभी ही चैतन्यसूर्य का ही प्रकाश है। जिस प्रकार दोष का चंद्र बढ़ते बढ़ते पूर्णचंद्ररूप होता है उस प्रकार सम्यक् मति-श्रुतज्ञान भी बढ़ते बढ़ते केवलज्ञान होता है। हालाँकि मति-श्रुतपर्याय तो पलट जाती है, वे स्वयं तो कोई केवलज्ञानरूप हो नहीं जाती, अतः पर्याय अपेक्षा से देवे तो वहीं तो नहीं है परंतु सम्यक् जाति अपेक्षासे तो वही बढ़ते बढ़ते केवलज्ञान हुआ ऐसा कहा जाता है। पाँचो ही ज्ञान सम्यग्ज्ञान के प्राकर है अतः केवलज्ञान एवं मतिज्ञान दोनों 'सम्यक्‌पने' देखने पर एक

समान है, दोनों की जाति एक ही है। जैसे एक ही पिता के पाँच पुत्रों में कोई बड़ा हो, कोई छोटा हो, परन्तु हैं तो सभी एक ही बाप के बेटे; उस प्रकार केवलज्ञान से लेकर मतिज्ञान पर्यंत के पाँचों सम्यग्ज्ञान-ज्ञानस्वभाव के ही विशेष हैं, उसमें केवलज्ञान है वह बड़ा और महान पुत्र है तथा मतिज्ञानादि भले छोटे हो, तो भी वे केवलज्ञानकी ही जाति से हैं। शास्त्र में (जयधवला में) 'वीरसेनस्वामी'ने गणधर को 'सर्वज्ञपुत्र' कहा है, उस प्रकार यहाँ कहते हैं कि मति-श्रुतज्ञान है वे केवलज्ञान के पुत्र हैं, सर्वज्ञता का अंश है। जिस प्रकार सिद्ध भगवान का पूर्ण अतीन्द्रिय आनन्द और समकिती का भूमिकायोग्य अतीन्द्रिय आनन्द ये दोनों आनन्द की एक ही जात है। मात्र पूर्ण तथा अधूरे का ही भेद है। लेकिन जात में तो जरा-सा भी भेद नहीं है, अतः समकिती का आनन्द वह सिद्धभगवान के आनन्द का ही अंश है; आनन्द से माफिक उसका मतिज्ञान है वह भी केवलज्ञान का ही अंश है। पूर्ण तथा अधूरे का भेद होने के बावजूद दोनों की जाति में जरा-सा भी भेद नहीं है।

भाई, तेरा ज्ञान केवलज्ञान की ही जातिका, लेकिन कब ? कि तू अपने स्वभाव का सम्यग्ज्ञान कर तब। अभी तो शुभराग को मोक्ष का कारण मान रहा हो, व्यवहार को अवलंबन से मोक्षमार्ग बनने का मान रहा हो, जड़ देह की क्रियाओं को आत्मा की मान रहा हो तथा उन क्रियाओं से धर्म होने का मान रहा हो, उससे तो कहते हैं कि भाई, तेरा तो सारा ही ज्ञान मिथ्या है। अभी तो सर्वज्ञ के कहे हुए नवतत्त्व की तुझे खबर नहीं है, सर्वज्ञस्वभाव (केवलज्ञान) का तुझे निर्णय नहीं है वहाँ उस केवलज्ञान का अंश कैसा हो उसकी पहिचान कैसे हो सकती है ? मेरा यह ज्ञान केवलज्ञान का अंश है - ऐसा बराबर निर्णय करे उसकी दृष्टि तथा ज्ञानपरिणति तो ज्ञानस्वभाव में गहराई में उतर जाती है, वह शुभराग में धर्म मानकर उसीमें ही रुका नहीं रहेगा; वह तो राग सेकितनी दूर - उस पार जो है ऐसे ज्ञानस्वभाव में भीतर प्रवेश कर जाता है। ऐसा ज्ञान ही केवलज्ञान की जाति का होकर केवलज्ञान की साधना (प्राप्ति) करता है। सम्यक् मतिश्रुत यदि केवलज्ञान की जातिका न हो

और विजातीय हो तो वह केवलज्ञान की प्राप्ति कैसे कर सकता है ? केवलज्ञान की जादिका हो वही केवलज्ञान को प्राप्त कर सकता है। राग है वह केवलज्ञान की जाति का नहीं है, वह केवलज्ञान को प्राप्त नहीं कर सकता, मति-श्रुत सम्यग्ज्ञान केवलज्ञान की जाति है अतः अंतर में एकाग्र होकर वह केवलज्ञान को प्राप्त कर लेता है। सम्यग्ज्ञान ज्योति प्रगट हुई है वह कभी बुझनेवाली नहीं है, वह बढते बढते केवलज्ञान लेगी।

देखो भाई, यह बात सूक्ष्म तथा गम्भीर तो है, परन्तु अपने परम हित की बात है अतः बराबर ध्यान रखकर समझने लायक खास बात है। ध्यान रखकर अंतःकरणपूर्वक समझने की ठान ले तो जरूर समझ में आ जाय ऐसी बात है। यह कोई दूर-दूर के किसी की बात नहीं है परन्तु अपने आत्मा में जो स्वभाव विद्यमान है उसकी ही यह बात है, अतः 'यह बात मेरे आत्मा की ही है।' इस प्रकार अन्तर में झाँककर समझने की कोशिश करे तो तुरन्त ही समझ में आ जाय और समझ ने पर अपूर्व आनन्द होवे ऐसी बात है यह।

प्रश्न :- छद्मस्थजीव केवलज्ञान का स्वरूप किस प्रकार समझ सकेगा ?

उत्तर :- छद्मस्थज्ञानी भी केवलज्ञान के स्वरूप को बराबर निर्णय कर सकता है। उसने ज्ञान को स्वसन्मुख करके सर्वज्ञता के अखण्ड सामर्थ्य से भरपूर ऐसे अपने ज्ञानस्वभाव का जो निर्णय किया है उसमें केवलज्ञान कास्वरूप भी स्पष्ट भासित हो गया है। यदि केवलज्ञान को ही न समझे तो मोक्षतत्त्व को भी न समझे, मोक्षतत्त्व को जो न समझे वह मोक्षमार्ग को भी नहीं समझेगा, तथा मोक्षमार्ग को जो नहीं समझ रहा है उसे धर्म कहाँ से होगा ? जिस प्रकार किसी सज्जन के पास एक खरा (सच्चा) रूपया हो, भले ही अरब रूपये उसके पास न हो, उससे क्या वह अरब रूपयों को जान नहीं सकेगा? जैसा मेरे पास यह रुपया है उसी ही जाति के अरब रुपये होते हैं, ऐसा वह बराबर जान सकता है, उस प्रकार समकिती मति-श्रुतज्ञानी संत के पास केवलज्ञान भले प्रगट न हो, परन्तु शुद्धात्मा की श्रद्धा के बल से ज्ञानस्वभाव

का भी निर्णय करके, केवलज्ञान कैसा होता है - यह उसने बराबर जान लिया है, तथा उस केवलज्ञान की जातिका ही मेरा यह सम्यग्ज्ञान है - ऐसा वह निःशंक जानता है। हजार पंखड़ीवाले कमल की जो कली पहले थोड़ी खिली वही बढ़कर पूर्णरूप से खिलती है, उस प्रकार अनन्त पंखड़ीवाला जो चैतन्यकमल उसमें सम्यग्दर्शन होने पर जो मतिश्रुतरूप थोड़ी ज्ञानकला खिली वही कला स्वरूप में एकाग्रता द्वारा बढ़ते बढ़ते केवलज्ञानरुप पूर्णकला खिल जायेगी। इस प्रकार सम्यग्ज्ञान की अपेक्षा से मति-श्रुत तथा केवल की जाति एक ही है। इस चिट्ठी में ही आगे चलकर अष्टसहस्री का आधार देकर कहा है कि केवलज्ञान की तरह श्रुतज्ञान ही उसमें भेद है; परन्तु वस्तुस्वरूप से वे एकदूसरे से अन्य (अलग) नहीं है।

सम्यग्दृष्टि को शुद्धात्मा की प्रतीतिरूप सम्यक्श्रद्धा हुई है, स्व-पर के यथार्थ भेदज्ञान द्वारा सम्यक् मति-श्रुतज्ञानरूप केवलज्ञान का अंश प्रगट हुआ है, अब इसके साथ उस समकिती के परिणाम कैसे होते हैं यह बताते हैं।

सुवाक्य

एक क्षणभर के स्वानुभव से ज्ञानी के जो कर्म टूटते हैं, अज्ञानी के लाखों उपाय करने पर भी इतने कर्म टूटते नहीं है। इस प्रकार सम्यक्त्व की तथा स्वानुभव की कोई अचिंत्य महिमा है। - ऐसा समझकर है जीव ! उसकी आराधना में तत्पर हो जा।

प्रकरण - ७

बाहर में उपयोग के समय भी धर्मी को सम्यक्त्वधारा चालू है, उस समय भी उपयोग और राग भिन्न है

'पुनःश्च उस सम्यग्दृष्टि के परिणाममें (वह ज्ञान) सविकल्प तथा निर्विकल्परूप होकर दो प्रकार से प्रवर्तन करता है। वहाँ पर जो विषय-कषायादिरूप या पूजा-दान-शास्त्राभ्यासादिरूप प्रवर्तन करता है उसे सविकल्परूप जानना।' (पृ.३४४)

सबसे पहले जब आत्मानुभवसहित सम्यग्दर्शन प्रगट होता है तब तो निर्विकल्पदशा ही होती है, ज्ञान का उपयोग अन्दर में थम गया होता है। परन्तु ऐसी निर्विकल्पदशा लंबे काल तक टिकती नहीं है, अतःसविकल्पदशा आती है। इस प्रकार सम्यग्दृष्टि के परिणाम निर्विकल्प तथा सविकल्प ऐसे दोनों दशारूप होकर प्रवर्तित होते हैं। चौथे गुणस्थान में निर्विकल्प अनुभव नहीं होता - ऐसा नहीं है; एवं सम्यग्दर्शन होने के बाद विकल्प तथा राग नहीं ही होता है - ऐसा भी नहीं है। सम्यग्दृष्टि-गृहस्थ को भी कभी-कभी निर्विकल्प अनुभूति होती है। एवं चौथे-पाँचवें गुणस्थान में उसे भूमिका अनुसार विषय-कषायादि के अशुभ तथा पूजा-दान-शास्त्रस्वाध्याय-धर्मात्मा की सेवा - साधर्मी से प्रेम - तीर्थयात्रा आधि के शुभपरिणाम भी आते हैं। उसके अशुभपरिणाम बहुत मंद पड़ गये होते हैं, विषयकषायों का प्रेम अन्तरमें से उड़ गया होता है, अशुभ के समय भी नरकादि हल्की गति के आयुष्य का बन्धन तो उसे होता ही नहीं है। देव-गुरु-धर्म के प्रति उत्साह-भक्ति, शास्त्र के प्रति भक्ति, उसका अभ्यास इत्यादि शुभपरिणाम विशेषरूप से होते हैं, परन्तु उसका अन्तर तो उस शुभ से भी उदास है। उसके अन्तर में तो एक शुद्धात्मा

ही बसा हुआ रहता है।

ज्ञान के साथ विकल्प रहता है इसलिये ऐशा कहा कि ज्ञान सविकल्परूप होकर रहता है; परन्तु वास्तव में तो ज्ञान कोई स्वयं विकल्परूप नहीं होता है। ज्ञान तो ज्ञानरूप ही रहता है, विकल्प से भिन्न ही रहताहै। ज्ञान एवं विकल्प इन दोनों का भेदज्ञान धर्मी को सविकल्पदशा के समय भी विद्यमान है। परन्तु उस भूमिका में परिणाम की स्थिति कैसी होती है वह यहाँ पर बताना है। विषयकषाय के ज़रा भी भाव हो वहाँ सम्यग्ज्ञान होता ही नहीं है - ऐसा कोई माने तो वह सही नहीं है। अतवा विषयकषाय के परिणाम सर्वथा छूटकर वीतराग हो जाय तब ही सम्यग्ज्ञान होता है - ऐसा कोई कहे तो वह भी सही नहीं है। हाँ, इतना जरूर है कि उसे विषयकषाय का रस अन्तर में से सर्वथा छूटजाय, उसमें कहीं पर लेशमात्र भी आत्मा का हित या सुख न लगे; अतः उसमें स्वच्छंदपूर्वक तो वह प्रवर्तन नहीं ही करता है। वह 'सदननिवासी तदपि उदासी' होता है।

इस प्रकार धर्मी को सम्यग्ज्ञान के साथ शुभ-अशुभ परिणाम भी विद्यमान होते हैं, परन्तु इससे कोई उसके सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान दूषित नहीं हो जाते, ज्ञानपरिणाम अलग है तथा शुभाशुभ परिणाम अलग हैं, दोनों की धारा अलग है। विकल्प तथा ज्ञान की भिन्नता का भान विकल्प के समय भी खिसक नहीं जाता। उपयोग भले पर को जानने में रुका हुआ हो उससे कोई श्रद्धा या ज्ञान मिथ्या नहीं हो जाते हैं। इस प्रकार धर्मी को सविकल्पदशा के समय भी सम्यक्त्व की धारा तो ऐसी की ऐसी ही विद्यमान रहती है।

सविकल्पदशा के समय अर्थात् उपयोग अन्यत्र कहीं हो तब भी समकित किस प्रकार विद्यमान रहता है ? यह बात अब प्रश्नोत्तर द्वारा दृष्टांतपूर्वक समझाते हैं।

सुवाक्य

हजारों वर्ष के शास्त्राभ्यास के मुकाबले एक क्षण का स्वानुभव (का पुल) बढ़ जाता है। जिसे भवसमुद्र से पार होना है उसे स्वानुभव की विद्या सीख लेनी चाहिए।

प्रकरण - ८

सम्यग्दृष्टि की अन्दर की दशा का वर्णन सविकल्पता या निर्विकल्पता दोनों समय सम्यक्त्व एक समान है।

प्रश्न :- जहाँ शुभ-अशुभरूप परिणमित हो रहा है वहाँ पर सम्यक्त्व का अस्तित्व कैसे हो सकता है ?
समाधान :- जिस प्रकार कोई गुमास्ता सेठ के कार्य में प्रवृत्त है, उस कार्य को अपना कार्य भी कहता है, हर्ष-विषाद को भी प्राप्त होता है, उस कार्य में प्रवर्तन करते समय वह अपनी तथा सेठ की आपस में भिन्नता भी मानता नहीं है, परन्तु उसे अन्तरंग श्रद्धान है कि `यह कार्य मेरा नहीं है।' उस प्रकार कार्य करनेवाला वह गुमास्ता `शाहुकार' है; परन्तु वह सेठ के धन की चोरी करके उसे अपना माने तो वह गुमास्ता चोर ही कहलायेगा; उस प्रकार कर्मोदयजनित शुभाशुभकार्यका कर्ता होकर तद्रूप परिणमित हो तो भी उस सम्यग्दृष्टि को इस प्रकार का अंतरंग श्रद्धान है कि `ये कार्य मेरे नहीं है।' परन्तु यदि देहाश्रित व्रतसंयम को भी अपना माने तो वह मिथ्यादृष्टि है। इस प्रकार सविकल्प परिणाम होते हैं। (पृ.३४४)

शुभाशुभ परिणाम के समय भी धर्मी को शुद्धात्मश्रद्धानरूप निश्चय सम्यक्त्व होता है यह बात यहाँ दृष्टांत देकर समझा रहे हैं। सविकल्पपना तथा निर्विकल्पपना तो उपयोग की अपेक्षा से हैं, श्रद्धा में कोई सविकल्प या निर्विकल्प ऐसा भेद है नहीं। अशुभरागरूप सविकल्पदशा हो या शुभरागरूप सविकल्पदशा हो, सम्यक्त्व

तो इन दोनों से परे शुद्धात्मा के श्रद्धानरूप प्रवर्तन करता है। ऐसे सम्यग्दृष्टि को स्वानुभव में उपयोग हो या बाहर शुभ-अशुभ में उपयोग हो, - किन्तु दोनों समय उसे सम्यग्दर्शन तो एक ही प्रकार का (एक समान) विद्यमान है। इससे ऐसा मत समझ लेना कि समकिती अपने उपयोग को बाहर चाहे जैसे भटकने देता होगा। स्वानुभव में जिस आनन्द का स्वाद चखा है उसमें बार बार उपयोग को जोड़ने की भावना तो उसे रहती ही है, इसके लिये बारंबार प्रयत्न भी करता है; क्योंकि श्रद्धा जैसी की तैसी रहती होने के बावजूद भी स्वानुभव में उपयोग स्थिर होने के समय निर्विकल्पदशा में अतीन्द्रिय आनन्द का जो विशेष वेदन होता है वैसा सविकल्पदशा में नहीं होता। परन्तु ऐसी निर्विकल्पदशा टिकती नहीं है तब धर्मी का उपयोग शुभ या अशुभ में भी जुड़ता है। अशुभ में उपयोग जुड़े तब समकित कोई मैला नहीं हो जाता। इन्द्रियों की तरफ उपयोग जुड़ा तब समकित अलग तथा अतीन्द्रिय उपयोग हुआ तब समकित अलग - इस प्रकार सम्यग्दर्शन में कोई दो भेद नहीं है। प्रत्यक्ष-परोक्ष ऐसा भेद भी उपयोग में है, सम्यग्दर्शन में कोई प्रत्यक्ष-परोक्षपना नहीं है; सम्यग्दर्शन तो शुद्धात्मा के श्रद्धानरूप ही है।

शुभःअशुभ के समय भी उस श्रद्धान का निरंतरपना समझाने के लिये यहाँ शाहुकार अर्थात् प्रमाणिक गुमास्ता का दृष्टांत दिया है; जिस प्रकार ईमानदार मुनीम अपने सेठ के सारे कार्य इस प्रकार करता है कि जैसे खुद के ही काम है, व्यापार में लाभ-नुकसान होने पर वहाँ हर्ष-खेद करता है यह हमारी दुकान, यह हमारा माल इस प्रकार कहता है; इस प्रकार सेठ के कार्यो में परिणाम लगाने पर भी अन्दर में वह समझता है कि इसमें मेरा कुछ नहीं है, यह सब पराया (सेठ का) है। उस प्रकार धर्मात्मा जीव भी राग की भूमिका अनुसार विषय-कषाय, क्रोध-मान-व्यापारधंधा-खाना पकाना इत्यादि अशुभप्रवृत्ति में या पूजा-भक्ति-दया-दान-यात्रा-स्वाध्याय-साधर्मीप्रेम इत्यादि शुभप्रवृत्ति में उपयोग को लगाता है। फिर भी उपरोक्त गुमास्ता की तरह वह समझता है कि ये देहादि के कार्य या ये रागादि के भाव - ये वास्तव में मेरे नहीं है, मेरे स्वरूप

की वह चीज़ नहीं है। उन रागादि के समय उनमें तद्रूपतापूर्वक आत्मा परिणमित हुआ है, अर्थात् आत्मा की ही वह पर्याय है, परन्तु शुद्धस्वभाव स्वयं उस रागरूप हो नहीं गया है। यदि शुद्धात्मा का इस प्रकार का श्रद्धान न रखे तथा रागादि की अथवा देहादि की क्रिया को वास्तव में अपना स्वरूप माने तो वह जीव मिथ्यादृष्टि है। जिस प्रकार गुमास्ता यदि सेठ की वस्तु को वास्तव में अपनी ही समझकर अपने घर उठा ले जाय तो वह प्रामाणिक नहीं कहलायेगा; किन्तु चोर कहलायेगा; उस प्रकार परायी ऐसी देहादिक्रिया को या पराये ऐसे रागादिभावों को जो वास्तव में अपना मानकर उसे अपना स्वरूप ही समझ ले वह जीव मिथ्यादृष्टि है। 'यह मेरा नहीं है, यह सेठ का है' ऐसा गुमास्ते को कोई हमेशा रहते नहीं रहना पड़ता, प्रत्येक कार्य के समय उसे यह प्रतीति अन्दर चालू ही रहती है, उस प्रकार 'यह शरीर मेरा नहीं है, यह राग मेरा नहीं है, मैं शुद्धात्मा हूँ' ऐसा धर्मी को हमेशा रटना नहीं पड़ता, प्रत्येक क्षण-शुभाशुभ के समय भी उसे समस्त परद्रव्य तथा समस्त परभावों से भिन्न शुद्धात्मा की जो प्रतीति हुई वह विद्यमान-प्रवर्तित ही रहती है।

देखो, सम्यग्दृष्टि की यह अन्तरंग दशा ! सम्यक्त्व की कितनी सुन्दर चर्चा की है ! अहा धन्य है उन साधर्मियों कि जो स्वानुभव की ऐसी चर्चा करते हैं ! स्व-पर का पदार्थ भेदज्ञान कहो, तत्त्वार्थ श्रद्धान कहो, भूतार्थ का आश्रय कहो, शुद्धनय कहो या शुद्धात्मश्रद्धान कहो, यह निश्चयसम्यक्त्व है। ऐसी दशा प्रगट नहीं हुई है ऐसा जीव, भले जैनधर्म के ही देव-गुरु-शास्त्र को मानता हो तथा अन्य कुदेवादि को मानता न हो, तो भी, उसे सम्यक्त्वी कहते नहीं है, धर्मी कहते नहीं है, अतः स्व-पर के यथार्थ भेदज्ञानपूर्वक तत्त्वार्थश्रद्धान करके स्वानुभवसहति शुद्धात्मश्रद्धान करना, वही सम्यक्त्व है, वही मोक्षमार्ग का पहला रत्न है, और वही पहला धर्म है। प्रसन्न होकर आत्मा की प्रीतिपूर्वक ऐसे सम्यक्त्वादि की बात उत्साहपूर्वक सुने वह भी महान भाग्यशाली है, इसमें उच्च कोटि के पुण्य का बन्धन होता है, तथा इस बात को समझकर अंतर में परिणमन कर ले वह तो अपूर्व कल्याण को प्राप्त करता है तथा नियमपूर्वक अल्पकाल में

मोक्ष को प्राप्त होता है। ऐसे अध्यात्म के रसीले जीव हमेशा विरले ही होते हैं।

सम्यग्दृष्टि के स्वरूप की पहिचान भी जगत को दुर्लभ है। सम्यग्दृष्टिने शुद्धात्मा को प्रतीति में लेकर अफना प्रयोजन सिद्ध किया है, मति-श्रुतज्ञान को आत्मज्ञान द्वारा सम्यक् किया है, अतः वह जो कुछ जाने वह सब सम्यग्ज्ञान ही है। उसका ज्ञान पदार्थों को विपरीतरूप से नहीं साधता। अपना मोक्षमार्ग साधने का जो प्रयोजन है वह अन्यथा नहीं होता। अहो, आत्मा से संबंधित ज्ञान में जहाँ भूल नहीं है वहाँ बाहर के जानपने की भूल कोई मोक्षमार्ग की साधना में बाधा नहीं डालती। आत्मा को जहाँ जान लिया वहाँ सारा ही ज्ञान सम्यक् हो गया। मिथ्यादृष्टि को बाहर का कुछ जानपना भले ही हो परन्तु उसका वह बाह्यज्ञान मोक्षमार्गरूप निजप्रयोजन को साधता नहीं है। अतः उसे मिथ्याज्ञान ही कहते हैं। इस प्रकार ज्ञान में `सम्यक्' तथा `मिथ्या' ऐसे दो प्रकार निज प्रयोजन को साधने - नहीं साधने की अपेक्षा से समझना। देखो, यह ज्ञान का प्रयोजन। शुद्धात्मारूप प्रयोजन के बिना सारा ही जानपना थोथ है, मोक्षमार्ग में उसकी कोई गिनती ही नहीं है।

पुनःश्च ऐसा कहा कि, सम्यक्पने की अपेक्षा से देखने पर केवलज्ञान तथा मतिश्रुतज्ञान जाति एक है। मतिश्रुतज्ञान को केवलज्ञान का अंश कहा है। सम्यग्दृष्टि को वह ज्ञान बढ़ते-बढ़ते केवलज्ञान होता है। मिथ्याज्ञान पलटकर यथार्थ तत्त्वश्रद्धान सहित जो सम्यग्ज्ञान हुआ उसकी महिमा अचिंत्य है, वह ज्ञान मोक्ष को साधता है।

अब सम्यग्दृष्टि को ऐसा मति-श्रुतज्ञान जब स्वानुभव में प्रवर्तता है तब तो निर्विकल्पता होती है, तथा जब बाहर के शुभाशुभकार्यों में प्रवर्तमान है तब सविकल्पता होती है। परन्तु सविकल्पता हो या निर्विकल्पता हो - सम्यग्दर्शन तो दोनों समय ऐसा का ऐसा वर्तता है। ऐसा कुछ नहीं है कि निर्विकल्पता के समय वह मलिन हो जाय। किसी को सविकल्पता होने के बावजूद क्षायिक सम्यक्त्व वर्तता है। किसी को निर्विकल्पता होने के बावजूद क्षायोपशमिक सम्यक्त्व वर्तता है। अतः समकित की निर्मलता का या निश्चय-व्यवहार का नाप सविकल्पता-निर्विकल्पता के ऊपर से नहीं होता। हाँ, उसमें इतना नियम जरूर है कि

सम्यक्त्व की उत्पत्ति के काल में निर्विक्लप अनुभूति होती ही है तथा मिथ्यादृष्टि को तो निर्विकल्प अनुभूति कभी हो नहीं सकती। परन्तु सम्यग्दृष्टि को निर्विकल्प उपयोग सदा रहे ऐसा इन दोनों बातों का हमेशा अविनाभावीपना नहीं होता।

यहाँ इस प्रश्न को समझा रहे हैं कि शुभ-अशुभ उपयोग में वर्त रहा हो तब सम्यक्त्व का अस्तित्व किस प्रकार होता है ? - भाईजी ! समकित है वह कोई उपयोग नहीं है, समकित तो प्रतीति है। शुभा-शुभमें उपयोग वर्तता हो तब भी शुद्धात्मा का अन्तरंगश्रद्धान तो धर्मी को ऐसा का ऐसा वर्तता है; स्व-पर का जो भेदविज्ञान हुआ है वह तो उस समय भी वर्त ही रहा है। यह शुभ-अशुभ मेरा स्वभाव नहीं है, मैं तो शुद्ध चैतन्यस्वभाव ही हूँ - ऐसी निश्चय अन्तरंगश्रद्धा धर्मी को शुभ-अशुभ के समय भी हटती नहीं है। जैसे गुमास्ता सेठ के कार्यों में प्रवर्तता है, नफा-नुकसान होने पर हर्ष-विषाद को भी प्राप्त होता है, फिर भी अन्तर में भान है कि इस नफे-नुक्सान का स्वामी मैं नही हूँ। यदि सेठ की मिलकत को वास्तव में अपनी मान ले, तो तो चोर कहा जायेगा। उस प्रकार धर्मात्मा का उपयोग शुभ-अशुभ में भी जाता है, शुभ-अशुभरूप परिणमित होता है, फिर भी अन्तर में उसी समय उसे श्रद्धान है कि, ये कार्य मेरे नहीं है, उसका स्वामी मैं नहीं हूँ; शुद्धोपयोग के समय जैसी प्रतीति वर्त रही थी, अशुभ उपयोग के समय भी वैसी ही प्रतीति शुद्धात्मा के वर्तती है। अतः उसे शुभ-अशुभ के समय भी सम्यक्त्व में बाधा आती नहीं है। यदि परभावों को अपना माने या देहादि पर द्रव्य की क्रिया को अपनी माने तो तत्त्वश्रद्धान में विपरीतता हो जाय इसलिये मिथ्यात्व हो जाय।

पुनःश्च, निर्विकल्पता के समय निश्चयस्मयक्त्व तथा सविकल्पता के समय व्यवहारसम्यक्त्व - ऐसा भी नहीं है। चौथे गुणस्थान में मिथ्यात्व को नष्ट करके निर्विकल्प स्वानुभूतिपूर्वक शुद्धात्मप्रतीतिरूप जो सम्यग्दर्शन प्रगट हुआ है वह निश्चय सम्यग्दर्शन है; और यह निश्चय सम्यग्दर्शन सविकल्प या निर्विकल्, दोनों दशा के समय एकसमान ही है। स्वानुभव के समय तो निर्विकल्पता होती है। सम्यग्दृष्टि को जब सम्यग्दर्शन प्रगट हुआ (प्रथमबार) तब तो स्वानुभव तथा निर्विकल्पताहुई,

परन्तु वह निर्विकल्प-स्वानुभव में सदाकाल रह नहीं सकता, निर्विकल्पदशा लम्बे समय तक टिकती नहीं है; फिर सविकल्पदशा में आने पर शुभ या अशुभमें उपयोग जुड़ता है। तथा शुद्धात्मप्रतीति तो उस समय भी चालू ही रहती है। - ऐसी समकिती महात्मा की स्थिति है। अपने शुद्ध आत्मभाव के अलावा अन्य किसी को स्वामीत्वरूप में वे कभी परिणमित नहीं होते।

धर्मी को शुभभाव के समय भी सम्यक्त्व होता है - ऐसा कहा, अतः ऐसा न समझ लेना कि उस शुभभाव को करते करते सम्यक्त्व हो जायेगा। यदि उस शुभभाव को चीज़ मानकर उसका स्वामीत्वकरे अथवा उस शुभभाव को सम्यक्त्व का कारण माने त उस जीव को शुभ के समय जिसे शुभ से रहित ऐसे शुद्धात्मा की श्रद्धा वर्तती है वही सम्यग्दृष्टि है।

सम्यग्दर्शन होने के बाद यदि शुभ-अशुभ परिणाम होवे ही नहीं तो तुरन्त ही वीतरागता और केवलज्ञान हो जाय। किन्तु ऐसा सब को बनता नहीं है। सम्यग्दर्शन के बाद भी जब तक अपने स्वरूप में पूर्ण लीनता न हो तब तक अपने चारित्र की कमज़ोरी के कारण धर्मी को शुभ-अशुभभावरूप परिणमन होता है। धर्मी उसे अपना स्वभाव भी मानता नहीं है एवं कर्मों ने ये (शुभाशुभभाव) करवाये हैं ऐशा भी नहीं मानता। अपने गुण का परिणमन इतना कम है इसलिये वह स्वयं की परिणति का ही अपराध है - ऐसा वह समझता है। इस प्रकार सम्यक्प्रतीतिरूप सम्यग्दर्शन उसको वर्तता है।

इस प्रकार सम्यग्दृष्टि की सविक्लपदशा बताई और उस सविकल्पदशा में सम्यक्त्व विद्यमान है ऐसा समझाया। अब वह सम्यग्दृष्टि सविकल्पतामें से पुनः निर्विकल्प किस प्रकार होता है यह बता रहे हैं।

प्रकरण - ९

निर्विकल्प स्वानुभूति होने का सुन्दर वर्णन स्वरूप के चिंतन में आनन्दतरंग उठती है... रोमांच होता है

'अब सविकल्पद्वार के ज़रिये निर्विकल्प परिणाम होने का विधान कह रहे हैं : वह सम्यग्दृष्टि कदाचित् स्वरूपध्यान करने का उद्यमी होता है, वहाँ पर प्रथम स्व-पर स्वरूप का भेदविज्ञान करे; नोकर्म, द्रव्यकर्म, भावकर्म रहित चैतन्यचित्चमत्कारमात्र अपना स्वरूप जाने बाद में पर का विचार भी छूट जाय और केवल आथ्मविचार ही रहता है; वहाँ निजस्वरूप में अनेक प्रकार की अहंबुद्धि धारण करता है, "मैं चिदानंद हूँ, शुद्ध हूँ, सिद्ध हूँ' इत्यादि विचार होने पर सहज ही आनन्दतरंग उठती है, रोमांच होता है; तत्पश्चात् ऐसे विचार भी छूट जाते हैं तथा स्वरूप केवल चिन्मात्ररूप भासित होने लगता है, वहाँ पर सर्व परिणाम उस रूप के विषय में एकाग्र होकर प्रवर्तते हैं; दर्शन-ज्ञानादि के अथवा नय-प्रमाणादि के विचार भी विलय हो जाते हैं। सविकल्प-चैतन्यस्वरूप द्वारा जो निश्चय किया था उसी में व्याप्य-व्यापकरूप होकर ऐसे प्रवर्तता है कि जहाँ ध्येयरूपता दूर हो जाय। और ऐसी दशा का नाम निर्विकल्प अनुभव हैं।'

देखो, स्वानुभव की वह अलौकिक चर्चा ! यहाँ तो एक बार जिसे स्वानुभव हुआ हो और फिर से वह निर्विकल्प-स्वानुभव करे उसकी बात की; परन्तु

पहलीबार जो निर्विकल्प-स्वानुभव का उद्यम करता है वह भी इसी प्रकार भेदज्ञान तथा स्वरूपचिंतन के अभ्यास द्वारा परिणाम को निजस्वरूप में तल्लीन करके स्वानुभव करता है। इस निर्विकल्प अनुभव के समय आत्मा स्वयं अपने में व्याप्य-व्यापकरूप से ऐसा तल्लीन वर्तता है, अर्थात् द्रव्य-गुण-पर्याय की ऐसी एकता होती है, कि ध्याया-ध्येय का भेद भी उसमें रहता नहीं है; आत्मा स्वयं अपने में लीन होकर अपना स्वानुभव करता है। स्वानुभव के परम आनन्द का उपभोग है परन्तु उसका विकल्प नहीं है। एक बार ऐसा निर्विकल्प-अनुभव जिसे हुआ हो उसे ही निश्चय-सम्यक्त्व जानना। इस अनुभव की विधि यहाँ बता रहे हैं।

यहाँ सम्यग्दृष्टि किस प्रकार निर्विकल्प अनुभव करता है यह बताया है, दूसरे जीवों को भी निर्विकल्प अनुभव करने का यह ही उपाय है ऐसा इनके उदाहरण द्वारा समझ लेना।

सम्यग्दृष्टि को शुभाशुभ के समय सविकल्पदशा में सम्यक्त्व किस प्रकार विद्यमान रहता है यह समझाया है; अब कह रहे हैं कि `वह सम्यग्दृष्टि कदाचित् स्वरूपध्यान करने का उद्यमी होता है' चौथे गुणस्थान में सम्यग्दृष्टि को कोई बारंबार स्वरूपध्यान होता नहीं है, परन्तु कभी शुभाशुभ प्रवृत्ति से दूर होकर शांतपरिणाम द्वारा स्वरूप का ध्यान करने का उद्यम करता है, जिस स्वरूप का अपूर्व स्वाद स्वानुभव में चखा है, उसका पुनः पुनः अनुभव करने के लिये वह उद्यम करता है। तब प्रथम तो स्व-पर के स्वरूप का भेदविज्ञान करे अर्थात् पहले जो भेदज्ञान किया हुआ है उसको फिरसे चिंतन मैं ले; ये स्थूल जड़ देहादि तो मेरे से स्पष्ट भिन्न है, उसके कारणरूप अन्दर के सूक्ष्म द्रव्यकर्म वे भी आत्मस्वरूप से अत्यंत भिन्न है, दोनों की जाति ही अलग है; मैं चैतन्य और वे जड़, मैं परमात्मा और वे परमाणु - इस प्रकार दोनों की भिन्न है, तथा भिन्नता होने पर वह कर्म मेरा कुछ करेगा नहीं। अब अन्दर आत्मा की पर्याय में उत्पन्न होते हुए जो राग-द्वेष-क्रोधादि भाव कर्म उससे भी मेरा स्वरूपअत्यंत भिन्न है; मेरे ज्ञानस्वरूप की तथा इन रागादि परभावों की जाति ही अलग है; राग का वेदन तो आकुलतारूप है और ज्ञान का वेदन तो शांतिमय है।

- इस प्रकार बहुत तरह से द्रव्यकर्म-नोकर्म तथा भावकर्म से अपने स्वरूप की भिन्नता का चिंतवन करता है; इन सभी से भिन्न चैतन्यचमत्कारमात्र ही मैं हूँ - ऐसा विचार करता है। देखो, ऐसे वस्तुस्वरूप के निर्णय में जिसकी भूल हो उसे तो स्वरूप के ध्यान का सच्चा उद्यम उठेगा ही नहीं। क्योंकि जिसका ध्यान करना है, उसे पहले पहचानना तो चाहिए न ! पहिचाने बिना ध्यान किसका ? इस प्रकार स्व-पर की भिन्नता के विचार द्वारा परिणाम को जरा स्थिर करे, तत्पश्चात् पर के विचार छूट जाने से केवल निजस्वरूप के ही विचार रहे। जिस स्वरूप का पहले अनुभव किया है अथवा जो स्वरूप निर्णय में लिया है उसकी अत्यंत महिमा ला लाकर उसके विचार में मन को एकाग्र करता है। परद्रव्यों में से तथा परभावोंमें से तो अहंबुद्धि छोड़ी है तथा निजस्वरूप को ही अपना जानकर उसमें ही अहंबुद्धि करी है। मैं चिदानंद हूँ, मैं शुद्ध हूँ, मैं सिद्ध हूँ, मैं सहजसुखस्वरूप हूँ अनन्त शक्ति का निधान मैं हूँ, सर्वज्ञस्वभावी मैं हूँ - इत्यादि प्रकार से अपने निजस्वरूप में ही अहंबुद्धि कर करके उसका चिंतवन करता है। 'नियमसार' में प्रभु 'कुन्दकुन्दस्वामी' कहते है कि -

कैवल्य दर्शन-ज्ञान-सुख कैवल्य शक्ति स्वभाव जो।
मैं हूँ वही यह चिन्तवन होता निरन्तर ज्ञानिको।।९६।।
निजभाव को छोड़े नहीं, किंचित् ग्रहे परभाव नहि।
देखे व जाने मैं वही, ज्ञानी करे चिन्तन यही।।९७।।

- ऐसे निजआत्मा की भावना करने की सीख मुमुक्षु को दी है। तथा कहा है कि ऐसी भावना के अभ्यास से मध्यस्थता होती है अतः सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र भी ऐसी निजात्मभावना से प्रगट होता है। सम्यग्दर्शन होने के बाद, एवं सम्यग्दर्शन करने के लिये भी ऐसी ही भावना तथा ऐसा चिंतवन कर्तव्य है। 'सहज शुद्धात्मा की अनुभूति उतना ही मैं हूँ, अपने स्वसंवेदन में आ रहा हूँ वही मैं हूँ' - ऐसे सम्यक् चिंतन में सहज ही आनन्दतरंग उठती है तथा रोमांच होता है...

देखो तो सही, इसमें चैतन्य की अनुभूति के रस का कितना घोलन है ! ऊपर कहाँ वहाँ तक तो अभी सविकल्पदशा है। इस चिंतन में 'आनन्दतरंग उठ रही है' वह अभी निर्विकल्प अनुभूति का आनन्द नहीं है, किन्तु स्वभाव तरफ के उल्लास का आनन्द है, शांत परिणाम का आनन्द है; तथा उसमें स्वभाव तरफ के अतिशय प्रेम के कारण रोमांच होता है। रोमांच माने विशेष उल्लास; स्वभाव की तरफ का विशेष उत्साह; जिस प्रकार संसार में भव का या आनन्द का कोई खास विशिष्ट प्रसंग बनने पर रोमरोम उल्लसित हो जाते हैं, उसे रोमांच हुआ कहते हैं, उस प्रकार यहाँ स्वभाव के निर्विकल्प अनुभव के खास प्रसंग पर धर्मी को आत्मा के असंख्य प्रदेश में स्वभाव के अपूर्व उल्लास का रोमांच होता है। फिर चैतन्य स्वभाव के रस की उग्रता द्वारा वे विचार (विकल्प) भी छूट जाय और परिणाम अंतर्मग्न होने पर केवल चिन्मात्र स्वरूप भासित होने लगे, अर्थात् सभी परिणाम स्वरूप में एकाग्र होकर वर्ते, उपयोग स्वानुभव में प्रवर्ते, तब निर्विकल्प आनन्ददशा का अनुभव होता है। वहाँ दर्शन-ज्ञान-चारित्र से संबंधित या नयप्रमाण इत्यादि से संबंधित कोई विचार रहता नहीं है, सर्व विकल्प विलय को प्राप्त होते हैं। यहाँ स्वरूप में ही व्याप्य-व्यापकता है इसलिये द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों एकमेक-एकाकार अभेदरूप अनुभव में आते हैं। अनुभव करनेवाली पर्याय स्वरूप में व्याप्त हो गई है, अलग रहती नहीं है। परभाव सब अनुभव के बाहर रह गये, परन्तु निर्मल पर्याय तो अनुभूति में साथ में मिल गई।

पहले विचारदशा में ज्ञानने जो स्वरूप लक्ष में लिया था, उस स्वरूप में ज्ञान का उपयोग जुड़ गया, तथा बीच का विकल्प निकल गया, अकेला ज्ञान रह गया इसलिये अतीन्द्रिय निर्विकल्प अनुभूति हुई, परम आनन्द हुआ। ऐसी अनुभूति में प्रतिक्रमण, सामायिक, प्रत्याख्यान इत्यादि सभी धर्म समा जाते हैं। इस अनुभूति को ही जैनशासन कहा है; वही वीतरागमार्ग है, वही जैनधर्म है, वही श्रुत का साह है, संतो की तथा आगम की यही आज्ञा है। शुद्धात्म अनुभूति की महिमा अपार है, उसका कहाँ तक वर्णन करें ? अनुभूति करे उसे ही

उसका पता लग सकता है।

यह किसकी बात है ? गृहस्थ समकिती की बात है। जो अभी घर-कुटुम्ब-परिवार के बीच रह रहा है, व्यापार-धंधा-खाना बनाना इत्यादि भाव कर रहा है और अन्दर इन सभी से भिन्न शुद्धात्मा को भी जाना है, वह जीव उद्यम द्वारा बाहर से परिणाम को वापस खिंचकर, उपयोग को निजस्वरूप में जोड़ता है तथा निर्विकल्प अनुभूति करता है उसकी यह बात है। ऐसा अनुभव चारों गति के जीवों को (तिर्यंच तथा नारकी को भी हो सता है। पहले जिसने सच्चा तत्त्व निर्णय किया हो, वीतरागी देव-गुरु-धर्म की पहिचान की हो, नवतत्त्व में विपरीतता दूर की हो, पर्याय में आस्रव-बंधरूप विकार है, शुद्ध द्रव्य के आश्रयपूर्वक उसे टालकर शुद्धात्म अनुभूति से संवर-निर्जरारूप शुद्धदशा प्रगट होती है, - इस प्रकार अनकान्त द्वारा द्रव्य-पर्याय सभी पहलूओं से ज्ञानपूर्वक शुद्ध अनुभव होता है। अन्य लोग जो शुद्ध अनुभव की बात करते हैं उसमें तथा जैन के शुद्ध अनुभव में भारी फर्क है; अन्य लोग तो पर्याय में अशुद्धता थी और अशुद्धता हुई उसके स्वीकार के बिना एकान्त शुद्ध-शुद्ध अनुभव होता नहीं है। जैन का शुद्ध अनुभव तो शुद्ध-पर्याय के स्वीकार सहित है। पहले अशुद्धता भी वह मिटकर शुद्धपर्याय हुई उसका यदि स्वीकार न करे तो शुद्धता का अनुभव किया किसने ? तथा उस अनुभव का फल आया किसमें ? द्रव्य तथा पर्याय इन दोनों के स्वीकाररूप अनेकान्त के बिना अनुभव, अनुभव का फल यह कुछ बन सकता नहीं है। पर्याय अंतर्मुख होकर जब शुद्धस्वभाव का आराधन-सेवन-ध्यान करे तब ही शुद्ध अनुभव होता है।

यह शुद्ध अनुभव अर्थात् निर्विकल्प अनुभव क्या चीज़ है तथा कैसी यह अन्तरदशा है ! यह जिज्ञासु को लक्षगत कर लेना चाहिए। अहा, निर्विकल्प अनुभव का पूरा कथन करने की वाणी में ताकत नहीं है; ज्ञान में उसे जानने की ताकत है, अन्दर वेदन में आता है, पनर्तु वाणी में वह पूरा नहीं आता, ज्ञानी की वाणी में उसके मात्र संकेत-इशारे आते हैं। अरे, जो विकल्प से भी गम्य नहीं हो पाता ऐसा निर्विकल्प अनुभव वाणी से किस प्रकार गम्य होगा ?

वह तो स्वानुभवगम्य है।

कोई एक सज्जन साकर का मीठा स्वाद ले रहा हो वहाँ कोई दूसरा आदमी जिज्ञासापूर्वक उस सक्कर को खानेवाले को देखे अथवा उसके पास से सक्कर के मीठे स्वाद का वर्णन सुने उससे कोई उसके मुँह में सक्कर का स्वाद आ नहीं जाता; खुद सक्कर का टूकडा लेकर, मुँह में रखकर पिघलावे, तब ही उसे सक्कर के मीठे स्वाद का अनुभव होता है; उस प्रकार कोई सज्जन अर्थात् संत धर्मात्मा-सम्यग्दृष्टि निर्विकल्प स्वानुभव में अतीन्द्रिय आनन्द का मीठा स्वाद ले रहा हो, वहाँ अन्य जीव जिज्ञासापूर्वक उस अनुभवी धर्मात्मा को देखे तथा उनके पाससे प्रेमपूर्वक उस अनुभव का वर्णन सुने कोई उनको निर्विकल्प अनुभूति का स्वाद आ नहीं जाता, वह जीव खुद शुद्धात्मा को लक्ष में लेकर उसे ही मुख्य करके जब अंतर्मुख उपयोग द्वारा स्वानुभव करे तब ही उसे शुद्धात्मा के निर्विकल्प अनुभव के अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद वेदन में आता है। ऐसा स्वानुभव होने पर सम्यग्दृष्टि जानता है कि अहा, मेरी वस्तु मुझे प्राप्त हुई मेरेमें ही विद्यमान मेरी वस्तु को मैं भूल गया था वह धर्मात्मा गुरुओं के अनुग्रह से मुझे प्राप्त हुई। अपनी वस्तु अपने में ही है, वह निजध्यान द्वारा प्राप्त होती है, बाहर के कोई रागादि भाव द्वारा वह प्राप्त नहीं होती अर्थात् अनुभव में नहीं आती। सविकल्प द्वार के जरिये निर्विकल्प में आया - ऐसा उपचार से कहा जाता है। स्वरूप के अनुभव का उद्यम करते-करते प्रथम उसके सविकल्प विचार की धारा शुरु होती है, उसमें सूक्ष्म राग तथा विकल्प होते हैं, परन्तु उस राग को या विकल्प को साधन बनाकर तो कोई स्वानुभव में पहुँचा नहीं जाता, राग को तथा विकल्पों को लांघकर सीधे आत्मस्वभाव का अवलंबन लेकर उसको हीसाधन बनाये तब ही आत्मा का निर्विकल्प स्वानुभव होता है; और तब ही जीव कृतकृत्य होता है। शास्त्रों ने उसकी अपार महिमा गाई है।

सविकल्पमें से निर्विकल्प अनुभव होने की जो बात की, उस संबंध में अब शास्त्रधार देकर स्पष्ट कर रहे हैं।

प्रकरण - १०

स्वानुभव की और ढलती हुई विचारधारा
स्वानुभव ही आराधना का वास्तविक समय है।

'बड़े यचक्र ग्रन्थ में ऐसा ही कहा है; यथा -

तच्चाणेसणकाले समयं बुज्झेहि जुत्तिमग्गेण।
णो आराइणसमये पच्चक्खो अणुहवो जम्हा।।२६६।।

तत्त्व के अवलोकनकाल में समय अर्थात् शुद्धात्मा को युक्तिमार्ग से अर्थात् नय-प्रमाण द्वारा प्रथम जाने, तत्पश्चात् आराधना समय में अर्थात् अनुभव के काल में वह नय-प्रमाण नहीं है; क्योंकि वहाँ प्रत्यक्ष अनुभव है; जिस प्रकार रत्न की खरीदारी के समय तो अनेक विकल्प करता है, परन्तु उसे प्रत्यक्ष पहने तब विकल्प नहीं है, पहनने का सुख ही है।'

देखो, चैतन्यका अनुभव समझाने के लिये उदाहरण भी रत्न का दिया। उत्तम वस्तु समझाने के लिये दृष्टांत भी उत्तम वस्तु का दिया। रत्न लेनेके लिये कौन निकलता है ? कोई मामूली आदमी रत्न लेने के लिये नहीं आता, परन्तु उत्तम-पुण्यवान व्यक्ति रत्न खरीदने के लिये आता है; ऐसे यहाँ भी जो उत्तम जीव आत्मार्थी जीव चैतन्य के अनुभवरूप रत्न लेने के लिये आया है उसकी बात है; ऐसे जीव को पहले सविकल्प विचारधारा मे आत्मा के स्वरूप का अनेक प्रकार से चिंतन रहता है। जैसे रत्न खरीदनेवाला खरीद ते समय तो उससे संबंधित अनेक विचार करता है, रत्न की जात कैसी है, उसकी

झलक कैसी, तेज कैसा, वजन कितना, आकृति कैसी, रंग कैसा, कींमत कितनी, ग्रीवा में धारण करने पर कैसी शोभा देगा - इत्यादि अनेक प्रकार के विकल्पों द्वारा चारों पड़खों से रत्न का स्वरूप नक्की करता है, और बाद में उस रत्नहार की कींमत चुकाकर खरीदकर जब गले में साक्षात् पहनता है तब तो हार की प्राप्ति के संतोष का सुख ही रहता है, अन्य विकल्प वहाँ रहते नहीं है। वैसे चैतन्यरत्न की प्राप्ति का उद्यमी जीव पहले तो सविकल्प विचार से अनेक प्रकार से अपने स्वरूपका चिंतवन करता है : मेरास्वभाव द्रव्यदृष्टि से शुद्ध सिद्धसमान है, पर्यायदृष्टि मेरे में मलिनता है; मोक्षमार्ग निश्चय से शुद्ध स्वभाव के आश्रय से ही है; राग को यदि मोक्ष का कारण माने तो आस्रव एवं संवर तत्त्व भिन्न न रहे; उपयोग को अंतर्मुख करने से ही शुद्धात्मा की अनुभूति होती है और तभी आनन्द का वेदन प्रगट होता है। - इस तरह अनेक प्रकार से युक्ति द्वारा, नय-प्रमाण आदि द्वारा निर्णय करता है। आत्मा का स्वरूप कैसा ? उसकी शक्तियाँ कैसी ? उसका कार्य कैसा ? उसके प्रदेश कैसे ? उसके भाव कैसे ? स्वभावभाव कौनसे ? विकारी भाव कौनसे ? उपादेयरूप शुद्धस्वरूप कैसा ? उसके अनुभव का सुख कैसा ? उशका प्रयत्न कैसा ? - ऐसे अनेक प्रकार से विचार करके, निर्णय करते समय साथ में विकल्प होते हैं; परन्तु बाद में, सभी पडखो से स्वरूप का बराबर निर्णय करके, उसकी उत्कृष्ट महिमा लाकर प्रयत्नपूर्वक जब उपयोग को अंतर्मुख करके आत्मा का प्रत्यक्ष अनुभव करता है तब तो उस अनुभव को आनन्द का ही वेदन रहता है, ऊपर बताये हुए कोई विकल्प वहाँ रहते नहीं है। - इस तरह सम्यग्दृष्टि को निर्विकल्प अनुभव होता है। ऐसा अनुभव करना वही आराधना का वास्तविक काल है; ऐसा अनुभव ही सच्ची आराधना है। पहले विचारदशा में विकल्प था इसलिये सविकल्प द्वारा यह अनुभव हुआ - ऐसा कहा, परन्तु वास्तव में तो विकल्प द्वारा कोई अनुभव हुआ नहीं है, विकल्प टूटा तब साक्षात् अनुभव हुआ है। तथा उस अनुभव को 'प्रत्यक्ष' कहा है। 'पच्चक्खो अपुहवो जम्हा' (प्रवचनसार गाथा ८० में भी मोहक्षय का उपाय बताते हुए ऐसी ही शैली का वर्णन किया

है; वहाँ प्रथम अरिहंत के द्रव्य-गुण-पर्याय की पहिचान द्वारा अपना स्वरूपचिंतवन करके, फिर साक्षात् अनुभव करता है - ऐसा बताया है।)

`विचार में तो विकल्प होते हैं' ऐसा समझ कर कोई जीव विचारधारा को ही न शुरु करे, तो कहते हैं कि भाई ! विचार में कोई अकेले विकल्प ही नहीं है; विचार में साथ में ज्ञान भी तत्त्वनिर्णय का काम करता है। उसमें ज्ञान की मुख्यता कर तथा विकल्प को गौण कर। इस प्रकार स्वरूप का अभ्यास करते करते ज्ञानका बल बढ़ने से विकल् टूट जायेगा तथा ज्ञान रह जायेगा, अर्थात् विकल्प से पृथक् ज्ञान अन्तरमें झूककर स्वानुभव कर लेगा। परन्तु जो जीव तत्त्व का अन्वेषण ही करता नहीं है, आत्मा की विचारधारा ही जो प्रारंभ नहीं करता उसे तो निर्विकल्प स्वानुभव कहाँ से होगा ? अतः जो जिज्ञासु होकर स्वानुभव करना चाहता है, वह तत्त्वों का यथार्थ अन्वेषण करके तत्त्वनिर्णय करता है तथा स्वभाव तरफ की विचारधारा शुरू करता है, वह जीव अपना कार्य अधूरा छोड़ेगा नहीं; वह पुरुषार्थ द्वारा विकल्प को तोड़कर, स्वरूप में उपयोग जोड़कर निर्विकल्प स्वानुभव करेगा ही। स्वभाव के लक्षपूर्वक उद्यम शुरु किया है वह विकल्प में रुकेगा नहीं, विकल्प में संतोष प्राप्त नहीं कर लेगा; वह तो स्वानुभव द्वारा कृतकृत्यदशा को प्रगट करके ही चैन लेगा। इसलिये (श्रीमद् राजचंद्रजी ने) कहा है कि `कर विचार तो पायेगा।'

अब निर्विकल्प अनुभव में ज्ञान किस प्रकार वर्तता है यह बता रहे हैं।

प्रकरण - ११

निर्विकल्प अनुभव के समय (ज्ञान) की स्थिति का वर्णन

`पुनःश्च जो ज्ञान पाँच इन्द्रिय तथा छठे मन द्वारा प्रवर्तता था वह ज्ञान सभी तरफ से सिमटकर निर्विकल्प-अनुभव में केवल स्वरूपसन्मुख हुआ; क्योंकि यह ज्ञान क्षयोपशमरूप है, वह एक काल में एक ज्ञेय को ही जान सकता है। अब इस ज्ञान ने स्वरूप को जानने के लिये प्रवर्तन किया तब अन्य को जानना सहज ही बंद हुआ। वहाँ ऐसी दशा हुई कि बाह्य अनेक शब्दादि विकार हो तो भी स्वरूप ध्यानी को उसकी कुछ खबर नहीं है। इस प्रकार मतिज्ञान भी स्वरूप-सन्मुख हुआ। ऐसा वर्णन `समयसार' की टीका `आत्मख्याति' में किया है तथा `आत्मावलोकन' आदि में है।'

साधक को निर्विकल्प अनुभव में मतिश्रुतज्ञान काम करता है। मतिश्रुतज्ञान क्षयोपशमभावरूप है, अतः एक समय में एक ज्ञेय को ही जानने में वह प्रवर्तता है; या स्व को जानने में उपयोग रहता है और या पर को जानने में उपयोग रहता है। केवलज्ञान में तो स्व-पर सभी को एक साथ जानने का पूरा सामर्थ्य प्रगट हो चुका है, परन्तु इस (मति-श्रुत) ज्ञान में तो अभी ऐसा सामर्थ्य खिला नहीं है; अतः जब स्व को जानने में उपयोग होता है तब पर को जानने में उपयोग नहीं होता, और जब पर को जानने में उपयोग होता है तब स्व को जानने में उपयोग नहीं होता। स्व को जानने में उपयोग न हो, इससे कोई अज्ञान नहीं हो जाता; क्योंकि स्वसंवेदन के काल में जो ज्ञान हुआ है

वह लब्धरूप में तो विद्यमान है ही।

क्षयोपशमज्ञान की शक्ति ही इतनी मंद है कि एक समय में उसकी प्रवृत्ति एक तरफ ही होती है। अतः या तो स्व को जानने में प्रवर्तन करे, या पर को जानने में प्रवर्तन करे। अपने में तो ज्ञान के साथ आनन्द, प्रतीति, इत्यादि सभी गुणों का जो निर्मल परिणमन अभेदरूप वर्तता है उसे (अर्थात् समूचे आत्मा को) तन्मयतापूर्वक जानता है। स्व को जानते समय आनन्दधारा में उपयोग तन्मय हुआ है इसलिये उस निर्विकल्पदशा में विशिष्ट आनन्द का वेदन होता है।

देखो, यह कोई केवलज्ञान के समय की बात नहीं है, परन्तु घर-गृहस्थी में स्थित चौथे-पाँचवें गुणस्थानवाले जीवकी यह बात नहीं है, परन्तु घर-गृहस्थी में स्थित चौथे-पाँचवे गुणस्थानवाले जीव की यह बात है। सातवें गुणस्थान से तो निर्विकल्प स्वउपयोग ही होता है; छठे-सातवें गुणस्थानवर्ती मुनिराज को अंतर्मुहूर्त में नियमपूर्वक निर्विकल्प अनुभव होता है। चौथे-पाँचवे गुणस्थान में कभी कभी स्वउपयोग होता है। वहाँ पर तरफ के उपयोग के समय स्व का ज्ञान लब्धरूप में होता है, अतः पहले स्वसंवेदन से जो आत्मस्वरूप जाना है तथा प्रतीति में लिया है उसमें कोई फर्क नहीं पड़ जाता।

'एक ज्ञेय' अर्थात् स्वज्ञेय अथवा परज्ञेय - इन दोमें से एक ऐसा अर्थ लेना; वैसे तो मतिज्ञान के विषय में बहुत-बहुविध इत्यादि अनेक प्रकार लिये हैं। एक साथ अनेक मनुष्य एवं पशु-पंखी की आवाजें सुने तथा उसमें से प्रत्येक की आवाज़ को भिन्न-भिन्न सुने ऐसी गणधर देव की ताकत होती है फिर भी उनको भी स्व में तथा परमें ऐसे एक साथ दोनों में उपयोग होता नहीं है। परन्तु, स्व-पर की भिन्नता का जो भान हुआ है वह तो परज्ञेय में उपयोग के समय धर्मी को भी कोई खिसक नहीं जाता; उपयोग यदि दो घड़ी तक स्वज्ञेय में टिक जाय तो तो केवलज्ञान हो जाय। छद्मस्थ को इतने लम्बे समय तक उपयोग स्वज्ञेय में टिकता नहीं है। यहाँ कहते हैं कि उपयोग भले सदैव स्व में न रहें परन्तु लब्धज्ञान तो प्रतिक्षण वर्तता ही है; अतः परज्ञेय को जानने में भी धर्मी कहीं भी एकता नहीं होती। धर्मी सब जगह से भिन्न

और भिन्न ही रहता है। बाहर से देखनेवालों को औरों के समान सब एक-सा लगे कि हम भी शुभ-अशुभ करते हैं और हमारी तरह यह धर्मी भी शुभाशुभ कर रहा है। - परन्तु भाई ! उसकी परिणति भीतर में राग से भिन्न रटकर कोई अलग तरह का ही काम कर रही है। उसकी प्रतीति में, उसके ज्ञान में स्वज्ञेय का कभी विस्मरण नहीं होता, उपयोग भले बाहर में कदाचित् विषय-कषायों में या लडाई इत्यादि में भी हो। हालाँ कि उसे विशेषरूप से तो शुभराग देव-गुरु-शास्त्र की सेवाभक्ति, स्वरूपचिंतवन इत्यादि ही होता है; फिर भी उस भूमिका में अशुभ का भी सर्वथा अभाव नहीं हुआ होता है। पाँचवे गुणस्थान में भी अशुभभाव कभी-कमार आ जाता है। परन्तु यहाँ पर तो उसी समय उसके अन्तर में श्रद्धा की तथा ज्ञान की निर्मलगंगा का जो सम्यक् प्रवाह बह रहा है वह दिखाना है। ज्ञानगंगा सा वह सम्यक् प्रवाह सारे ही विकारों को धो डालेगा और केवलज्ञान - समुद्र में जाकर मिल जायेगा।

ऐसे धर्मी को जिस समय स्वज्ञेय में उपयोग होता है उस समय की यहबात चल रही है। अहा, निर्विकल्प अनुभव में चातन्य का गोला जगत से ऐसा भिन्न अनुभव में आता है कि बाहर में क्या हो रहा है उसका लक्ष नहीं है, देहका क्या हो रहा है, अरे ! देह है या नहीं है इसका भी लक्ष नहीं है। आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द में ही मग्न है। ऐसी स्थिति चौथे गुणस्थान में गृहस्थश्रावक की होती है। ऐसे आत्मस्वरूप को साधने को जो निकला है उसे जगत के कोई संयोग डिगा नहीं सकते, प्रतिकूल या अनुकूल कोई संयोग उसे हिला नहीं सकते। जहाँ जगतसे ही भिन्न चैतन्य का गोला स्वानुभव में लिया वहाँ पर का असर कैसा ? तथा परभाव भी कैसे (हो) ? परभाव परभावों में हैं, मेरे चैतन्यगोले में परभाव नहीं हैं। अहा, ऐसा वेदन सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा को होता है।

अनादि से मति-श्रुतज्ञान सिर्फ परज्ञेय की तरफ झुका है, ज्ञान स्वभाव के सम्यक्निर्णय के जोर से उस मति-श्रुतज्ञान को स्व की तरफ झुकाने से ऐसा स्वानुभव होता है। इस अनुभव में भगवान आत्मा प्रसिद्ध होता है। 'समयसार'

गाथा १४४ में इसका अलौकिक वर्णन किया है; वहाँ कहते हैं कि : प्रथम श्रुतज्ञान के अवलंबन से ज्ञानस्वभावी आत्मा का निश्चय करके, ... (यहाँ तक अभी सविकल्पदशा है) ... तत्पश्चात्, आत्मा की प्रगट प्रसिद्ध के लिये अर्थात् अनुभव के लिये परपदार्थ की प्रसिद्धि के कारणरूप जो इन्द्रिय द्वारा तथा मन द्वारा प्रवर्तती बुद्धियाँ - उस बुद्धि को मर्यादा में लाकर मतिज्ञानतत्त्व को आत्मसन्मुख किया, तथा अनेक प्रकार के नयपक्ष के विकल्प से आकुलता को उत्पन्न करनेवाली श्रुतज्ञान की बुद्धियों को भी मर्यादा में लाकर श्रुतज्ञानतत्त्व को भी आत्मसन्मुख किया, इस प्रकार मतिश्रुतज्ञान को पर तरफ से वापस खींचकर आत्मस्वभाव की तरफ झुकाने पर तुरंत ही अत्यंत विकल्परहित होकर आत्मा अपने शुद्धस्वरूप का अनुभव करता है, उसमें आत्मा सम्यक्रुप से दिखता है तथा जानने में आता है, अतः वही सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्ज्ञान है। इस अनुभव को 'प्रक्षातिक्रान्त' कहा है, क्योंकि उसमें नयपक्ष के कोई विकल्प नहीं है। ऐसा अनुभव करे तब जीव को सम्यग्दर्शन हुआ, कहा जाता है। ऐसा अनुभव किस प्रकार से हो ? इसकेलिये पहले ही कहा कि 'प्रथम श्रुतज्ञान के अवलंबन से ज्ञानस्वभावी आथ्मा का आत्मा का निश्चय करके...' अर्थात् ऐसे यथार्थ निश्चय के बल से विकल्प टूटकर साक्षात् अनुभव होता है। अन्तर में वस्तुस्वरूप का सही निर्णय यह मुख्य वस्तु है, उसकी महत्ता जगत को दिखती नहीं है बाहर की क्रियाकी महत्ता दिखती है, परन्तु यह कोई उपाय नहीं है। अन्तर में आत्मा के स्वभाव का बराबर निर्णय करके उसका घोलन करने पर स्वानुभव होता है और यही सम्यग्दर्शन का उपाय है। तत्त्व के अन्वेषणकाल में अर्थात् निर्णय के उद्यम के समय नय-प्रमाण इत्यादि के विचार होते हैं, परन्तु उसके द्वारा धन के समय तो साक्षात् अनुभव है, वहाँ नय-प्रमाण के विकल्प नहीं हैं, अतः उस अनुभव को नयातीत कहा है; वहाँ तो निर्विकल्पता के आनन्द का वेदन ही वर्तता है; भगवान आत्मा अनुभव में प्रसिद्ध वर्तता है, अतः उसके अन्वेषण के विकल्प वहाँ रहते नहीं है। देखो, यह ज्ञानी का अनुभव ! ऐसे अनुभव का नाम धर्म है।

अब कहते है कि ऐसे निर्विकल्प अनुभव के समय आत्मा का उपयोग इन्द्रियों या मन की तरफ नहीं है परन्तु अपने में ही उपयोग है अतः उसे अतीन्द्रिय कहते हैं।

प्रकरण - १२

स्वानुभव के समय ज्ञान का अतीन्द्रियपना

'... इसलिये निर्विकल्प अनुभव को अतीन्द्रिय कहते हैं; क्योंकि इन्द्रियों का धर्म तो यह है कि स्पर्श-रस-गंध-वर्ण को जाने। वह यहाँ है नहीं; तथा मन का धन्म यह है कि अनेक विकल्प करे, वह भी यहाँ पर है नहीं। अतः जो ज्ञान इन्द्रियों तथा मन द्वारा प्रवर्तता था वही ज्ञान जब अनुभव में प्रवर्तता है तब उसे अतीन्द्रिय कहते हैं।'

देखो, स्वानुभव में मति-श्रुतज्ञान को अतीन्द्रिय कहा। स्वानुभव के समय मतिज्ञान तथा श्रुतज्ञान दोनों स्वरूपसन्मुख ही हुए हैं इसलिये इन्द्रियातीत हुए हैं, इन्द्रियों का या मन का अवलम्बन उसमें नहीं है अतः उस अनुभव को अतीन्द्रिय कहते हैं। मन का अवलम्बन नहीं है इसलिये राग का भी अवलंबन नहीं है यह बात उसमें समोहित ही है; राग में तो मनका अवलम्बन है। राग के (व्यवहार के) अवलम्बन से निश्चय स्वानुभव प्राप्त होगा ऐसा जो मानता है उसे मन के अवलम्बन रहित अतीन्द्रिय स्वानुभव कभी होता नहीं है। क्योंकि वह तो रागके या मन के अवलंबन को छोड़कर आघे ही नहीं बढ़ता है। रागातीत एवं मनातीत अनुभव की उसे खबर नहीं है।

अहा, इस स्वसन्मुख मति-श्रुतज्ञान की महिमा क्या कहें ? वे तो केवलज्ञान के साधक है। सम्यग्दृष्टि के (चौथे गुणस्थान के) स्वानुभव को भी अतीन्द्रिय कहते हैं, क्योंकि उसमें इन्द्रियों का या मन का व्यापार नहीं है। इन्द्रियाँ तथा मन का व्यापार तो पर की तरफ होता है, स्वरूप में उपयोग के समय पर

तरफ का व्यापार नहीं है। इन्द्रियाँ तथा मन का ऐसा स्वभाव नहीं है कि स्वानुभव में सहायभूत होवे। जितना स्वानुभव है उतने अंशमें तथा उतने अनुपात में इन्द्रिय तथा मन का अवलम्बन छूटा है तथा ज्ञान अतीन्द्रिय हुआ है। यदि उतना अतीन्द्रियपना न हो तथा इन्द्रिय का अवलंबन ही रहे तो तो आत्मा अकेले इन्द्रियज्ञान का विषय हो जाय - परन्तु ऐसा बनता नहीं है। 'प्रवचनसार' में स्पष्ट कहा है कि आत्मा 'अलिंगग्राह्य' है, लिंगसे अर्थात् इन्द्रियों द्वारा उसका ग्रहण होता नहीं है, इन्द्रियों द्वारा वह जानने में आता नहीं है। अतः स्वानुभव से आत्मा को जाननेवाला ज्ञान अतीन्द्रिय है।

- मति-श्रुतज्ञान भी अतीन्द्रिय !!

- हाँ भाई ! उस मति-श्रुतज्ञान की ही यह बात है। यह कोई केवलज्ञानी की बात नहीं है। यहाँ तक कि बारहवें गुणस्थान तक भी स्वानुभव का कार्य तो मति-श्रुतज्ञान से ही होता है। किसी को अवधि-मनःपर्य ज्ञान खिल गये हो तो भी निर्विकल्प ध्यान के समय वे एकतरफ रह जाते हैं, उनका उपयोग होता नहीं है। मति-श्रुतज्ञान स्वानुभव के समय स्व में इस तरीके से एकाकार होकर परिणमित हो जाते हैं कि, मैं ज्ञाता हूँ और शुद्धात्मा मेरा स्वज्ञेय है ऐसे ज्ञाता-ज्ञेय के भेद का विचार भी वहां रहता नहीं है, वहाँ तो द्रव्यपर्याय (ध्येय व ध्याता अथवा ज्ञेय व ज्ञान) एकरस होकर अनुभव में आता है। इस अनुभव की महिमा वाणी तथा विकल्प से पर है। अपने संवेदन के बिना सिर्फ वाणी या विकल्प द्वारा उसका सही ख्याल नहीं आता। अतः 'समयसार' में आछार्यदेवने खास सिफारिश की है कि निजवैभव से मैं जिस शुद्ध आत्मा को दर्शित कर रहा हूँ वह तुम अपने स्वानुभव द्वारा प्रमाणित करना।

अहा, अध्यात्मरस की ऐसी बात ! उसकी विचारधारा, उसका निर्णय तथा उसका स्वानुभव, यही करने लायक है। इसके लिये सतत-निरंतर अभ्यास चाहिए। सत्समागममें श्रवण करके, मनन करके, एकान्त में स्थिर चित्तपूर्वक उसका अभ्यास करना चाहिए। इस मनुष्यभव में वास्तव में करने लायक तो यही है, और अभी सही अवसर है। - सब अवसर आ चूका है।

इस प्रकार मति-श्रुतज्ञान द्वारा जो स्वानुभव होता है उसका अतीन्द्रियपना बताया; फिर भी ज्ञान में अभी मन का अवलम्बन सर्वथा छूट गया नहीं है यह भी बताते हैं :

सुवाक्य

स्वसत्ता के अवलंबन से ज्ञानी निजात्मा का अनुभव करता है। अहो ! ऐसे स्वानुभव ज्ञान से मोक्षमार्ग की साधना करनेवाले ज्ञानी की महिमा की क्या बात करें। उसकी दशा को पहिचाननेवाले जीव निहाल हो गये हैं !!

प्रकरण - १३

स्वानुभव समय के उपयोग का विशेष वर्णन

`तथा यह स्वानुभव मन द्वारा हुआ ऐसा भी कहते हैं क्योंकि इस अनुभव में मतिज्ञान-श्रुतज्ञान ही है, अन्य कोई ज्ञान नहीं है; मति-श्रुतज्ञान इन्द्रिय तथा मन के अवलंबन बिना होता नहीं है; उनमें से इन्द्रियों का तो यहाँ अभाव ही है क्योंकि इन्द्रिय का विषय मूर्तिक पदार्थ ही है। तथा यहाँ मतिज्ञान है, क्योंकि मन का विषय मूर्तिक-अमूर्तिक पदार्थ हैं, अतः यहाँ मन से संबंधित परिणाम स्वरूप विषय में एकाग्र होकर अन्य चिन्ता का निरोध करता है अतः उसे मन द्वारा हुआ - ऐसा कह रहे हैं। `एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम्' ऐसा ध्यान का लक्षण भी कहा है, वह अनुभवदशा में सम्भव है। तथा `समयसार-नाटक' के कवित में कहा है कि -

वस्तु विचारत ध्यावतैं, मन पावै विश्राम।
रस स्वादत सुख ऊपजै, अनुभव याकौ नाम।।

इस प्रकार मन बिना जुदे ही परिणाम स्वरूप में प्रवर्तित नहीं होते, अतः स्वानुभव को मनजनित भी कहते हैं। इस प्रकार स्वानुभव को अतीन्द्रिय कहने में अथवा तो मनजनित कहने में कोई विरोध नहीं है, विवक्षाभेद है।' (पृष्ठ-३४५-३४६)

अमूर्तिक चिदानन्दस्वभाव के स्वानुभव में इन्द्रिय का निमित्त तो नहीं है; इन्द्रियाँ तो स्पर्शादि मूर्त वस्तु को ही जानने में निमित्त हो सकती है; अमूर्त आत्मा को जानने में इन्द्रियों का अवलंबन नहीं है। मन अमूर्त वस्तु को भी जानता है तथा मन का अवलंबन अभी सर्वथा छूटा नहीं है क्योंकि मति-श्रुतज्ञान है। अवधि या मनःपर्ययज्ञान का उपयोग स्वानुभव में होता नहीं है, स्वानुभव में मति-श्रुतज्ञान का उपयोग होता है। अवधि तथा मनःपर्ययज्ञान का विषय भी रूपी ही गिनने में आया है, अरूपी आत्मवस्तु का स्वानुभव तो मति-श्रुतज्ञान द्वारा ही होता है। मति-श्रुतज्ञान सामान्यतया इन्द्रिय तथा मन द्वारा वर्तता होने के वज्रहसे उनको हाला कि परोक्ष कहा है, फिर भी, स्वानुभव के समय इन्द्रिय का अवलम्बन छूटकर तथा बुद्धि पूर्वक का मन का भी अवलम्बन छूटकर अतीन्द्रिय उपयोग हुआ होने की वज्रहसे उनको प्रत्यक्ष भी कहा जाता है। केवलज्ञान में असह्य आत्मप्रदेश जिस प्रकार प्रत्यक्ष प्रतिभासित होते हैं वैसे मति-श्रुतज्ञान में प्रत्यक्ष भासित नहीं होते, फिर भी स्वानुभवमें मति-श्रुत को प्रत्यक्ष कहा क्योंकि स्वानुभव के समय उपयोग आत्मा में एकाग्र होकर, इन्द्रिय या मन के अवलम्बन के बिना अतीन्द्रिय आनंद का वेदन साक्षात् करता है। अतीन्द्रिय हुए बिना अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन कर नहीं सकता। इस प्रकार स्वसंवेदन तो प्रत्यक्ष है, परन्तु केवलज्ञानी की भाँति आत्मप्रदेश स्पष्ट भासित नहीं होने की अपेक्षापूर्वक परोक्षपना है। ऐसा प्रत्यक्ष व परोक्षपना ज्ञान में लागू होता है, सम्यग्दर्शन में तो प्रत्यक्ष तथा परोक्ष ऐसा भेद नहीं है; वह तो स्वानुभव में उपयोग के समय या बाहर में उपयोग के समय एकसमान ही निर्विकल्प-प्रतीतिरूप वर्तता है। स्वानुभव के समय उपयोग स्वमें-एक में ही ठहर गया है तथा अन्य वस्तु का चिंतन रुक गया है इसलिये उसे एकाग्रचिंतानिरोधरूप ध्यान भी कहा जाता है।

अवधि मनःपर्यय तथा केवलज्ञान को प्रत्यक्ष कहा है; परन्तु उसमें से केवलज्ञान तो साधक को होता नहीं है; मनःपर्ययज्ञान किसी मुनि को ही होता है। परन्तु वह मनःपर्यय या अवधिज्ञान स्वानुभव में उपयोगरूप नहीं होता। स्वानुभव तो

मति-श्रुतज्ञान द्वारा ही होता है। पहले ज्ञानस्वभाव के अवलंबन द्वारा यथार्थ निर्णय करके, फिर मति-श्रुत के उपयोग को बाहर से समेटकर आत्मा में मोड़कर एकाग्र करने पर विज्ञानघन आत्मा आनन्दसहित अनुभव में आता है; वही सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान है। उसकी विधि समयसार गाथा १४४ में अद्‌भुत तरीके से बहुत स्पष्ट करके समझाई है। सँवर अधिकार में भी उपयोगस्वरूप आत्मा का तथा क्रोधादि परभावों का भेदज्ञान अलौकिक पद्धति से, एकदम सरल रीति से बताया है। वहाँ कहते हैं कि उपयोगस्वरूप आत्मा उपयोग में ही है, क्रोधादि में नहीं है; तथा क्रोधादि परभाव क्रोधादि में ही है, वे उपयोग में नहीं है। इस प्रकार उपयोग की एवं क्रोधादि की अत्यंत भिन्नता है। जैसे आकाश आकाश में ही है उसको कोई अलग आधार नहीं है, वैसे ज्ञान ज्ञानमें ही है, अकेले ज्ञानस्वभाव को लक्ष में लेकर चिंतवन करने पर किसी भिन्न आधार का विकल्प उत्पन्न नहीं होता, अर्थात् ज्ञान में ही ज्ञान जम जाता है तथा निर्विकल्प अनुभवसहित भेदज्ञान होता है। ऐसे अनुभवकाल में कोई विकल्प नहीं है, ज्ञान अन्तर में एकाग्र हुआ है तथा अन्य चिंताएँ रुक गई है। इसका वर्णन करते हुए 'पं.बनारसीदासजी' कहते हैं -

वस्तु विचारत ध्यावतैं, मन पावै विश्राम।
रस स्वादत सुख ऊपजै, अनुभव याकौ नाम।।

इस स्वानुभव में जिस आनन्द के स्वाद का वेदन है उसका तो अपने उपयोग द्वारा आत्मा सीधा ही अनुभव करता है, उस स्वाद का वेदन कोई आगम द्वारा या अनुमान इत्यादि परोक्ष तरीके से नहीं करता, परन्तु अपने ही स्वानुभवप्रत्यक्ष द्वारा उसका वेदन करता है, स्वयं ही उपयोग को एकाग्र करके सीधा उस अनुभव के रस का आस्वादन करता है; इसलिये वह अतीन्द्रिय है। यह अनुभव इन्द्रियों से तथा विकल्पों से पार है। अनुभव में से बाहर आने के बाद जो विकल्प उठते हैं वे विकल्प भी ज्ञान से भिन्नरूप ही रहते हैं; अनुभवी धर्मात्मा को ज्ञान की तथा विकल्प की एकता कभी होती नहीं है, उसे सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान सातत्यरूप (धाराप्रवाह) वर्तता है। सम्यक्त्व

की तथा स्वानुभव की दशा कोई अलौकिक है।

इस प्रकार निश्चय तथा व्यवहार सम्यक्त्व कास्वरूप, निर्विकल्प अनुभव न हो तब भी सम्यग्दृष्टि को सम्यग्दर्शन की विद्यमानता तथा स्वानुभव के समय मतिश्रुतज्ञान की अतीन्द्रिय ता किस प्रकार है तथा ऐसा निर्विकल्प स्वानुभव किस प्रकार के उद्यम से होता है ये सारी बातें बहुत सुन्दर तरीके से समझाई है। अब पत्र में साधर्मियों द्वारा लिखी हुई अन्य चर्चाओं का जवाब लिख रहे है।

सुवाक्य

आत्मा का स्वानुभव होने पर समकिती जीव केवलज्ञानी के बराबर ही निःशंकतापूर्वक जानता है कि आत्मा का आराधक हुआ हूँ तथा प्रभु के मार्ग में सम्मिलित हुआ हूँ, स्वानुभव हुआ तथा भवकोटी हो गई; अब हमें इस भवभ्रमण में भटकना रहा नहीं है। - इस प्रकार भीतर से आत्मा स्वयं ही स्वानुभव का ललकारा करता हुआ जवाब देता है।

प्रकरण - १४

अंतर्मुख मति-श्रुत की अतीन्द्रिय ताकत

`तथा तुमने लिखा कि आत्मा अतीन्द्रिय है; इसलिये वह अतीन्द्रिय द्वारा ही ग्राह्य हो सकता है; सो (भाईजी) मन अमूर्तिक का भी ग्रहण करता है क्योंकि मति-श्रुतज्ञान का विषय सर्वद्रव्य कहे गये हैं। `तत्वार्थसूत्र' में कहा है कि - `मति श्रुतयोनिभन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्योषु।''

मति-श्रुतज्ञान तो परोक्ष है तथा उसमें अभी मन का अवलंबन तो विद्यमान है अतः उसके द्वारा अतीन्द्रिय आत्मा कैसे जाना जाय ? - तो कहते हैं कि मतिश्रुतज्ञान में भी अतीन्द्रिय आत्मा को जानने की ताकत है। मूर्त-अमूर्त समस्त द्रव्य मतिश्रुतज्ञान का विषय है। तथा आत्मा को जानने के काल में मतिश्रुतज्ञान में भी कथंचित् प्रत्यक्षपना हो जाता है, उतने अंश में उसमें से मन का तथा इन्द्रिय का अवलम्बन छूट जाता है। इस प्रकार मति-श्रुतज्ञान भी स्वसन्मुख होकर आत्मा को बराबर जान सकते हैं। हाँ, इतना जरुर है कि इन्द्रिय तरफ वर्तते हुए मति-श्रुतज्ञान अतीन्द्रिय आत्मा को पकड़ सकते नहीं है; परन्तु इन्द्रियों से एवं इन्द्रिय के विषयों से भिन्नता भासित करके मैं तो ज्ञानस्वभाव हूँ, इस प्रकार अंतरस्वभाव की और झुका हुआ मतिश्रुतज्ञान अतीन्द्रिय आत्मा को बराबर जान लेता है।

अब, प्रत्यक्ष एवं परोक्षपना सम्यक्त्व में नहीं है, परन्तु ज्ञान में है, इस विषय की विस्तारपूर्वक चर्चा करते हैं।

प्रकरण - १५

स्वानुभूति का रंग चढ़ जाय - ऐसी बात प्रत्यक्ष-परोक्षपना ज्ञान में है, सम्यक्त्व में नहीं

`तथा तुमने प्रत्यक्ष-परोक्ष के संबन्ध में प्रश्न लिखा। परन्तु भाईजी, (सम्यक्त्व में तो) प्रत्यक्ष-परोक्षरूप भेद नहीं है; चौथे गुणस्थान में सिद्धसमान क्षायिक सम्यक्त्व हो जाता है। अतः सम्यक्त्व तो केवल यथार्थ श्रद्धानरूप ही है, तथा शुभाशुभ कार्य करते समय भी वह रहता है। अतः आपने जो लिखा है कि `निश्चय सम्यक्त्व प्रत्यक्ष है तथा व्यवहार सम्यक्त्व परोक्ष है' सो ऐसा नहीं है। सम्यक्त्व के तो तीन भेद है : उनमें उपशमसम्यक्त्व तथा क्षायिक सम्यक्त्व तो निर्मल है क्यों कि वह मिथ्यात्व के उदयरहित है, तथा क्षयोपशम सम्यक्त्व समल है। (क्योंकि सम्यक्त्व मोहनीय के उदय से सहित है) परन्तु इस सम्यक्त्व में प्रत्यक्ष-परोक्ष ऐसे भेद तो नहीं है। क्षायिक सम्यग्दृष्टि को शुभाशुभरूप प्रवर्ते हुए ... स्वानुभवरूप प्रवर्तते हुए सम्यक्त्वगुण तो सामान्य (एक समान) ही है; इसलिये सम्यक्त्व के तो प्रत्यक्ष-परोक्ष ऐसे भेद नहीं मानना। परन्तु प्रमाण के प्रत्यक्ष और परोक्ष ऐसे भेद हैं।'

साधर्मी के प्रति प्रेमपूर्वक संबोधन करते हुए लिखते है कि, भाईजी ! सम्यग्दर्शन के प्रत्यक्ष-परोक्षपने के सम्बन्ध में आपने लिखा है; किन्तु ऐसे भेद सम्यक्त्व में नहीं है। सम्यक्त्व तो शुद्ध आत्मा की प्रतीतिरूप है। वह प्रतीति सिद्धभगवान

को या तिर्यंच सम्यग्दृष्टि को समान ही है। सिद्ध भगवान को सम्यक्त्व में जैसी शुद्धात्मा की प्रतीति है वैसे ही शुद्धात्मा की प्रतीति चौथेगुणस्थानवर्ती समकिती को भी है, उसमें कोई फर्क नहीं है। सिद्धभगवान का सम्यक्त्व प्रत्यक्ष तथा चौथे गुणस्थानवाले का परोक्ष ऐसा भेद नहीं है; अथवा तो स्वानुभव के काल में सम्यक्त्व प्रत्यक्ष और बाहर शुभाशुभ में उपयोग हो तब सम्यक्त्व परोक्ष - ऐसा भी नहीं है। शुभाशुभ में प्रवर्तता हो तब, या स्वानुभव के शुद्धोपयोग में प्रवर्तता हो तब भी सम्यग्दृष्टि को सम्यक्त्व तो एकसमान ऐसा का ऐसा है, अर्थात् शुभाशुभ के समय सम्यक्त्व में कोई मलिनता हो गई - ऐसा नहीं है।

अहो ! देखो, यह सम्यग्दर्शन की तथा स्वानुभव की चर्चा ! यह मूलभूत वस्तु है। स्वानुभव क्या चीज़ है उसकी पहिचान भी जीवको कठिन है। पहले वस्तुस्वरूप का यथार्थ निर्णय करे, जीव क्या, अजीव क्या, स्वभाव क्या, परभाव क्या, यह बराबर पहिचान कर, फिर मतिश्रुतज्ञान को अन्तर में झुकाकर स्वद्रव्य में परिणाम को एकाग्र करने पर सम्यग्दर्शन व स्वानुभव होता है। ऐसा अनुभव करे तब ही मोहकी गांठ टूटती है, तथा तब ही जीव भगवान के मार्ग में आता है।

भाई ! यह तो सर्वज्ञ का निर्ग्रंथ मार्ग है। यदि तू स्वानुभव के द्वारा मिथ्यात्व की गांठ नहीं तोड़ता है तो निर्ग्रंथमार्ग में कैसे आ गया ? जन्म-मरण की गांठ यदि नहीं तोड़ी तो निर्ग्रंथमार्ग में जन्म लेकर तूने क्या किया ? भाई ! ऐसा अवसर मिला है तो ऐसा उद्यम कर कि जिससे जन्म-मरण की गांठ टूटे और अल्पकाल में मुक्ति हो जाय।

इस में सम्यग्दर्शन का स्वरूप तथा उसे प्रगट करने की विधि भी साथ में ही सम्मिलित है। जिसे सम्यग्दर्शन प्रगट करना हो उसे क्या करना ? सम्यग्दर्शन कहाँ खोजना ?

- पर में खोजने से सम्यग्दर्शन मिल सकेगा नहीं।
- देहादि की क्रिया में या शुभराग में सम्यग्दर्शन मिल सके ऐसा है नहीं।

- सम्यग्दर्शन तो आत्मा के स्वभाव का ही भाव है। इसलिये आत्मा में से ही वह मिल सकता है।

- आत्मा अनन्द व ज्ञानस्वरूप है, अंतर्मुख होकर उसकी निर्विकल्प प्रतीति करना यह सम्यग्दर्शन है।

- यह सम्यग्दर्शन मम व इन्द्रियोंसे पार निर्विकल्प आथ्मप्रतीतिरूप है।

- यह सम्यग्दर्शन स्व में उपयोग के काल में या परमें उपोयग के काल में एकसमान ही रहता है।

- प्रत्यक्ष व परोक्ष - इस प्रकार से भेद सम्यग्दर्शन में नहीं है।

- ज्ञान अंतर्मुख होने पर आत्मा के निर्विकल्प आनन्द का अनुभव होता है और उसके साथ 'यही मैं हूँ' ऐसी सम्यक् आत्मप्रतीति होवे वही सम्यग्दर्शन है। यह सम्यग्दर्शन हुआ है निर्विकल्पस्वानुभव के काल में, किन्तु बाद में विकल्प में आने पर यह सम्यग्दर्शन चला नहीं जाता। भ्रांतिरहित सम्यक् आत्मप्रतीति धर्मी को सदा बनी रहती है।

- ऐसा सम्यग्दर्शन मोक्ष का द्वार है; उसके द्वारा ही मोक्ष का मार्ग खुलता है। उसके लिये उद्यम करना - यही प्रत्येक मुमुक्षु का प्रथम कार्य है। तथा प्रत्येक मुमुक्षु द्वारा यह हो सके ऐसा काम है।

अहा, अभी सम्यग्दर्शन का स्वरूप बहुत स्पष्टरूप में बाहर आ गया है। यह बात इतनी सुन्दर है कि यदि समझे तो अन्दर स्वानुभूति का रंग चढ़ जाय, और राग का रंग उतर जाय। आत्मा की शुद्ध अनुभूति राग के रंग बगैर की है; जिसे ऐसी अनुभूति का रंग नहीं है, वह राग के रंग से रंग जाता है। है जीव ! एकबार आत्मा पर से राग का रंग उतारकर स्वानुभूति का रंग चढ़ा दे।

एकबार भी स्वानुभूतिपूर्वक जिसे शुद्धात्मा की प्रतीति हुई अर्थात् सम्यग्दर्शन हुआ, इसके बाद उसे स्वानुभव में होने के समय प्रतीति का जोर बढ़ जाय और बाहर शुभाशुभ में आये तब प्रतीति ढीली पड़ जाय ऐसा नहीं है। पुनःश्च,

निर्विकल्पदशा के काल में सम्यक्त्व प्रत्यक्ष और सविकल्प दशा के काल में सम्यक्त्व परोक्ष ऐसा प्रत्यक्ष-परोक्षपना भी सम्यक्त्व में नहीं है। अथवा निर्विकल्पदशा के समय निश्चयसम्यक्त्व और सविकल्प दसा के समय मात्र व्यवहारसम्यक्त्व ऐसा भी नहीं है। धर्मी के सविकल्पदशा हो या निर्विकल्पदशा हो, दोनों समय शुद्धात्मा की प्रतीतिरूप निश्चय सम्यक्त्व तो निरंतर वर्त ही रहा है। यदि निश्चयसम्यक्त्व न होवे तो साधकपना ही न रहे, मोक्षमार्ग ही न रहे। फिर निश्चयसम्यक्त्व में भले किसी को औपशमिक हो, किसी को क्षायोपशमिक हो तथा किसी को क्षायिक हो। शुद्धात्मा की प्रतीति तो तीनों में एकसमान है। क्षायिक सम्यक्त्व तो सर्वथा निर्मल है; औपशमिक सम्यक्त्व भी वर्तमान में तो क्षायिक जैसा ही निर्मल है, परन्तु उस (औपशमिकवाले) जीव को हुए पानी की भाँति अभी तलमें से (सत्तामें से) मिथ्यात्व की प्रकृति को नाश नहीं हुआ है; तथा क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में सम्यक्त्व को बाधा न पहुँचाये इस प्रकार का सम्यक् मोहनीय प्रकृति से संबंधित विकार है। तीनों प्रकार के समकित में शुद्ध आत्मा की प्रतीति वर्तती है। प्रतीति की अपेक्षा से तो सम्यग्दृष्टि को सिद्ध समान कहा है।

प्रश्न :- चौथे गुणस्थानवाले क्षायिकसम्यग्दृष्टि की प्रतीति तो सिद्ध भगवान जैसी हो, परन्तु उपशमसम्यग्दृष्टि की प्रतीति भी क्या सिद्ध भगवान जैसी है?

उत्तर :- हाँ, उपशमसमकिती की प्रतीति में जो शुद्धात्मा आया है वह भी जैसा सिद्ध की प्रतीति में है वैसा ही है। शुद्धात्मा की प्रतीति तो तीनों समकिती की समान ही है, उसमें कोई फर्क नहीं है।

इस प्रकार सम्यग्दर्शन में औपशमिक आदि तीन प्रकार हैं, अथवा निमित्त अपेक्षा से अधिगमज तथा निसर्गज ऐसे दो प्रकार है, परन्तु प्रत्यक्ष व परोक्ष इस तरह के प्रकार सम्यग्दर्शन में नहीं है। प्रत्यक्ष व परोक्ष ऐसे भेद तो प्रमाणज्ञान में है, उसका विवेचन अब कर रहे हैं।

प्रकरण - १६

ज्ञान में प्रत्यक्ष एवं परोक्ष प्रकारों का वर्णन

`अब प्रमाण सम्यग्ज्ञान है; इसलिये मतिज्ञान-श्रुतज्ञान तो परोक्षप्रमाम है, अवधि मनःपर्यय तथा केवलज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण है। `आधे परोक्षम्; प्रत्यक्षमन्यत्' ऐसे सूत्र कहे हैं; तथा तर्कशास्त्र में प्रत्यक्ष-परोक्ष का ऐसा लक्षण कहा है - `स्पष्ट प्रतिभासात्मक प्रत्यक्षम्, अस्पष्टं परोक्षम्' अर्थात् जो ज्ञान अपने विषय को अच्छी तरह से निर्मलतारूप जानता है वह ज्ञान प्रत्यक्ष है तथा जो ज्ञान स्पष्ट - भलीभाँति नहीं जानता वह परोक्ष है। मतिज्ञान-श्रुतज्ञान का विषय तो बहुत है, परन्तु वह एक ही ज्ञेय को संपूर्ण जान नहीं सकता। इसलिये वह परोक्ष है; अवधि - मनःपर्ययज्ञान का विषय थोड़ा है परन्तु वह अपने विषय को स्पष्ट-अच्छी तरह से जान सकता है अतः वह एकदेश-प्रत्यक्ष है, तथा केवलज्ञान स्वयं सर्व ज्ञेयों को स्पष्ट जानता है इसलिये वह सर्वप्रत्यक्ष है।'

आगम की शैली से प्रत्यक्ष-परोक्ष के ये प्रकार कहे हैं, उसमें मति-श्रुत को परोक्ष कहा है; फिर भी अध्यात्म शैली में उसे स्वानुभव प्रत्यक्ष भी कहा जाता है - यह बात स्वयं ही इसी पत्र में आगे चलकर लिखेंगे।

प्रत्येक आत्मा ज्ञानस्वरूप है; उसका ज्ञान कैसा कार्य करे तो उसे धर्म कहा जाय ? इसकी यह बात है। अथवा क्या करने से सम्यग्दर्शन प्रगट हो ? उसकी यह बात है। सम्यग्दर्शन अर्थात् सच्ची प्रतीति; शुद्ध आत्मा जैसा है वैसी उसकी प्रतीति, यह सम्यग्दर्शन है। अब, शुद्धात्मा कैसा है उसे यदि ज्ञान बराबर जाने तो ही उसके सच्चे ज्ञानपूर्वक सच्ची प्रतीति हो। ज्ञान में ही जिसे विपरीतता हो उसे सच्ची प्रतीति कहाँ से हो ? जो जामा हो उसकी प्रतीति करेगा न ? आत्मा को जानने का काम (छद्मस्थ को) मति-श्रुतज्ञान द्वारा होता है। परन्तु जो मति-श्रुतज्ञान सिर्फ पर की तरफ ही वर्तता है वह आथ्मा को जान नहीं सकता। पर से निवर्तित होकर, इन्द्रिय तथा मन का अवलंबन एक तरफ रखकर स्वकी ओर झुके तब ही वह मति-श्रुतज्ञान आत्मा का सम्यक्रूप से अनुभव रता है, तथा ऐसे ज्ञानपूर्वक ही आत्मा की सम्यक्प्रतीति होती है। पूर्व में अनन्तकाल में जीवने ऐसी सम्यक् प्रतीति कभी की नहीं है। ऐसी सम्यक् प्रतीति यह अपूर्व कार्य है, इसके द्वारा मोक्षमार्ग की शुरूआत होती है। यह सम्यग्दर्शन कोई पर में से या राग के विकल्प में से आ सके ऐसा नहीं है, स्वभाव सन्मुख दृष्टि करने पर ही सम्यग्दर्शन होता है।

सम्यग्दर्शन सहित का जो सम्यग्ज्ञान वह प्रमाण है, और उसमें प्रत्यक्ष-परोक्षपने का यह वर्णन चल रहा है। अवधिज्ञान तथा मनःपर्ययज्ञान कोई सभी साधकों को होता नहीं है, कितने ही जीव तो अवधि तथा मनःपर्यय के बिना, मति-श्रुत द्वारा ही आत्मा का अनुभव कर के सीधी केवलज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। किसी किसी धर्मात्मा को अवधिज्ञान तथा मनःपर्यय ज्ञान प्रगट होता है, उसमें भी मनःपर्यय ज्ञान तो किसी किसी मुनि को ही प्रगट होता है। यह अवधि तथा मनःपर्ययज्ञान हालाँकि प्रत्यक्ष है, परन्तु वे ज्ञान पर को - रुपीपदार्थ को ही प्रत्यक्ष जान सकते हैं, अरूपी आत्मा को वे प्रत्यक्ष कर नहीं पाते। मति-श्रुतज्ञान स्वसन्मुख होकर आत्मा को साधता है, परन्तु उस ज्ञान में केवलज्ञान की भाँति आत्मप्रदेश साक्षात् प्रत्यक्ष जानने में नहीं आते अतः उनको परोक्ष कहा है। पर को भी अवधि-मनःपर्यय ज्ञान जैसा स्पष्ट वे (मति-श्रुत) जानते

नहीं है, अस्पष्ट जानते है, अतः वे परोक्ष हैं। केवलज्ञान की तो बात ही क्या !! वह तो सर्व प्रकार से साक्षात् प्रत्यक्ष है, पूर्णतया प्रत्यक्ष है। आत्मा के एक-एक प्रदेश को भी वह साक्षात् जानता है। ऐसे केवलज्ञान सहित सीमंधर परमात्मा अभी विदेहक्षेत्र में तीर्थंकररूप में विराजमान है !!

सुवाक्य

ऐसा दुर्लभ अवसर पाकर भी हे जीव ! यदि तुने अपने स्वज्ञेय को नहीं जाना तथा स्वाश्रयपूर्वक मोक्षमार्ग की साधना नहीं की तो तेरा जीवन व्यर्थ है। यह अवसर चला जायेगा तो तू पछतायेगा... इसलिये जाग... और स्वहित को साधने में तत्पर हो जा।

प्रकरण - १७

प्रत्यक्ष एवं परोक्ष ज्ञानों का विशेष वर्णन
मति-श्रुतज्ञान की ताकत

प्रत्यक्ष व परोक्ष के भेद के अन्य प्रकार बता रहे हैं :
`तथा प्रत्यक्ष के दो भेद हैं - परमार्थ प्रत्यक्ष तथा व्यवहार प्रत्यक्ष। अवधि, मनःपर्यय तथा केवलज्ञान तो स्पष्ट प्रतिभासरूप ही है अतः वे पारमार्थिक प्रत्यक्ष है। तथा नेत्रादि द्वारा वर्णादि को जानते हैं अतः उसे साव्यवहारिक-प्रत्यक्ष कहते हैं।
पुनःश्च परोक्ष प्रमाण के पाँच भेद हैं । १. स्मृति, २ प्रत्यभिज्ञान, ३. तर्क, ४. अनुमान तथा ५. आगम। उसमें
१. पूर्व में जानी हुई वस्तु को याद करके जानना उसे स्मृति कहते हैं।
२. दृष्टांत द्वारा वस्तु का निश्चय करें उसे प्रत्यभिज्ञान कहते हैं।
३. हेतु से जो विचार में लिया उस ज्ञान को तर्क कहते हैं।
४. हेतु द्वारा साध्य वस्तु के ज्ञान को अनुमान कहते हैं।
५. आगम द्वारा जो ज्ञान होता है उसे आगम कहते हैं। इस प्रकार प्रत्यक्ष व परोक्ष प्रमाण के भेद बताये।'

अवधि, मनःपर्यय तथा केवलज्ञान ये तीनों परमार्थ प्रत्यक्ष है। उसमें केवलज्ञान तो महाप्रत्यक्ष, परम अतीन्द्रिय संपूर्ण प्रत्यक्ष दिव्यज्ञान है; अवधि-मनःपर्ययज्ञान में इन्द्रियादि का अवलंबन नहीं है, परन्तु वे ज्ञान अमुक (खास) विषयों को ही जानता है अतः वे दोनों एक देश प्रत्यक्ष है। ये तीनों ज्ञान परमार्थ प्रत्यक्ष

है। तथा मति-श्रुतज्ञान हालाँकि परोभ है परन्तु व्यवहार में 'मैंने इस वस्तु को प्रत्यक्ष देखा, मैंने किसी खास व्यक्ति को साक्षात् देखा' इत्यादि प्रकार से कहा जाता है अतः उस ज्ञान को 'सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष' भी कहा जाता है। प्रथम तो यहाँ सामान्यरूप से पाँचों ज्ञान में से प्रत्यक्ष-परोक्ष कौन से है यह बताते हैं; इनमें मति-श्रुत की जो खास विशेषता है वह बाद में बतायेंगे।

- केवलज्ञान तो एक ही प्रकार का है।

- मनःपर्ययज्ञान ऋजुमति तथा विपुलमति ऐसे दो प्रकार का है; इसमें विपुलमति तो अप्रतिपाती है अर्थात् इस ज्ञान के धारक मुनिराज नियमपूर्वक उसी भव से मोक्ष प्राप्त करते हैं।

- अवधिज्ञान देशअवधि, परमअवधि तथा सर्वअवधि ऐसे तीन प्रकार का है; इनमें परमअवधि तथा सर्वअवधि ये दो प्रकार चरमशरीरी मुनि के होते हैं।

- मति-श्रुतज्ञान परोक्ष है; उस परोक्ष ज्ञान के अनेक भेद हैं। यहाँ एक अन्य प्रकार से उसके पाँच भेद कहे हैं - स्मृति, प्रत्यभि, तर्क, अनुमान तथा आगम। प्रथम चार भेद मतिज्ञान के हैं, तथा आम है वह श्रुतज्ञान है।

स्मृति अर्थात् पूर्व में देखी हुई वस्तु को स्मरण द्वारा वर्तमान में जानन यह; जैसे कि सीमंधरभगवान ऐसे थे... उनकी वाणी ऐसी थी... समोसरण ऐसा था... इत्यादि पूर्व में देखी हुई वस्तु को वर्तमान में याद करके जाने ऐसी ताक़त मतिज्ञान में हैं।

प्रत्यभिज्ञान अर्थात् पूर्व में जिस वस्तु को देखा था उसकी वर्तमान वस्तु के साथ तुलना करना; जैसे-पूर्व में जिस भगवान को देखा था उनके जैसी ही इस प्रतिमा की मुद्रा है; अथवा; पूर्व में भगवान के पास मैंने किसी विशेष आत्मा को देखा था वह आत्मा यही है - ऐसा मतिज्ञान जान सकता है। देहादि सभी संयोग एकदम पलट गये होने के बावजूद मतिज्ञान की निर्मलता की कोई ऐसी ताक़त है कि 'पूर्व में देखा हुआ आत्मा यही है' ऐसा वह निःशंक जान लेता है। जगत को ज्ञानी के ज्ञान की ताक़त का विश्वास आना कठिन पड़ जाता है। परन्तु 'ऐसी ताक़तवाले जीव इस समय यहाँ भी है।'

तर्क अर्थात् ज्ञान में साधन-साध्य का सम्बन्ध जान लेना यह; जैसे जहाँ धूम्र (धुआ) होता है वहाँ अग्नि होता है, जहाँ अग्नि न हो वहाँ धुआ नहीं होता। जहाँ समोसरण होता है वहाँ तीर्थंकरभगवान होते हैं, जहाँ तीर्थंकरभगवान नहीं होते, वहाँ समोसरण नहीं होता। अथवा जिस जीव को वस्त्र का ग्रहण है उसे छठा गुणस्थान नहीं होता, छठा गुणस्थान जिसे होता है उसे वस्त्रग्रहण नहीं होता। इस प्रकार हेतु के विचार से ज्ञान करना वह तर्क है।

हेतु से जो जाना उसके अनुसार साध्यवस्तु का ज्ञान करना अर्थात् साध्य-साधन का तर्क लागू करके साध्य वस्तु को पहिचान लेना उसे अनुमान कहा जाता है। जैसे यहाँ अग्नि है, क्योंकि धुआँ दिख रहा है; यहाँ तीर्थंकर भगवान विराजमान है क्योंकि समोसरण दिख रहा है; इस जीव को छठवा गुणस्थान या मुनिदशा नहीं है क्योंकि उसे वस्त्रग्रहण है। इस प्रकार मतिज्ञान द्वारा अनुमान हो जाता है। यह अनुमान कोई संशययुक्त नहीं होता है, परन्तु निश्चितरूप होता है।

इसके अलावा आगमअनुसार जो ज्ञान होता है उसे आगमज्ञान कहा जाता है। वह श्रुतज्ञान का प्रकार है। में स्मृति इत्यादि पाणचो प्रकार परोक्षज्ञान के हैं।

ये पाँचो ज्ञान-प्रत्यक्ष या परोक्ष सारे ही - अपने से ही होते हैं; कोई परसे ज्ञान नहीं होता। परोक्षज्ञान भी कोई इन्द्रिय या मन की वजह से नहीं होता। जाननहारस्वामी आत्मा अपने स्वभाव से ही वैसी अवस्थारूप परिणमन करता है। जैसे मीठासस्वभावी गुड़ कभी मिठास बगैर का होता नहीं तथा उसकी मिठास परमें से आती नहीं है, वैसे ज्ञानस्वभावी आत्मा कभी ज्ञान के बगैर का होता नहीं तथा उसका ज्ञान परमें से आता नहीं। ज्ञान में पर ज्ञान होता है, परन्तु ज्ञान कोई परमें जाकर जानता नहीं है एवं परमें से ज्ञान आता नहीं है।

ऐसे स्वतंत्रता समझने के अलावा यहाँ तो अन्दर की स्वानुभव के समय की सूक्ष्म बात है। स्वानुभवदशा में धर्मी को ज्ञान का प्रत्यक्ष-परोक्षपना किस प्रकार से है, यह अब कह रहे हैं।

प्रकरण - १८

**मति-श्रुतज्ञान परोक्ष होने के बावजूद निःशंक है।
स्वानुभव का कार्य मति-श्रुतज्ञान द्वारा ही होता है।**

'इस स्वानुभवदशा में आत्मा जानने में आता है वह श्रुतज्ञान द्वारा जानने में आता है; श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक ही है, तथा मतिज्ञान-श्रुतज्ञान परोक्ष कहे हैं; इसलिये यहाँ पर आत्मा को जानना प्रत्यक्षरूप नहीं होता। पुनःश्च अवधि-मनःपर्ययज्ञान का विषयरूपी पदार्थ ही है, तथा केवलज्ञान छद्मस्थ जीवों को होता नहीं है, अतःअनुभव में अवधि-मनःपर्यय या केवलज्ञान द्वारा आत्मा को जानने का नहीं बनता है। इस प्रकार यहाँ आत्मा को भलीभाँति, स्पष्टरूप से जानते हैं उसमें पारमार्थिक प्रत्यक्षपना तो संभवित नहीं है, एवं जैसे नेत्रादि द्वारा (रूप इत्यादि) जाना जाता है वैसे एकदेश निर्मलतापूर्वक भी आथ्मा के असंख्यात् प्रदेशादि जानने में नहीं आते अतः उसमें सांव्यवहारिक-प्रत्यक्षपना भी संभव नहीं है। यहाँ तो आगम-अनुमानादि परोक्षज्ञान द्वारा आत्मा का अनुभव होता है।' (मो.मा.प्र. पृष्ठ ३४७)

साधक को आत्मा का अनुभव मति-श्रुतज्ञान द्वारा होता है। उस स्वानुभव मं अनन्तगुण का अभेद चैतन्यपींड तथा अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन तो साक्षात् होता है; उसमें उसकी अनन्त शक्तियाँ अभेदरूप से स्वाद में आ जाने के बावजूद, भिन्न भिन्न अनन्तशक्तियाँ अथवा असंख्य प्रदेश मति-श्रुत में साक्षात् दिखते

नहीं है, अतः उस ज्ञान को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष भी कहते नहीं है, आत्मा का पारमार्थिक प्रत्यक्षपना तो केवलज्ञान में है, छद्मस्थ के तो वह ज्ञान है नहीं, हालाँकि किसी छद्मस्थ को अवधि-मनःपर्ययज्ञान हो वह यद्यपि प्रत्यक्ष है परन्तु वह तो मात्र रूपीवस्तु को - परवस्तु को जानने में ही प्रत्यक्ष है, स्वानुभव का कार्य उनके द्वारा होता नहीं है, स्वानुभव तो मति-श्रुतज्ञान द्वारा ही होता है और वह ज्ञान परोक्ष है। यह ज्ञान परोक्ष है इससे वह कोई शंकाशील नहीं है, आत्मा के स्वरूप में वह निःशंक है, संदेह बगैर का है, विपरीतता बगैर का है, 'ऐसा होगा या कैसा होगा।' ऐसी अनिश्चितता उसमें नहीं है। ब्रह्मांड पलट जाय तो भी वह न पलटे - ऐसा दृढ़-अचल वह स्वानुभवज्ञान होता है। मति-श्रुतज्ञान परोक्ष हो के बावजूद स्वानुभव के समय उसकी जो खास विशेषता है वह बाद में बतायेंगे।

(परोक्षज्ञान में स्मृति, प्रत्यभि इत्यादि जो पाँच भेद कहे थे वे आत्मा को जानने में किस प्रकार से काम करते हैं यह बता रहे हैं :)

सुवाक्य

संसार में चाहे जैसे क्लेश के या प्रतिकूलता के प्रसंग आये परन्तु ज्ञानी को जहाँ चैतन्य की स्फुरणा हुई वहाँ वे सभी क्लेश कहाँ के कहाँ भाग जाते हैं। चाहे जैसे प्रसंग में भी उसके श्रद्धाज्ञान आच्छादित नहीं हो पाते। जहाँ चिदानन्द-हंसका स्मरण किया वहीं पर दुनिया के सभी क्लेश दूर भाग जाते हैं। संसार के ज़हर को उतार देनेवाली जड़ीबुट्टी यह है। इस जड़ीबुट्टी सूंघने पर संसार की थकान क्षणभर में उतर जाती है।

प्रकरण - १९

स्वानुभवज्ञान का वर्णन

'जैनागम में जैसा आत्मा का स्वरूप बताया है उसे वैसा जानकर उसमें परिणामों को मग्न करता है अतः उसे आगम-परोक्ष प्रमाण कहते हैं।
अथवा, मैं आत्मा ही हूँ इसलिये मेरे में ज्ञान है; जहाँ जहाँ ज्ञान है वहाँ वहाँ आत्मा है - जैसे कि सिद्धादि; पुनःश्च जहाँ आत्मा नहीं वहाँ ज्ञान भी नहीं - जैसे कि मृतक कलेवरादि; इस प्रकार अनुमान द्वारा वस्तु का निश्चय करके उसमें परिणामों को मग्न करता है अतः उसे अनुमान - परोक्ष प्रमाण कहते हैं।
अथवा, आगम-अनुमान इत्यादि द्वारा जिस वस्तु को जाना है, उसे याद रखकर उसमें पिरणामों को मग्न करता है इसलिये उसे स्मृतिरूप परोक्षज्ञान कहते हैं। इत्यादि प्रकार से स्वानुभव में परोक्ष प्रमाण द्वारा ही आत्मा को जानने का होता है। तत्पश्चात्, जो स्वरूप जाना उसीमें परिणाम मग्न होते हैं, उसका कुछ विशेष जानपना होता नहीं है।' (पृष्ठ - ३४७-३४८)

देखो, आत्मा को जाने वह प्रत्यक्ष तथा पर को जाने वह परोक्ष ऐसी व्याख्या नहीं है; क्योंकि मति-श्रुतज्ञान आत्मा को जानते हैं फिर भी उनको परोक्ष में गिना गया है, तथा अवधि-मनःपर्ययज्ञान पर को जानते हैं फिर भी उन्हें प्रत्यक्ष

कहा है। जो ज्ञान स्पष्ट हो तथा सीधा आत्मा द्वारा होता है उस ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं; तथा जो अस्पष्ट होता है, जिसमें इन्द्रियादि पर का कोई अवलम्बन हो उसे परोक्ष कहते हैं। अब मति-श्रुतज्ञान जब स्वसन्मुख होकर स्वानुभव में वर्तता है तब उसमें से इन्द्रिय-मन का जितना अवलम्बन छूटा है उतना तो प्रत्यक्षपना है, उसमें जो स्वानुभव हुआ वह सिर्फ आत्मा से ही हुआ है, अन्य किसी का उसमें अवलम्बन नहीं है, तथा वह स्वानुभव स्पष्ट है, अतः वह प्रत्यक्ष है। यह प्रत्यक्षपना अध्यात्मदृष्टिवाले को समझ में आये ऐसा है। अहा, मति-श्रुतज्ञान इन्द्रिय तथा मन के बगैर जानता है !... भाई, जानने का स्वभाव तो आत्मा का है न ! आत्मा स्वयं अपने को मन तथा इन्द्रिय के बगैर ही जानता है। 'प्रवचनसार' की १७२ वीं गाथा में 'अलिंगग्रहण' के २० अर्थ करते समय आचार्यदेवने स्पष्ट कहा है कि आत्मा सिर्फ अनुमान द्वारा या सिर्फ इन्द्रिय-मन द्वारा जाना जाता नहीं है, अर्थात् सिर्फ परोक्षज्ञान द्वारा वह जानने में नहीं आता। इन्द्रियजन्य मति-श्रुतज्ञान को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा है वह पर को जानने की अपेक्षापूर्वक (कहा है), स्व को जानने में तो वह ज्ञान इन्द्रियातीत स्वानुभव प्रत्यक्ष है। यह स्वानुभव-प्रत्यक्षपना अध्यात्म शैली में है, अतः आगम की शैली में प्रत्यक्ष-परोक्ष के जो भेद आते हैं उसमें उसका कथन नहीं आता। 'समयसार' में कहते हैं कि मैं अपने समस्त निजवैभव से शुद्धात्मा बता रहा हूँ, उसे '**स्वानुभु प्रत्यक्ष से**' प्रमाण करना। तो वहाँ श्रोता तो सब मति-श्रुतज्ञानवाले ही है और उनको ही मति-श्रुतज्ञान द्वारा स्वानुभव-प्रत्यक्ष करने के लिये बोला है। यदि स्वानुभव में मति-श्रुत प्रत्यक्ष न हो तो ऐसा कैसे कहेंगे ?

यहाँ कहते हैं कि, धर्मात्मा ने ऐसा अनुभव करने से पूर्व आगम द्वारा तथा अनुमान इत्यादि द्वारा आत्मा का यथार्थ स्वरूप निश्चित किया है। इसके बाद उसमें परिणमन लीन करके स्वानुभव करता है।

आगम में अरिहंत के आत्मा का उदाहरण देकर आत्मा का शुद्ध स्वभाव दिखाया है। अरिहंत का आत्मा द्रव्य से - गुण से व पर्याय से जैसा शुद्ध

है वैसा ही आत्मा का स्वभाव है, अरिहंत समान सर्वज्ञस्वभाव इस आत्मा में भरा है; अरिहंत के आत्मा में शुभराग इत्यादि विकार नहीं है वैसे शुभराग इस आत्मा का भी स्वभाव नहीं है। आगम में शुभराग को आत्मा का स्वभाव नहीं कहा परन्तु परभाव कहा है, उसे अनात्मा तथा आस्रव कहा है। ऐसे अनेक प्रकार से आगम के ज्ञान द्वारा आत्मस्वरूप का निर्णय करना चाहिए। तथा अनुमान के विचार से भी वस्तुस्वरूप निश्चित करना। - जैसे कि -

मैं आत्मा हूँ... मेरे में ज्ञान है।

जहाँ जहाँ ज्ञान है वहाँ वहाँ आत्मा है, जैसे कि सिद्ध भगवान।

जहाँ जहाँ आत्मा नहीं है वहाँ वहाँ ज्ञान भी नहीं है, जैसे कि अचेतन शरीर। तथा, जहाँ जहाँ ज्ञान नहीं है वहाँ वहाँ आत्मा भी नहीं है, और जहाँ जहाँ आत्मा है वहाँ वहाँ ज्ञान भी है।

इस प्रकार आत्मा तथा ज्ञान को परस्पर व्याप्तिपना है, इसलिये जहाँ एक है वहाँ दूसरा होता ही है, और एक न हो वहाँ दूसरा भी नहीं होता, ऐशे परस्पर अविनाभावीपने को 'समव्याप्ति' कहा जाता है। 'शरीर हो वहाँ आत्मा होता है' - इस प्रकार सही अनुमान हो नहीं सकता है, क्योंकि सिद्ध भगवान के शरीर नहीं होने के बावजूद भी आत्मा है और मृत क कलेवरमें शरीर होने के बावजूद आत्मा नहीं है; अतः शरीर तथा जीव को परस्पर व्याप्ति नहीं है। शरीर बगैर का आत्मा होता है परन्तु ज्ञान बगैर का आत्मा कभी नहीं होता। अतः ज्ञान आत्मा का स्वरूप है, परन्तु शरीर तो आत्मा से भिन्न है। उसी प्रकार, शरीर की तरह राग-द्वेष बगैर का भी आत्मा होता है, अतः राग-द्वेष बगैर का आत्मा कभी नहीं होता। अतःज्ञान आत्मा का स्वरूप है, परन्तु शरीर तो आत्मा से भिन्न है। उसी प्रकार, शरीर की तरह राग-द्वेष बगैर का भी आत्मा होता है, अतः राग-द्वेष भी वास्तव में आत्मा का स्वरूप नहीं है। ऐसे अनेक प्रकार से युक्ति द्वारा विचार करके आत्मा का स्वरूप निश्चित करने को अनुमान कह जाता है।

मैं आत्मा हूँ; क्योंकि मेरे में ज्ञान है और मैं ज्ञान से जानता हूँ। शरीर

है वह आत्मा नहीं है; क्योंकि उसमें ज्ञान नहीं है, वह कुछ जानता नहीं है।

आत्मा ज्ञानस्वभावी है; क्योंकि ज्ञान बगैर का आत्मा कभी होता नहीं है, एवं आत्मा के अलावा अन्यत्र कहीं ज्ञान होता नहीं है।

शुद्धनय से मैं शुद्ध सिद्धसमान हूँ; अशुद्धनय से मेरे में अशुद्धता भी है। शुद्धनय का आश्रय करके शुद्धात्मा का अनुभव करने पर पर्याय में से अशुद्धता टलकर शुद्धता प्रगट होती है।

इस तरह अनुमान तथा नय-प्रमाण इत्यादि के विचार तत्त्वनिर्णय के काल में होते है; परन्तु सिर्फ इन विचारों द्वारा कोई स्वानुभव नहीं होता। वस्तुस्वरूप का निर्णय करके फिर जब स्वद्रव्य में परिणाम को एकाग्र करे तब ही स्वानुभव होता है। और उस स्वानुभव के काल में नय-प्रमाण इत्यादि के विचार होते नहीं है। नय-प्रमाण इत्यादि के विचार तो परोक्षज्ञान है, तथा स्वानुभव तो कथंचित् प्रत्यक्ष है। पहले आगम, अनुमान इथ्यादि परोक्ष ज्ञान द्वारा जिस स्वरूप को जाना तथा विचार में लिया उसमें परिणाम एकाग्र होने पर वह स्वानुभव-प्रत्यक्ष होता है। इस स्वानुभव में पहले के मुकाबले कोई अन्य स्वरूप जाना-ऐसा नहीं है, अर्थात् ज्ञानी को स्वानुभव में जानपने की अपेक्षा से विशेषता नहीं है परन्तु परिणाम की मग्नता है - यह विशेषता है।

आत्मा के अनुभव का स्मरण करके फिर उसमें परिणाम लगते हैं। परन्तु ऐसा स्मरण किस को होता है ? कि पहले एकबार जिसने अनुभव द्वारा स्वरूप जाना हो, उसकी धारणा टिकाकार रखी हो, वह पुनः उसका स्मरण करे `पहले आत्मा का अनुभव हुआ तब ऐसा आनन्द था... ऐसी शान्ति थी, ऐसा ज्ञान था...' इस प्रकार उसके स्मरण द्वारा चित्त को एकाग्र करके धर्मी जीव फिर से उसमें अपने परिणाम को जोड़ता है। स्वानुभव के काल में कोई ऐसे स्मरण इत्यादि के विचार नहीं होते हैं, परन्तु पहले ऐसे विचारों द्वारा चित्त को एकाग्र करते हैं, अतः इस प्रकार के स्मृति-अनुमान-आगम इत्यादि पूर्वक (फिर वे विचार छूटकर) स्वानुभव होता है। विचार के समय जो मति-श्रुतज्ञान थे वही मति-श्रुतज्ञान है ऐसा यहाँ बताना है। मति-श्रुतज्ञानने आत्मा का जो स्वरूप जाना

उसमें ही वे मग्न होते है; उसमें जानपने की अपेक्षा से फर्क नहीं है परन्तु परिणाम की मग्नता की अपेक्षा से फर्क है।

मति-श्रुतज्ञान को जब अन्तर में उपयोग लगाकर स्वानुभव करते हैं तब उस निर्विकल्पदशा में कोई अपूर्व आनन्द का अनुभव होता है। जानपने की अपेक्षा से भले वहाँ विशेषता न हो परन्तु आनन्द का अनुभव इत्यादि अपेक्षा से उस में जो विशेषता है, वह अब प्रश्न-उत्तर द्वारा बताते हैं।

सुवाक्य

वीतरागी मोक्षमार्ग की ललकार करते हुए सन्त कहते है कि अरे, राग को धर्म माननेवाले कायरों ! तुम चैतन्य के वीतराग मार्ग पर चढ़ नहीं पाओंगे... चैतन्य को साधने का स्वाधीन पुरुषार्थ तुम प्रगट नहीं कर पाओगे। स्वाधीन चैतन्य का तुम्हारा पुरुषार्थ गया कहाँ ? तुम धर्म करने के लिये चल पड़े हो तो चैतन्य शक्ति की वीरता अपने में प्रगट करो। उस वीतरागी वीरता द्वारा ही मोक्षमार्ग की साधना होगी।

प्रकरण - २०

निर्विकल्प अनुभव के काल का विशिष्ट आनन्द

'प्रश्न :- यदि सविकल्प-निर्विकल्पदशा में जानने की विशेषता नहीं है तो अधिक आनन्द किस प्रकार होता है ?

समाधान :- सविकल्पदशा के समय ज्ञान अनेक ज्ञेय को जाननेरूप प्रवर्तता था, वह निर्विकल्पदशा में केवल आत्मा को ही जानने में प्रवर्तता है, - एक तो यह विशेषता है; दूसरी विशेषता यह है कि जो परिणाम विविध विकल्प में परिणमन करते थे वे केवल स्वरूप में ही तादात्म्यरूप होकर प्रवर्तन करने लगा। - यह दूसरी विशेषता हुई। ऐसी विशेषता होवे पर कोई वचनातीत ऐसा अपूर्व आनन्द होता है जो कि विषयसेवन में उसकी जाति का अंश भी नहीं है, इसलिये उस आनन्द को अतीन्द्रिय कहते हैं।'

धर्मीजीव सविकल्पदशा के काल में आत्मा का जो स्वरूप जान रहे थे वही निर्विकल्पदशा के काल में जानते हैं, निर्विकल्पदशा में कोई विशेष प्रकार जाना है ऐसी विशेषता नहीं है, फिर भी सविकल्पदशा के मुकाबले निर्विकल्पदशा की महिमा बहुत करते हो तो उसका क्या कारण ? उसमें ऐसी कोई विशेषता है कि जिसके कारण स्वानुभव की इतनी ्यादा महिमा गायी है ? यह बात यहाँ बताई है। भाई, स्वानुभव के समय ज्ञानउपयोग अपने शुद्धात्मा को ही

स्वज्ञेय करके उसमें ठहर गया है, पहले उपयोग बाहर के अनेक ज्ञेयों में तथा विकल्पों मे भ्रमण कर रहा था, वह मिटकर उपयोग एकमात्र अपने स्वरूप को जानने में एकाग्र हुआ। एक तो यह विशेषता हुई। तथा दूसरी विशेषता यह हुई कि, पहले सविकल्पदशा के काल में अनेक प्रकार के राग-द्वेष-शुभाशुभ परिणाम होते थे, स्वानुभव के काल में शुद्धोपयोग होने पर बुद्धिपूर्वक के समस्त रागादि परिणाम छूट गये, परिणाम केवल निजस्वरूप में ही तन्मय हुए। ऐसी विशेषता के कारण स्वानुभव के काल में जो सिद्ध भगवान के आनन्द के समान अतीन्द्रिय स्वाभाविक आनन्द अनुभवन में आता है वह वचनातीत है, जगत के किसी पदार्थ में उस सुख का अंश भी नहीं है, इन्द्रियजनित सुखों की तुलना में इस सुख की जाति ही अलग है; यह तो आत्मजनित सुख है, आत्मा के स्वभाव में से उत्पन्न हुआ है। हालाँ कि जितनी वीतरागता हुई है उतना आत्मिकसुख तो सविकल्पदशा के समय भी धर्मी को वर्तता है, परन्तु निर्विकल्पदशा के समय उपयोग निजस्वरूप में तन्मय होकर जिस अतीन्द्रिय परम आनन्द का वेदन करता है उसकी कोई खास विशेषता है। अहा, स्वानुभव का आनन्द क्या है उसकी कल्पना भी अज्ञानी को आती नहीं है। जिसने अतीन्द्रिय चैतन्य को कभी देखा नहीं है, जिसने इन्द्रियविषयों में ही आनन्द माना है उसे स्वानुभव के अतीन्द्रिय आनन्द की गंध तक कहाँ से होगी ? अरे, ऐसे स्वानुभव की चर्चा भी जीव को दुर्लभ है। जिसने ज्ञान को बाह्य-इन्द्रिय विषयों में ही भटकाया है, ज्ञान को अन्दर में झुकाकर अतीन्द्रिय वस्तु को कभी लक्षगत की नहीं है उसे उस अतीन्द्रियवस्तु से अतीन्द्रियसुख की कल्पना भी कहाँ से होगी ? खाखरे (के सुखे पत्तों) की (रसिक) गिलहरी (मीठी सक्कर का स्वाद) मीठे आम का स्वाद कहाँ से जान पायेगी ? इस प्रकार इन्द्रियज्ञान में ही लुब्ध प्राणी अतीन्द्रिय सुख के स्वाद को कहाँ से जान पायेंगे ? ज्ञानी ने चैतन्य के अतीन्द्रियसुख को जाना है; उसका अपूर्व स्वाद चखा है, वह सुख उसे निरन्तर वर्तता है, इसके अलावा यहाँ पर तो निर्विकल्पदशा में उन्हें आनन्द की जो विशेषता है उसकी बात है।

शंका :- हम तो गृहस्थ; गृहस्थ को ऐसे स्वानुभव की बात कैसे समझ में आ सकती है ?

समाधान :- भाई, स्वानुभव की इस चिट्ठी को लिखनेवाले स्वयं भी एक गृहस्थ ही थे; तथा जिनके लिये यह चिट्ठी लिखी गई है वे भी गृहस्थ ही थे; इसका मतलब गृहस्थों को समझ में आ सके ऐसी बात यह है। आत्मा का सत्यज्ञान तो गृहस्थ को भी हो सकता है। मुनिदशा के समान स्वरूपस्थिरता गृहस्थ को नहीं होती है परन्तु आत्मा का ज्ञान तो गृहस्थदशा में भी मुनिदशा के समान हो सकता है, उसमें कोई फर्क पड़ता नहीं है। और ऐसा आत्मज्ञान करे उसी गृहस्थ को धन्य कहा है; 'श्री कुन्दकुन्दस्वामी' तो कहते हैं कि हे श्रावक ! तू निर्मल सम्यक्त्व को ग्रहण करके निरंतर उसीकी साधना ध्यान में कर। ऐसा सम्यक्त्व गृहस्थ को हो सकता है - तब ही ऐसा कहा न ? अतः सच्ची जिज्ञासा प्रगट करके समझना चाहे उसे स्वानुभव की बात जरूर समझ में आती है। यह सूक्ष्म तो लगे, परन्तु इसे समझ ने पर ही आत्मा का कल्याण है। अतः आत्मा के सम्यक्त्व की तथा स्वानुभव की बात बराबर समझ ने लायक है।

प्रश्न :- यह समझकर फिर क्या करना ? २४ घंटे का कार्यक्रम क्या ?

उत्तर :- भाई, धर्मात्मा का चौबीस घंटे का यही कार्यक्रम है कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग का सेवन करना तथा परभाव का सेवन छोड़ना। चौबीस घंटे में प्रतिक्षण धर्मात्मा स्वभाव से वन के इस कार्य को कर रहे हैं। और अज्ञानी चौबीस घंटेमें पल पल पर-भाव के सेवन का कार्य कर रहा है। बाहर के काम तो ज्ञानी या अज्ञानी कोई एक क्षणमात्र के लिये भी करता नहीं है।

सम्यग्दर्शन होने के बाद धर्मी का उपयोग कभी 'स्व' में होता है और कभी पर में होता है; स्व में अविच्छिन्नरूप से उपयोग रहता नहीं है, परन्तु सम्यक्त्व धाराप्रवाहरूप रहता है। वह सम्यक्त्व स्वउपयोग के समय प्रत्यक्ष तता परउपयोग के समय परोक्ष - ऐसे भेद उसमें नहीं है; अथवा स्वानुभव के समय वह उपयोगरूप तथा पर की ओर लक्ष के समय वह लब्धरूप - ऐसे भेद

भी सम्यक्त्व में नहीं है। सम्यक्त्व में तो औपशमिक इत्यादि प्रकार हैं, तथा तीनों ही प्रकार सविकल्पदशा के काल में भी रहते हैं। सम्यग्दर्शन हुआ उतनी शुद्ध परिणति तो शुभ-अशुभ के समय भी धर्मी को वर्तती ही है।

सम्यग्दर्शन हुआ है इसलिये वह जीव सदा निर्विकल्प-अनुभूति में ही रहे, ऐसा नहीं है। उसे शुद्धात्मप्रतीति तो सदा रहती है, परन्तु अनुभूति तो कभी कभी होती है। मुनिराज को भी निर्विकल्प अनुभूति निरंतर नहीं रहती दो घडी के लिये अखंडरूप से निर्विकल्प अनुभूति रहे तो केवलज्ञान हो जाय।

स्वानुभूति है वह ज्ञान की स्वउपयोगरूप पर्याय है; सम्यग्दर्शन को इस उपयोगरूप स्वानुभूति के साथ विषमव्याप्ति है, अर्थात् एक पक्ष की तरफ से व्याप्ति है। जैसे केवलदर्शन तथा केवलज्ञान को अथवा तो आत्मा को और ज्ञान को तो समव्याप्ति है - अर्थात् जहाँ दोमें से एक की उपस्थिति है वहाँ दूसरा भी अवश्य होगा ही; और एक न हो तो वहाँ दूसरा भी नहीं ही होगा। - ऐसे दोनों को परस्पर अविनाभावीपना है, उसे समव्याप्ति कहते हैं। परन्तु सम्यग्दर्शन को तथा निर्विकल्प स्वानुभूति को ऐसा समव्याप्तिपना नहीं है, परन्तु विषमव्याप्ति (एक पक्ष की तरफ से अविनाभावीपना) है; अर्थात् -

- जहाँ निर्विकल्प अनुभूति हो वहाँ सम्यग्दर्शन होता ही है। औ- जहाँ सम्यग्दर्शन नहीं है वहाँ अनुभूति नहीं ही होती; - ऐसा नियम है; परन्तु -

- जहाँ सम्यग्दर्शन हो वहाँ अनुभूति सदा होती ही है, और जब अनुभूति न हो तब सम्यग्दर्शन नहीं ही होता, ऐसा कोई नियम नहीं है।

- जहाँ सम्यग्दर्शन हो वहाँ निर्विकल्प स्वानुभूति वर्तती हो या न भी वर्तती हो। तथा जहाँ निर्विकल्प स्वानुभूति न हो वहाँ सम्यक्त्व न हो अथवा हो भी सही।

- सम्यग्दर्शन प्रगट होने के काल में तो निर्विकल्प स्वानुभूति होती ही है यह नियम है। इसके बाद के काल में समकिती के वह अनुभूति कभी होती है, कभी नहीं भी होती, परन्तु शुद्धात्मप्रतीति तो सदैव होती ही है। जब उपयोग

को अन्दर ठहराकर निर्विकल्प स्वानुभव में परिणाम को मग्न करे तब उसे किसी विशिष्ट आनन्द का वेदन होता है।

[अब, इस स्वानुभव के काल में मति-श्रुतज्ञान होने की वज़ह से उसे परोक्ष कहा है, तथा शास्त्रों में किसी स्थान पर स्वानुभव को प्रत्यक्ष भी कहा है, इससे सम्बन्धित स्पष्टीकरण प्रश्नोत्तर द्वारा करते हैं :-]

स्वाधीनता की हवा

रे जीव ! तू स्वसहांयी है, पराधीन नहीं है। पराधीनता के भाव में अनन्त काल से घुट रहा है, एकबार स्वाधीनता को देख। एक क्षण तो स्वाधीनता की हवा ले ! तेरी स्वाधीनता की अचिंत्य महिमा को तूने जानी नहीं है, अतः निमित्ताधीन बुद्धि से तेरा उपयोग जहाँ तहाँ भटकता रहता है उस भ्रमण को टालने की तथा स्वरूप में स्थिर होने की - जम जाने की विधि संत बता रहे हैं।

प्रकरण - २१

निर्विकल्प स्वानुभव का प्रत्यक्षपना

`प्रश्न :- इस स्वानुभव में भी आत्मा परोक्ष ही है तो ग्रन्थों में उस अनुभव को प्रत्यक्ष क्यों कहा है ? उपरोक्त गाथा में ही (भाषान्तर पृष्ठ-४७) कहा है कि `पच्चक्खो अणुहवो जम्हा।' इसका समाधान :- अनुभव में आथ्मा तो परोक्ष ही है, आत्मा के प्रदेश का आखार तो कोई भासित होता नहीं है, परन्तु स्वरूप में परिणाम मग्न होने पर जो स्वानुभव हुआ वह प्रत्यक्ष है। उस स्वानुभव का स्वाद कोई आगम-अनुमानादि परोक्षप्रमाण द्वारा जानने में नहीं आता। स्वयं ही उस अनुभव के रसास्वाद का वेदन करता है। जैसे कोई अंध मनुष्य सक्कर के स्वाद का आस्वादन करता है वहाँ सक्कर की आकृति आदि तो परोक्ष है परन्तु जीभ द्वारा जो स्वाद लिया है वह स्वाद प्रत्यक्ष है ऐसा जानना। (इस तरह से स्वानुभव का भी प्रत्यक्षपना जानना।) अथवा जो प्रत्यक्षवत् हो उसे भी प्रत्यक्ष कहते हैं, जैसे लोक में भी कहते हैं कि `हमने स्वप्न में या ध्यान में अमुक पुरुष को प्रत्यक्ष देखा' वहाँ प्रत्यक्ष देखा नहीं है परन्तु प्रत्यक्ष की भाँति प्रत्यक्षवत् यथार्थ देखा इसलिये उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। वैसे अनुभव में आत्मा प्रत्यक्ष जैसा ही यथार्थ प्रतिभासित होता है, अतः इस न्याय से आत्मा का भी प्रत्यक्ष जानना होता है ऐशा कहते हैं, उसमें दोष नहीं है। कथन अनेक प्रकार के हैं वे सभी आगम-अध्यात्मशास्त्रों के साथ विरोध न आये उस प्रकार विवक्षाभेद द्वारा जानना।'

साधक को इस स्वानुभव में मति-श्रुतज्ञान है इस अपेक्षा से भले परोक्ष कहा, परन्तु स्वानुभव का वेदन तो मति-श्रुतज्ञानी को भी केवलज्ञानी जैसा साक्षात् है; आनन्द का वेदन कोई परोक्ष नहीं है। इसलिये स्वानुभव को प्रत्यक्ष कहा है। जैसे अंध मनुष्य सक्कर के रंग इत्यादि को आंखों से नहीं देखता है, इस अपेक्षा से उसे सक्कर परोक्ष है परन्तु मुँहमें जो मीठा स्वाद उसे वेदन में आता है, वह स्वाद कोई उसे परोक्ष नहीं है, वह तो जैसा देखते हुए (जो अंध नहीं है) मनुष्य को स्वाद आता है वैसा ही स्वाद अंध को आता है, उस स्वाद की जाति में कोई फर्क नहीं है, तथा स्वाद का वेदन कोई परोक्ष नहीं है। वैसे मति-श्रुतज्ञानी असंख्य आत्मप्रदेश इत्यादि को केवली प्रभु की भाँति भले प्रत्यक्ष न देखे, इस अपेक्षा से उसे आत्मा परोक्ष है, परन्तु स्वानुभव में आत्मा के आनन्द का जो अतीन्द्रियस्वाद मति-श्रुतज्ञानी को चौथे गुणस्थान में आता है उसका तो वह स्वयं साक्षात् वेदन करता है; जैसे आनन्द का वेदन प्रत्यक्ष ज्ञानी करता है वैसे ही आनन्द का वेदन मति-श्रुतज्ञानी स्वानुभव में करता है। उसमें काम-ज्यादापना भले हो, परन्तु आनन्द के वेदन की जाति में कोई फर्क नहीं है, तथा आनन्द का वेदन कोई परोक्ष नहीं है। अतः स्वानुभव को प्रत्यक्ष कहते हैं।

अथवा, प्रत्यक्ष कहने का दूसरा प्रकार यह है कि स्वानुभवपूर्वक जिस आत्मा को जाना वह प्रत्यक्ष जैसा ही स्पष्ट जाना है। प्रत्यक्ष जैसा हो उसे भी प्रत्यक्ष कहा जाता है - इस न्याय से इस स्वानुभु को भी प्रत्यक्ष कहते हैं। क्योंकि स्वानुभव में मति-श्रुतज्ञान ने भी आत्मा को प्रत्यक्ष की भाँति यथार्थ जाना है। वह मति-श्रुतज्ञान ने भी प्रत्यक्ष जैसा ही (अर्थात् केवलज्ञान जैसा ही) जोरदार - निःसंदेह - यथार्थ है, अतः उसके स्वानुभव को प्रत्यक्ष कहें तो कोई दोष नहीं है। इस प्रकार आगम की सामान्य शैली में उस मति-श्रुत को परोक्ष कहा जाता है तथा अध्यात्म की खास शैली से उसे प्रत्यक्ष भी कहा जाता है। आगम तथा अध्यात्म के शास्त्रों में भिन्न-भिन्न विवक्षा से अनेक प्रकार के कथन आते हैं उसकी विवक्षा को समझकर, उसमें परस्पर विरोध न आये तथा अपना

हित हो उस तरह उसका आशय समझना चाहिए। एक जगह एक बात पढ़ ली हो उसी को सभी जगह पकड़कर रखे, तथा दूसरी जगह दूसरी विवक्षा से कोई दूसरा प्रकार आये और वहाँ यदि उसका आशय न समझे तो दोनों का मेल मिलाना मुश्किल पड़ जाय। अतः कहाँ कौन सी विवक्षा है यह समझना चाहिए।

मन के अवलम्बन की अपेक्षा से मति-श्रुतज्ञान को परोक्ष कहा है; परन्तु मन का अवलम्बन हो इसलिये आत्मा को जान ही नहीं सकता। ऐसा नहीं है; क्योंकि उस ज्ञान में स्वानुभव के समय सूक्ष्म-अबुद्धिपूर्वक मन का जुड़ना छूट गया गया है, उतने अनुपात में उसमें प्रत्यक्षपना है। जो अबुद्धिपूर्वक विकल्प है उसमें मनका अवलंबन है। परन्तु आत्मा का जो स्वसंवेदन है उसमें तो मन का अवलंबन छूट गया है। उसमें केवलज्ञान जैसा प्रत्यक्षपना भले नहीं है परन्तु स्वानुभव-प्रत्यक्षपना है।

निर्विकल्प स्वानुभव को प्रत्यक्ष कहा तथा उसमें आनन्द की खास विशेषता कही, इस प्रकार उसकी बहुत महिमा की। तो ऐसा स्वानुभव कौन से गुणस्थान में होता है ? कोई बड़े मुनिराज को ही ऐसा स्वानुभव होता होगा, या गृहस्थ को भी होता होगा ? इस बात को आगे के प्रश्न-उत्तर द्वारा स्पष्ट करते हैं।

एक पिता अपने पुत्रों को सीख देता है

लौकिक योग्यता तथा सज्जनता के अलावा भगवान अर्हन्तदेव द्वारा उपदृष्टि रत्नत्रय धर्म को कभी मत भूलो। शास्त्रज्ञ की संगतिकरो। रत्नत्रय से भूषित सज्ज्नों का आदर एवं समागम करो। मुनि-आर्यिका-श्रावक-श्राविका इस चतुर्विध संघ की जब जब अवसर प्राप्त हो तब आदरपूर्वक वन्दना करो... तथा रत्नत्रय के सेवन में सदा तत्पर रहो।

प्रकरण - २२

चौथे गुणस्थान में ही निर्विकल्प अनुभव; गुणस्थान अनुसार परिणाम की विशेष मग्नता; स्वानुभव की तैयारीवाले जीव की दशा

'प्रश्न :- ऐसा अनुभव कौन से गुणस्थान में कहा है ?
समाधान :- चौथे गुणस्थान से ही होता है। परन्तु चौथे गुणस्थान में तो लम्बे समय के अन्तराल बाद होता है, तथा ऊपर के गुणस्थान में शीघ्र शीघ्र होता है।
प्रश्न :- अनुभव तो निर्विकल्प है, तो उसमें ऊपर के तथा बीच के गुणस्थान का भेद क्या ?
उत्तर :- परिणामों की मग्नता में विशेषता है; जैसे दो पुरुष नाव (अथवा नाम) लेते हैं, और दोनों के परिणाम नाव (नाम) विषयक है; वहाँ एक की तो मग्नता विशेष है तथा दूसरे की कम है, वैसे (यहाँ स्वानुभव में भी) जानना।'

चौथे गुणस्थान की शुरूआत ही ऐसे निर्विकल्प स्वानुभवपूर्वक होती है, सम्यग्दर्शन कहो, चौथा गुणस्थान कहो या धर्म की शुरुआत कहो, वह ऐसे स्वानुभव के बिना होती नहीं है। स्वानुभव को प्रत्यक्ष कहा, उसमें अतीन्द्रिय वचनातीत आनन्द कहा, उसमें कोई विकल्प नहीं है ऐसा कहा, अतः किसी को प्रश्न उठे कि ऐसा अन्य अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष स्वानुभव किसको होता होगा ? - तो कहते हैं कि ऐसा अनुभव चौथे गुणस्थान से ही होता है। ऐसी निर्विकल्प आनन्द-दशा गृहस्थपने में रहे सम्यग्दृष्टि को भी मति-श्रुतज्ञान द्वारा होती है। चौथे गुणस्थान में विशेष-विशेषकाल के अन्तर पर किसी किसी समय ऐसा अनुभव होताहै।

पहली बार जब चौथा गुणस्थान प्रगट हुआ तब तो निर्विकल्प अनुभव हुआ ही था, परन्तु इसके बाद ऐसा अनुभव कुछ विशेषकाल के अन्तराल बाद होता है; और तत्पश्चात, ऊपर-ऊपर के (पाँचवे-छठे इत्यादि) गुणस्थान में ऐसा अनुभव बारम्बार होता है। पाँचवे गुणस्थान में चौथे के मुकाबले अल्प अल्पकाल के अन्तराल में अनुभव होता है; (चौथे गुणस्थानवाले किसी जीव को कभी-कभात तुरन्त ही ऐसा अनुभव होता है यह बात अलग है।) तथा छठे गुणस्थानवर्ती मुनि को तो बारम्बार अन्तर्मुहूर्त में ही नियम से विकल्प टूटकर स्वानुभव होता रहता है। सम्यग्दृष्टि को चौथे गुणस्थान में ज्यादा से ज्यादा कितने अन्तराल के बाद स्वानुभव होगा - इससे सम्बन्धित कोई निश्चित नाप जानने में नहीं आ रहा। छठे-सातवें गुणस्थानवर्ती मुनि के लिये तो नियम है कि अन्तर्मुहूर्त में निर्विकल्प उपयोग होगा ही; अन्यथा मुनिदशा ही नहीं टिकती। मुनिदशा में कभी ऐसा नहीं बनता कि लम्बेकाल पर्यंत निर्विकल्प अनुभव न आये और बाह्यप्रवृत्ति में (सविकल्पदशा में) ही रहा करे। वहाँ तो अन्तर्मुहूर्त में नियमपूर्वक निर्विकल्पध्यान होता ही है। मुनिदशा में कोई जीव भले लाखों-करोड़ों वर्ष रहे और उस दौरान छठा-सातवाँ गुणस्थान बारम्बार अन्तर्मुहूर्त में आता रहे, इस प्रकार समुच्चयरूप से उसका छठे गुणस्थान का काल भले लाखों-करोड़ों वर्ष हो जाय, परन्तु एक साथ अन्तर्मुहूर्त से विशेषकाल तक छठा गुणस्थान रह सकता ही नहीं है। छठे गुणस्थान का काल ही अन्तर्मुहूर्त से ज्यादा का नहीं है तो फिर लम्बे समय तक निद्राधीन हो जाने की तो बात ही कहाँ रही ? भगवानने छठे गुणस्थान का जो उत्कृष्ट काल कहा है वह उत्कृष्ट काल भी ऐसे जीव का ही होता है कि जो वहाँ से फिर मिथ्यात्व में जानेवाला हो। अन्य जीवों को ऐसा उत्कृष्टकाल होता नहीं है, उनको तो उससे अल्पकाल में विकल्प टूटकर सातवाँ गुणस्थान आ जाता है। मुनि बारम्बार निर्विकल्परस पीते हैं।

अहो, निर्विकल्पता तो अमृत है !

सभी मुनियों को सविकल्पदशा में छठा और क्षणभर में निर्विकल्प ध्यान होने पर सातवाँ गुणस्थान होता है। जैसे सम्यग्दर्शन निर्विकल्प-स्वानुभवपूर्वक प्रगट

होता है वैसे मुनिदशा भी निर्विकल्प ध्यान में ही प्रगट होती है, - पहले ध्यान में सातवां गुणस्थान प्रगट होता है और फिर विकल्प उठने पर छठा आता है। मुनि को तो बारम्बार निर्विकल्पध्यान होता है। वे तो केवलज्ञान के एकदम निकट के पडौसी है। अहा, बारम्बार शुद्धोपयोग के आनन्द में झूल रहे उस मुनिराज की अन्तरदशा की तो बात ही क्या ? अरे, सम्यग्दृष्टि-श्रावक को भी ध्यान के समय तो मुनि समान गिना है। मैं श्रावक हूँ या मुनि हूँ - ऐसा कोई विकल्प ही उसको नहीं है, उसे तो ध्यान के समय आनन्द के वेदन में ही लीनता है। चौथे गुणस्थान में ऐसा अनुभव कभी कभी होता है, तत्पश्चात् जैसे जैसे भूमिका बढ़ती जाती है वैसे वैसे काल अपेक्षा से बारम्बार होता है तथा भावअपेक्षा से लीनता बढ़ती जाती है।

चौथे गुणस्थान में स्वानुभव लम्बे काल के अन्तराल में होना कहा तथा ऊपर के गुणस्थान में वह जल्दी जल्दी होना कहा; तो इस प्रकार गुणस्थान-अनुसार मात्र काल के अन्तराल की ही विशेषता अनुभव के मामले में है या अन्य कोई विशेषता है ? तो कहते हैं कि परिणामों की लीनता में भी विशेषता है। स्वानुभव की जाति तो सभी गुणस्थानो में एक है, सभी का ही उपयोग तो चैतन्यस्वभाव में ही लगा हुआ है, परन्तु उसमें परिणाम की मग्नता गुणस्थान अनुसार बढ़ती जाती है। सातवें गुणस्थान में स्वानुभव में जैसी लीनता है वैसी तीव्र लीनता चौथे गुणस्थान में नहीं है; इस प्रकार निर्विकल्पता दोनों की होने के बावजूद परिणाम की मग्नता विशेष है। जैसे कोई दो पुरुष समान क्रिया को कर रहे हो - भगवान का नाम ले रहे हो, स्नान कर रहे हो या भोजनादि कर रहे हो - दोनों के परिणाम उनमें लगे हो फिर भी दोनों की परिणाम की एकाग्रता में फर्क होता है; किसी के परिणाम उसमें मन्दतापूर्वक लगे होते हैं और किसी के तीव्रतापूर्वक लगे होते हैं; वहाँ दोनों का उपयोग तो एक ही कार्य में लगा है, परन्तु एक के परिणाम उस कार्य में मन्दतापूर्वक वर्तते हैं और दूसरे से परिणाम उसमें तीव्रतापूर्वक वर्तते हैं, उस प्रकार चौथे गुणस्थान में निर्विकल्पता हो तथा सातवें गुणस्थान में निर्विकल्पता हो - वहाँ उन दोनों

का उपयोग तो आत्मा सम्बन्धित अनुभव में ही लगा है, परन्तु चौथे के मुकाबले सातवें गुणस्थान में परिणाम की मग्नता स्वरूप में विशेष है; अन्दर अबुद्धिपूर्वक राग बहुत मन्द है। चौथे गुणस्थान में स्वानुभव के समय भी अन्दर अबुद्धिपूर्वक (भले ही मन्द लेकिन) तीन कषाय चौकड़ी विद्यमान है, और सातवें गुणस्थान में मात्र एक संज्वलन चौकड़ी ही बाकी है। स्वानुभव में परिणामों की लीनता जैसे जैसे बढ़ती जाती है वैसे वैसे कषायों का अभाव होता जाता है।

इस प्रकार गुणस्थान अनुसार स्वानुभव की विशेषता जानना। जैसे जैसे गुणस्थान बढ़ता जाता है वैसे वैसे कषाय घटते जाते हैं और स्वरूपलीनता बढ़ती जाती है। धर्मी को गुणस्थान अनुसार जितनी शुद्धि हुई और जितनी वीतरागता हुई उतनी शुद्धि तथा वीतरागता तो पर की ओर उपयोग के काल में भी टिकी रहती है और उतना बन्धन तो उसे होता ही नहीं। चौथे गुणस्थान में निर्विकल्प ध्यान में हो फिर भी वहाँ अनन्तानुबन्धी के अलावा शेष तीनों कषाय का अस्तित्व है, और छठे गुणस्थान में शुभविकल्प में वर्तता हो, तो भी वहाँ अप्रत्याख्यानावरण या प्रत्याख्यानावरण कषाय नहीं है, मात्र संज्वलन कषाय है, अतः स्वानुभूति में न हो, इसलिये उन्हें दूसरों की तुलना में (निम्नगुणस्थानवर्ती अन्य धर्मात्मा की तुलना में) अधिक कषाय हो - ऐसा नहीं है।

परन्तु, इतना जरूर है कि एक ही भूमिका (गुणस्थान) वर्ती जीव सविकल्पदशा में हो उसकी तुलना में निर्विकल्पदशा के समय उशको कषाय बहुत ही मन्द हो जाते हैं। चौथे गुणस्थान में स्त्रीपुत्रादिवाले श्रावक को, अरे ! आठ वर्ष की बालिका को या तिर्यंच को भी उस निर्विकल्पदशा के समय बुद्धिपूर्वक के सारे राग-द्वेष छूट गये होते हैं, मात्र चैतन्य का गौला-आनन्द के सागर से उल्लसित होता हुआ - देह से भिन्न अनुभव में आता है। अतः ऐसे ध्यान के विद्यमानता के समय तो श्रावक को भी मुनिसमान गिना गया है। उस ध्यान में ज्ञानादि की निर्मलता भी बढ़ती जाती है, परिणाम की स्थिरता भी बढ़ती जाती है।

ज्ञानी संसार में गृहस्थपने में स्थित हो, राग-द्वेष-क्रोधादिद क्लेशपरिणाम कुछ

कुछ हो रहे हो, परन्तु उसकी ... लम्बी नहीं चलती; संसार के चाहे जैसे क्लेशप्रसंग या प्रतिकूलता के प्रसंग आये, परन्तु चैतन्य के ध्यान की स्फुरणा हुई वहाँ तो सारे ही क्लेश कहाँ के कहाँ भाग जाते हैं; चाहे जैसे प्रसंग में भी उसके श्रद्धा-ज्ञान घिर नहीं जाते, जहाँ चिदानन्दहंस का स्मरण किया वहीं पर दुनिया के सारे क्लेश दूर भाग जाते हैं, तो उस चैतन्य के अनुभव में तो क्लेश कैसा ? उसमें तो सिर्फ आनन्द है... सिर्फ आनन्द की धारा ही बहती है। अतः कहते हैं कि अरे जीवो ! इस चैतन्यस्वरूप के चिंतन में क्लेश तो ज़रा भी नहीं है और उसका फल महान है, उसके चिंतन में महान सुख की प्राप्ति होती है, तो ध्यान में उसका चिन्तवन क्यों नहीं करते हो ? और उपयोग को क्यों बाहर में ही भटका रहे हो ? ज्ञानी को अन्य सब कुछ भले दिख रहा हो, परन्तु अन्दर चैतन्य की जड़ीबुटी हाथ में रखी है, संसार के ज़हर को उतार देनेवाली जड़ीबुटी यह है; रस जड़ीबुट्टी को सूंघते ही उसकी संसार की थकान क्षणभर में उतर जाती है।

जीव को शुद्धात्मा को चिंतन का अभ्यास करना चाहिए। जिसे चैतन्य के स्वानुभव का रंग लगे उसे संसार का रंग उतर जाता है। भाई, तू अशुभ और शुभ दोनों से दूर होगा तब शुद्धात्मा का चिंतन होगा। जिसे अभी पाप के तीव्र कषायों से भी निवृत्ति नहीं है, देव-गुरु की भक्ति, बहुमान, साधर्मियों का प्रेम इत्यादि अत्यंत मन्द कषाय की भूमिका में भी जो आया नहीं है, वह अकषाय चैतन्य का निर्विकल्प ध्यान कहाँ से करेगा ? पहले सारे ही कषायों का (शुभ-अशुभ का) रंग भीतर से उड जाय... जहाँ उसका रंग उड़ जाय वहाँ उसकी अत्यंत मन्दता तो सहज हो ही जाती है, और फिर चैतन्य कारंग चढ़ने पर उसे अनुभूति प्रगट होती है। बाकी परिणाम को एकदम शान्त किये बिना वैसे ही अनुभव करना चाहे, तो होता नहीं है। अहा, अनुभवी जीव की अन्दर की दशा कुछ ओर होती है !

[अब स्वानुभव को निर्विकल्प कहा इससे सम्बन्धित स्पष्टता प्रश्न-उत्तर द्वारा करते हैं :-]

प्रकरण - २३

स्व में उपयोग के समय अबुद्धिपूर्वक विकल्प होने के बावजूद निर्विकल्पपना क्यों कहा ? अनुभव की अचिंत्य महिमा और उसकी प्रेरणा

`प्रश्न :- यदि निर्विकल्प-अनुभव में कोई विकल्प नहीं है तो शुक्लध्यान का प्रथम भेद जो पृथकत्व-वितर्क-विचार कहा है उसमें पृथक्त्व वितर्क-विचार अर्थात् अनेक प्रकार के श्रुत एवं विचार, अर्थात् अर्थ-व्यंजन और योग का संक्रमण - ऐसा क्यों कहा ?

उत्तर :- कथन दो प्रकार से है - एक स्थूलरूप है और दूसरा सूक्ष्मरूप है। जैसे स्थूलरूप से तो छठे गुणस्थान में ही संपूर्ण ब्रह्मचर्यव्रत कहा तथा सूक्ष्मरूप से नौंवे गुणस्थानतक मैथुनसंज्ञा कही; वैसे यहाँ अनुभव के विषय में निर्विकल्पता स्थूलरूप से कहते हैं; परन्तु सूक्ष्मरूप से पृथकत्ववितर्क-विचार आदि भेद में अथवा दसवें गुणस्थान तक कषायादि कहे हैं। जो स्वयं को अथवा अन्य को जानने में आ सके ऐसे भावका कथन स्थूल समझना और जिन्हें स्वयं भी न जाने, केवली भगवान ही जाने ऐसे भावों का कथन सूक्ष्म जानना। इसमें चरणानुयोग इत्यादि में स्थूल कथन की मुख्यता है। और करणानुयोग इत्यादि में सूक्ष्म कथन की मुख्यता है। ऐसा भेद अन्यत्र भी जानना। इस प्रकार निर्विकल्प अनुभव का स्वरूप जानना।'

उपयोग जब स्वानुभव में जुड़ता है तब निर्विकल्पदशा कही जाती है, क्योंकि उस समय उपयोग का जुड़ान विकल्प के साथ नहीं है उपयोग जिस स्वरूप में ही एकाग्र हुआ है। हालाँ कि निर्विकल्प अनुभव के समय भी सरागी जीव को अन्दर अबुद्धिपूर्वक के विकल्प तो हैं, राग का कार्य विकल्प है वह वहाँ पड़ा है, परन्तु उपयोग उसमें नहीं है, और वह ऐशा सूक्ष्म है कि वह अपने को या अन्य स्थूल ज्ञानी को ख्याल में आ नहीं सकता, सामान्य छद्मस्थ के ख्याल में आ सके ऐसे स्थूल विकल्प वहाँ नहीं है, अतः स्थूल कथन में वहाँ निर्विकल्पता ही कही जाती है। जोसूक्ष्म विकल्प या कषाय वहाँ विद्यमान है वह अबुद्धिपूर्वक है तथा सर्वज्ञ को या अवधि-मनःपर्यय ज्ञानी को ही गम्य है। मति-श्रुतज्ञानी आगम से या अनुमान से उसकी विद्यमानता निश्चित कर सके, परन्तु सीधा नहीं जानता। करणानुयोग के सूक्ष्म कथन की अपेक्षा से तो दसवें गुणस्थान तक कषाय के अंश का या विकल्प का सद्‌भाव कहा है, परन्तु वह सामान्य जीवों को गम्य नहीं है, अतः उसका कथन सूक्ष्मकथन में किया, और सामान्यरूप से वहाँ निर्विकल्पता कही। उसी प्रकार पृथकत्व-वितर्क-विचार नाम का प्रथम शुक्लध्यान आठवें से बारहवें गुणस्थान तक होता है वहाँ सूक्ष्मरूप से अपने द्रव्य-गुण-पर्याय इत्यादि में योग का संक्रमण होता है; दसवें तक सूक्ष्मरूप से राग का विकल्प भी विद्यमान है, परन्तु एक तो वह सामान्य जीवों को गम्य नहीं है, और दूसरा वहाँ पर मुख्यता स्वानुभव की ही है, अतः अबुद्धिपूर्वक के सूक्ष्म विकल्प को गौण करके वहाँ निर्विकल्पता कही है। इस प्रकार मुख्य-गौण करके कथन करने चले तो शास्त्र में उसका अन्त आ नहीं सकता तथा जीवों को यह पकड़ में भी नहीं आयेगा। अतः जीव हित-अहित सम्बन्धित ज्ञान करके अपने प्रयोजन को सिद्ध कर सके इस तरह से शास्त्रों ने १४ गुणस्थान इत्यादि कथन किया है; अत्यंत सूक्ष्मता से तो एक एक गुणस्थान में भी परिणामों के असंख्य प्रकार पड़ते हैं। अतः प्रकरण अनुसार कहीं स्थूलकथन होता है और कहीं पर सूक्ष्म कथन होता है। स्वानुभव को निर्विकल्प कहा है वह स्थूलकथन है; और जब सूक्ष्मपरिणाम दिखाने हो तब वहाँ पर जो सूक्ष्मपरिणाम,

कषाय इत्यादि होते हैं उसका भी कथन करते हैं। यहाँ इतना विशेष जानना कि पृथक्त्व-वितर्क-विचार इत्यादि में स्वानुभव के समय भी जो वितर्क-विचार कहे हैं वे स्व क स्व में ही है, स्वमें से उपयोग छूटकर कोई पर में जाय - ऐसा स्थूल संक्रमण वहाँ नहीं है। स्वानुभव के समय उपयोग तो स्वज्ञेय में ही है; परन्तु जब तक वीतरागभाव पूरा नहीं हुआ है और कषाय का अत्यंत सूक्ष्म अंश भी बाकी है तब तक परिणाममें इतनी चंचलता है। तथा ११-१२ गुणस्थान में रा नहीं होने के बावजूद अभी श्रुत उपयोग में उतनी चंचलता है।

चरणानुयोग में सामान्यतया ऐसा कहा जाता है कि मुनि सर्वथा अपरिग्रही है; परन्तु करणानुयोग में अन्दर के सूक्ष्म परिणाम बताने के लिये ऐसा कहते हैं कि दसवें गुणस्थान तक परिग्रह (अन्दर का सूक्ष्म लोभ) है; इस प्रकार विवक्षा अनुसार दोनों कथन सही है, उनमें कोई विरोध नहीं है। ऊपर के गुणस्थान में जो सूक्ष्म लोभादि परिणाम है, उसका कार्य बाहर में स्थूलरूप में दिखता नहीं है - बाहर में वस्त्रादि का ग्रहण होता नहीं है अतः स्थूल विवेचन में उसका अभाव गिनकर मुनि को निष्परिग्रही कहा। और सूक्ष्म करणानुयोग में भूमिका अनुसार जो जो परिणाम वर्तते हैं उसका ज्ञान भी करवाया। सूक्ष्म परिणाम की अपेक्षापूर्वक नौंवे गुणस्थान में भी वेद का उदय कहा अतः वहाँ भी मैथुनसंज्ञा का सद्भाव कहा, परन्तु मुनि को स्थूल प्रवृत्ति में या बुद्धिपूर्वक के परिणाम में उसका अभाव ही है अतः छठे गुणस्थान में भी संपूर्ण ब्रह्मचर्यव्रत कहा। द्रव्यानुयोग में ऐसा कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि जीव अबन्ध है - क्योंकि शुद्ध अबंधस्वभाव को दृष्टि में लिया है; और करणानुयोग में ऐसा कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि को (चौथे गुणस्थान में) ६६ कर्मप्रकृतियों का बन्धन होता है। दोनों प्रकार का ज्ञान करना चाहिए। सम्यग्दृष्टि को अबन्ध कहा वहाँ पर उसकी शुद्धदृष्टि का स्वरूप बताना है; और जिस राग के कारण कर्म प्रकृतियों का बन्ध पड़ता है उस राग का भी वे शुद्धस्वभाव में स्वीकार नहीं करते, और शुद्धदृष्टि बन्ध का कारण नहीं होती। इस प्रकार सम्यग्दृष्टि को द्रव्यानुयोग में अबन्ध कहा, और अभी भूमिका अनुसार अपनी पर्याय में जितने रागादि है

और जितनी कर्मप्रकृति बन्धती है उसका भी अस्तित्व करणानुयोग में बताया। इस प्रकार यहाँ स्वानुभव में भी, सूक्ष्मरूप से वहाँ अबुद्धिपूर्वक का विकल्प विद्यमान होने के बावजूद, उपयोग निजस्वरूप में ही है और बुद्धिपूर्वक का कोई विकल्प नहीं है अतः निर्विकल्पपना कहा - ऐसा समझना।

इस प्रकार निर्विकल्प अनुभव का स्वरूप बहुत तरह से स्पष्ट किया। सम्यग्दृष्टि को चौथे गुणस्थान में भी ऐसा अनुभव होता है यह भी खास करके बताया। इस प्रकार सम्यक्त्व की तथा स्वानुभव की अलौकिक चर्चा की। देखो, साधर्मीलोग आपस में सम्यग्दर्शन की तथा स्वानुभव की कैसी सुन्दर चर्चा करते हैं यह बात इस पत्र में दिख रही है। धर्मात्मा एक दूसरे के संग में हो, तो अनुभव की अलौकिक चर्चा करते हैं। जैसे दो व्यापारी इकट्ठे हो तो व्यापार की एवं भावताल की बातें करते हैं, दो-चार इकट्ठे हो तो चोरी की चर्चा करते हैं, ऐसे दो धर्मी मिले तो स्वानुभव की बातें करते हैं। जिसे जो बात प्रिय लगती है, वह उसीका घोलन करता है।

यह सम्यक्त्व की एवं स्वानुभव की बहुत सुन्दर बात है... उसे लक्षगत करने पर जन्म-मरण टल जाय ऐसी अलौकिक बात है यह ! यह 'स्वानुभव' कला - यही संसारसमुद्र को तिरने की कला है, बाकी अन्य पढ़ाई आये तो भी ठीक, न आये तो भी ठीक। इस स्वानुभव-कला को जो जानता नहीं है वह भले अन्य अनेक कलाएँ जानता हो, तो भी संसार समुद्र को तिर नहीं सकता, मोक्ष के लिये उसकी कोई-सी भी कला काम में नहीं आती। और स्वानुभव की एक कलाको जो जानता है उसे भले शायद अन्य कला न आती हो, तो भी स्वानुभव के बल से वह संसार को तिर जायेगा और मोक्ष को प्राप्त करेगा। स्वानुभव के कारण उसे केवलज्ञान की ऐसी महाविद्या खिलेगी कि जिस में जगत की सारी ही विद्याओं का ज्ञान समाहित है !! अरे, आयुष्य कम, बुद्धि की अल्पता और श्रुत का कोई अन्त नहीं - उसमें हे जीव ! तुझे यही सीखने लायक है कि जिससे इस भवसमुद्र को तिरा जा सके। दूसरी इधर-उधर की बात में फंसे बिना इस मूल प्रयोजनभूत बात को जान

कि जिसे जानने से आथ्मा इस संसारसमुद्र को तिर जाय। इससे सम्बन्धित दृष्टांत : एक पोथीपंडित विद्वान नौका में बैठकर जा रहा था; बीच में नाविक के साथ बातचीत करते करते उसने पूछा - क्यों नाविक ! तुझे संगीत आता है ? नाविक ने कहा - नही भाई ! फिर थोड़ी देर बाद पूछा - व्याकरण आता है ? ज्योतिष आता है ? गणित आता है ? नाविक ने तो कहा - नहीं... बाबा ! आखिर में पूछा भाई ! पढ़ना-लिखना तो आता होगा ! नाविकने कहा नहीं रे बाबा ! हमारे तो यह नदी भली और हमारी नौका भली... हमें तो इस पानी में तिरना कैसे यह आता है। पंडितजी ने कहा - बस, तब तो भाई नाविक ! तुम्हारी जिन्दगी पानी में गई। हम तो न्याय-व्याकरण-संगीत-कायदा-ज्योतिष इत्यादि सब जानते हैं। नाविक ने कहा - बहुत अच्छा.. बाबा ! हमें तो अपने काम से मतलब है ! अबी तो इस प्रकार बात कर रहे हैं इतने में तो जोरदार तुफान उठा और नौका तो डाँवाडोल होती हुई बहने लगी... और डूब जायेगें ऐसा लगा; तब नाविक ने पूछा - शास्त्रीजी महाराज ! आपको तैरना आता है या नहीं ? शास्त्रीजी तो घबड़ा गये और कहा - ना भाई, सब कुछ आता है लेकिन एक तैरना नहीं आता। नाविक बोला - आपने सब कुछ सीखा लेकिन तैरना नहीं सीखा... यह नौका तो अभी डूब जायेगी... मुझे तो तैरना आता है अतः मैं तो तैरकर अभी सामनेवाले किनारे तक पहुँच जाऊँगा... परन्तु आप तो इस नौका के साथ अभी डूब जाओगे, आप और आप के साथ आपकी सारी ही विद्यायें भी पानी में जायेगी। यह तो एक दृष्टांत है। उस प्रकार जिसे इस भवसमुद्र से तिरना हो - पार उतरना हो उसे स्वानुभव की विद्या सीख लेनी चाहिए। दूसरी अप्रयोजनभूत जानकारी बहुत करे परन्तु अन्तर में यदि स्वभावभूत चैतन्यवस्तु क्या है उसे लक्षगत न करे तो बाहर का जानपना उसे (पोथीपंडित विद्वान की भाँति) संसार से पार उतरने के काम में नहीं आयेगा। और जिसने बाहर की महिमा छोड़कर अन्दर में चैतन्य विद्या की साधना की है उसे बाहर की अन्य विद्या कदाचित् कम हो तो भी (नाविक की भाँति) स्वानुभव की विद्या द्वारा वह भवसमुद्र को पार कर जायेगा और

तीन लोक में सब से श्रेष्ठ ऐसी केवलज्ञानविद्या का वह स्वामी हो जायेगा।

अरे जीव ! स्वानुभव की कला सिखानेवाले और संसार से पार लगानेवाले संत-धर्मात्मा तुझे मिले, तो अभी तेरी बाहर की कला की जानकारी की चतुराई एक तरफ रख और स्वानुभव कला की महत्ता को समझ। भाई ! उसके बिना संसार का कोई किनारा नहीं है। इस स्वानुभव के सामने बाकी केसारे अभ्यास-पढ़ाई सब निःसत्व (थोथा) है। हजारों वर्ष के शास्त्राभ्यास के मुकाबले सिर्फ एक क्षण का स्वानुभव बढ़ जाता है। अतः उसे तू जान। आत्मा के ज्ञान-ध्यान द्वारा धर्मी को शुद्धता बहुत बढ़ती जाती है और असंख्यात गुनी निर्जरा होती है। बाहर का क्षयोपशम तो बढ़े या न भी बढ़े परन्तु अन्दर चैतन्य का अनुभव करने की ज्ञान की शक्ति उसको बढ़ती जाती है, और आवरण एकदम टूटता जाता है, एक क्षणभर के स्वानुभव से ज्ञानी को जो कर्मबन्धन टूटते हैं, अज्ञानी को लाख उपाय करने पर भी उतना कर्मबन्धन टूट नहीं पाता। इस प्रकार सम्यक्त्व की एवं स्वानुभव की कोई अचिंत्य महिमा है। - ऐसा समझकर हे जीव ! तू उसकी आराधना में तत्पर हो जा।

सम्यक्त्व संबंधित एवं निर्विकल्प अनुभव से सम्बन्धित बहुत अच्छा स्पष्टीकरण किया; अब साधर्मियों ने पत्र में जो अन्य प्रश्न लिखे हैं उसके उत्तर दे रहे हैं।

स्वतंत्रता की बात जमें उसकी बलिहारी !

जिसे अपनी स्वतंत्रता की बात जमी, उसका परिणमन स्व की तरफ झुका... अरे, अपनी स्वतंत्रता भी जिसे नहीं रुचती इसे तो क्या कहें ? उसका तो अनादि से उस तरह का परिणमन चल ही रहा है। स्वरूप की अंतरदृष्टि से अपूर्व दशा प्रगट करे उसकी बहिलारी है !

प्रकरण - २४

मति-श्रुतज्ञान - यह केवलज्ञान का अंश है क्योंकि दोनों की जाति एक है।

`तथा भाईजी ! आपने तीन दृष्टांत लिखे और उन दृष्टांत के विषय में प्रश्न लिखे; परन्तु वे दृष्टांत सर्वांगरूप से तुलना में नहीं मिलते; क्योंकि दृष्टांत है वह एक प्रयोजन को बताते हैं। यहाँ पर दूज का विधु अर्थात् चन्द्रमा, जलबिन्दु तथा अग्निकणिका ये तो तीनों एकदेश है और पूर्णमासी का चन्द्र, समुद्र तथा अग्निकुंड ये सर्वदेश हैं। उसी प्रकार चौथे गुणस्थान में आत्मा को ज्ञानादि गुण एकदेश प्रगट होते हैं उसकी तथा तेरहवें गुणस्थान में आत्मा के ज्ञानादि गुण सर्वदेश प्रगट होते हैं उसकी एक जाति है।

इस में आफने प्रश्न लिखा कि - `कि जाति है इसलिये जैसे केवली सभी ज्ञेय को प्रत्यक्ष जानते हैं वैसे चौथा गुणस्थानवर्ती भी आत्मा को प्रत्यक्ष जानता होगा ? - परन्तु भाईजी ! वहाँ प्रत्यक्षपने की अपेक्षा से जाति एक नहीं है परन्तुं सम्यग्ज्ञान की अपेक्षा से एक जाति है...''

जैसे पूर्णिमा का अंश वह दूज, समुद्र का अंश एक जलबिन्दु तथा बड़े अग्निकुंड का अंश एक अग्निकण - इन दृष्टांतो में तो क्षेत्र अपेक्षा से अंश-अंशीपना है परन्तु आत्मा में श्रुतज्ञान को पूर्णज्ञान का अंश कहा उसमें कोई

क्षेत्र अपेक्षा से अंश-अंशीपना नहीं है, परन्तु भावअपेक्षा से अंश-अंशीपना है। क्षेत्र तो दोनों का एक समान ही है। जैसे दूज का चांद निकलने पर चंद्र का थोड़ा-सा क्षेत्र खुला तथा अन्य ढ़का हुआ है वैसे आत्मा में कुछ थोडे-से प्देश निरावरण हुए और अन्य आवरणयुक्त रहे ऐसा नहीं है। परन्तु जैसे पूर्णचन्द्र प्रकाश देता है वैसे दूज भी प्रकाश देती है, प्रकाश देने का स्वभाव दोनों में समान है, एक पूरा प्रकाश देता है तथा दूसरा थोड़ा प्रकाश देता है इतना ही फर्क है, वैसे यहाँ आत्मा में केवलज्ञान पूर्ण प्रकाश देनेवाला है और मतिश्रुतज्ञान दूज की माफिक थोड़ा प्रकाश देता है, प्रकाश देने का स्वभाव दोनों का समान है, इसलिये दोनों की एक जाति है। इस प्रकार उनके अंश-अंशीपना समझना। जैसे दूज है वह कोई मिट्टी के तवे का टूकडा नहीं है परन्तु चंद्र का टूकडा है, वैसे मति-श्रुतज्ञान जो है वह ज्ञान का ही अंश है, राग का अंश नहीं है। मति-श्रुत का तथा केवलज्ञान का क्षेत्र एक ही है अतः क्षेत्र अपेक्षा से उनके अंश-अंशीपना नहीं है परन्तु भाव-अपेक्षा से अंश-अंशीपना है। तीनों दृष्टांत में इस तरह उचितरूप से समझना।

पुनःश्च, १३ वें गुणस्थान का केवलज्ञान तथा चौथे गुणस्थान का सम्यक् मति-श्रुतज्ञान इन दोनों में सम्यक्पने की अपेक्षा से एक जाति है; परन्तु जैसे केवलज्ञान सर्व पदार्थों को, असंख्य आत्मप्रदेशों को इत्यादि सभी को ही प्रत्यक्ष साक्षात् जानता है वैसे मति-श्रुतज्ञान कोई प्रत्यक्ष नहीं जानते। अतः प्रत्यक्षपने की अपेक्षा से दोनों कोई समान नहीं है, परन्तु जाति अपेक्षा से समान है। मतिज्ञान या केवलज्ञान इत्यादि सभी ज्ञानों को सामान्यज्ञान स्वभाव के साथ ही एकता है। अतः `समयसार' में आचार्यदेवने कहा है कि -

मति, श्रुत, अवधि, मनः, केवल समहि एक हि पद जु है।
वो ज्ञानपद परमार्थ है, जो पाय जीव मुक्ति लहे।।२०४।।

ज्ञानसामान्य के ही ये सारे विशेष हैं, अतः ये सारे भेद ज्ञान का ही अबिनन्दन करते हैं, उन सभी की एक ही जाति है। उनमें प्रत्यक्ष-परोक्ष इत्यादि भेद हैं, परन्तु जातिभेद नहीं है। जैसे किसी वणिक (बनिये) के पास अधिक पूँजी

हो, किसी के पास कम हो, अतः पूंजी की शक्ति का भेद है परन्तु उससे कोई जातिभेद नहीं है, वणिक जाति की अपेक्षा से दोनों समान ही है। वैसे केवलज्ञान का सामर्थ्य बहुत अपार, तथा मतिश्रुत का सामर्थ्य कम - इस प्रकार सामर्थ्य में भेद होने के बावजूद दोनों की जाति एक ही है, सम्यग्ज्ञानपने में तो दोनों समान ही है। तथा स्वानुभव के काल में तो मति-श्रुतज्ञान भी प्रत्यक्ष जैसा हो जाता है।

श्रुतज्ञान में भी ऐसी बेहद ताकत है कि केवलज्ञान अनुसार सभी तत्त्वों को जान ले। यहाँ प्रयोजनभूत तत्त्वों की अपेक्षा से बात समझना केवलज्ञान अनुसार सभी प्रयोजनभूत तत्त्वों का परोक्ष निर्णय श्रुतज्ञान भी कर सकता है। भले ही सभी क्षेत्रों को या तीन काल के समयों को भिन्न भिन्न न जान सके किन्तु अपने हित-अहित संबन्धित प्रयोजनभूत तत्त्वों को तो वह श्रुतज्ञान भी केवलज्ञान अनुसार ही जानता है, उसमें विपरीतता नहीं होती। वह केवलज्ञान के समान प्रत्यक्ष भले न जानो परन्तु उसमें विपरीतता नहीं होती - इस अपेक्षा से उसमें एक जातिपना समझना।

पुनःश्च इस सम्बन्ध में विशेष कहते हैं :-

प्रकरण - २५

स्वानुभवरूप श्रुतज्ञान की अचिंत्य ताक़त

`चौथे गुणस्थानवर्ती को मति-श्रुतरुप सम्यग्ज्ञान है, तथा तेरहवें गुणस्थान में केवलरूप सम्यग्ज्ञान है। तथा एक देश-सर्वदेश का तो इतना ही अन्तर है कि, मतिश्रुतज्ञानवाला अमूर्तिक वस्तु को परोक्ष तथा मूर्तिक वस्तु को भी प्रत्यक्ष या परोक्ष किंचित् तथा अनुक्रमपूर्वक जानता है जब कि केवलज्ञान सर्वथासर्व को युगपत् जानता है। वह (मति-श्रुत) परोक्ष जानता है और यह (केवलज्ञान) प्रत्यक्ष जानता है, उतना ही विशेष (तफावत) है। परन्तु यदि सर्व प्रकार से एक ही जाति कहें तो जैसे केवलज्ञानी युगप्त, प्रत्यक्ष, अप्रयोजनरूप, (सर्व) ज्ञेयों को निर्विकल्परूप से जानता है वैसे यह मति-श्रुतज्ञानी भी जानता है, - परन्तु ऐसा तो नहीं है। अतः इनमें प्रत्यक्ष-परोक्ष का विशेष (फर्क) जानना। `अष्टसहस्त्री' में कहा है कि -

स्याद्वादकेवलज्ञाने सर्वतत्त्वप्रकाशने।
भेदः साक्षादसाक्षाच्च ह्यवस्त्वन्यतमं भवेत्।।

इसका अर्थ - स्याद्वाद अर्थात् श्रुतज्ञान व केवलज्ञान ये दोनों सर्वतत्त्वों को प्रकाशित करनेवाले हैं; विशेष इतना कि केवलज्ञान प्रत्यक्ष है और श्रुतज्ञान परोक्ष है। परन्तु वस्तुपने से देखने पर वे भिन्न नहीं है।'

देखो, इसमें तेरहवें गुणस्थान का केवलज्ञान व चौथे गुणस्थान का श्रुतज्ञान इन दोनों की एक जाति किस प्रकार है तथा दोनों में तफावत किस प्रकार है इससे संबंधित स्पष्टता की है।

जैसे अंशी व उसका अंश भिन्न नहीं है वैसे केवलज्ञान व श्रुतज्ञान वस्तुत्व की दृष्टि से भिन्न नहीं है। जैसे-केवलज्ञान और राग इन दोनों की तो जाति ही भिन्न है, वैसे कोई केवलज्ञान व श्रुतज्ञान की जाति भिन्न नहीं है; समकिती भी श्रुतज्ञान द्वारा केवल शुद्ध आत्मा का अनुभव करते होने से परमार्थ से उनको 'श्रुत-केवली' कहा है। यदि 'श्रुत' विशेषण को लक्ष में न लो तो केवल - सिर्फ ज्ञान ही रहता है। इस प्रकार श्रुतज्ञानी का ज्ञान तथा केवलज्ञानी का ज्ञान - इन दोनों की जाति एक ही है। तथा सम्यक् श्रुतज्ञान के अंश बढ़ते बढ़ते केवलज्ञान में मिल जाते हैं, अतः वे केवलज्ञान के ही अंस है; ज्ञानस्वभाव की जाति के वे अंश है, वे कोई पर का अवलंबन लेकर प्रगट नहीं हुए हैं, स्वभाव के अवलंबन से प्रगट हुए हैं। इस प्रकार इनके एक जातिपना होने के बावजूद उनमें विशेषता (फर्क) भी है। केवलज्ञान की जैसी दिव्य, अचिंत्य, संपूर्ण ताक़त है ऐसी ताक़त श्रुतज्ञान में नहीं है। श्रुतज्ञान की तुलना में केवलज्ञान का सामर्थ्य अनन्तगुना बढ़ जाता है। यदि जाति की भाँति समार्थ्य में भी दोनों समान होते तो केवलज्ञान की माफिक श्रुतज्ञान भी सर्वपदार्थों को प्रत्यक्ष, युगपत्, निर्विकल्परूप से जान लेता। परन्तु सभी पदार्थों को वह प्रत्यक्ष जान सकता नहं है, एक साथ भी जान सकता नहीं है, तथा परज्ञेयों को विकल्परहित होकर भी जान सकता नहीं है। अमरीका में क्या हो रहा है और रुस में क्या हो रहा है - ऐसी अप्रयोजनभूत वस्तु को जानने को चले, तो वहाँ श्रुतज्ञान में विकल्प हुए बिना रहता नहीं है, जब कि केवलज्ञान तो अप्रयोजनरूप पदार्थों को भी विकल्प के बिना साक्षात् जानता है। श्रुतज्ञानी का उपयोग स्व में जुड़ा हुआ हो तब पर का ख्याल नहीं रहता है, परन्तु केवली प्रभु तो स्व-पर सभी को एकसाथ जान लेते हैं। अनन्तकाल पहले की या बाद की पर्यायों को भिन्न-भिन्न रूप में श्रुतज्ञान जान नहीं सकता, जब कि केवलज्ञान तो तीनों काल

का पार पा लेता है, कोई आवरण इत्यादि उसे बाधा नहीं पहुँचाता। मति-श्रुतज्ञान तो खास-खास पदार्थों को ही प्रत्यक्ष या परोक्ष जानता है, अमूर्त-धर्मास्तिकाय इत्यादि को वह प्रत्यक्ष नहीं जान सकता, जितने पदार्थों को जानता है उनको भी एक साथ नहीं जान पाता, परन्तु क्रमशः (एक के बाद एक) जानता है, और उसमें भी उसके सभी धर्मों को नहीं जानता, परन्तु कुछ-कुछ धर्मों को ही जान सकता है, जब कि केवलज्ञान की तो संपूर्ण ताक़त खुल गई होने की वज़ह से उसे सभी ज्ञेय एक साथ संपूर्ण, प्रत्यक्ष, सर्व पहलूओं से जानने में आते हैं। इस प्रकार केवलज्ञान में और मतिश्रुतज्ञान में प्रत्यक्ष-परोक्ष का जो भेद है एवं सामर्थ्य में भी जो भेद है वह जानना चाहिए।

परन्तु आत्मा का स्वानुभव करने में यह भेद बाधारूप नहीं बनता। श्रुतज्ञान भले अल्प सामर्थ्यवाला हो, फिर भी अंतर्मुख होकर, विकल्प तोड़कर स्वसंवेदन प्रत्यक्षता द्वारा आत्मा का अनुभव करता है; ऐसे अनुभव के बल के सहारे अंतर्मुहूर्त में केवलज्ञान भी प्राप्त कर लेते हैं। शुद्ध आत्मा आदि प्रयोजनभूत तत्त्वों को तो जैसा केवलीभगवानने जाना वैसा ही श्रुतज्ञान जानता है, उनमें विपरीतता नहीं है। भले केवलज्ञान जैसी अनन्त पहलुओंकी स्पष्टता श्रुतज्ञान में न हो; किन्तु विपरीतता तो नहीं है। श्रुतज्ञानने भी सभी ही पदार्थों के स्वभाव को (उत्पाद-व्यय-ध्रुवस्वभाव, अस्ति-नास्ति इत्यादि स्वभाव का) केवलज्ञान अनुसार परोक्ष निर्णय कर लिया है कि जगत के सभी पदार्थों का स्वभाव ऐसा होता है। केवलीभगवान सभी पदार्थों की पदार्थों की अवस्था क्रमबद्ध होना जाने और श्रुतज्ञानी उससे विपरीत (अक्रमपूर्वक होने का) जाने - ऐसा नहीं बनता; केवलीभगवान ऐसा जाने कि वीतरागभाव है वह धर्म है और श्रुतज्ञानी ऐसा जाने की शुभराग है वह धर्म है - इस प्रकार विपरीतता होती नहीं है। मार्ग तो जैसा केवलीभगवानने देखा वैसा ही श्रुतज्ञानी जानता है, उसमें लेशमात्र रंचमात्र भी फर्क नहीं है।

इस प्रकार केवलज्ञान व सम्यक् मतिश्रुतज्ञान एक जाति के होने के कारण मति-श्रुतज्ञान केवलज्ञान का भी निर्णय कर सकता है। `मुझे स्वानुभव हुआ

या नहीं, अथवा मैं भव्य हूँ या नहीं, यह तो केवली जाने, हमें इसका पता नहीं लग सकता' - ऐसे वचन ज्ञानी के नहीं होते। अपनी स्वसंवेदन प्रत्यक्षता के बल से ज्ञानी तो निःशंक (केवलज्ञानी के बराबर ही निःशंक) जानता है कि मुझे मेरे आत्मा का स्वानुभव हुआ, भवकंरी (भव का अंत) हो गयी, और भव्य तो हूँ ही, मगर अत्यंत निकट भव्य हूँ, आत्मा का आराधक हुआ हूँ और प्रभु के मार्ग में शामिल हो गया हूँ। अब हमें इस भवभ्रमण में भटकने का नहीं है। ऐसा अन्दर से आत्मा स्वयं ही स्वानुभव की चुनौती देता हुआ जवाब देता है।

प्रश्न :- अज्ञानी भी केवलज्ञान का सम्यक् निर्णय कर सकता है या नहीं?

उत्तर :- भाई, केवलज्ञान का सम्यक् निर्णय करने पर अज्ञान रहेगा नहीं; क्योंकि केवलज्ञान का निर्णय उसकी जाति के अंश द्वारा ही होता है; उससे विरुद्ध भाव द्वारा केवलज्ञान का निर्णय होता नहीं है। राग द्वारा या अज्ञान द्वारा केवलज्ञान का ऐसा निर्णय होता नहीं है। सामान्यरूप से भले वह केवलज्ञानी का स्वीकार करता हो, परन्तु यदि उसके सच्चे स्वरूप को पहिचानकर स्वीकार करे तो वह अज्ञानी रहे नहीं। यही बात 'पंडित टोडरमल्लजी' ने 'मोक्षमार्ग प्रकाश' में भी कही है - 'अर्हंतदेव के कोई विशेषण तो पुद्गलाश्रित हैं और कोई विशेषण जीवाश्रित है, उनको अज्ञानी भिन्न भिन्न पहचानता नहीं है... जो बाह्य विशेषण हैं उन्हें जानकर, उनके कारण अरहंतदेवकी महानता मानता है, परन्तु जीव के जो विशेषण हैं उन्हें यथावत् नहीं जानता होने के कारण उनके द्वारा अरहंतदेव का महानपना मात्र आज्ञानुसार मानता है, अथवा अन्यथा भी मानता है; यदि जीव के विशेषण यथावत् जाने तो मिथ्यादृष्टि रहेगी नहीं।'

शंका :- कोई जीव अरिहंतादि का श्रद्धान करता है, उनके गुणों को पहचानता है फिर भी उसे तत्त्वश्रद्धानरूप सम्यक्त्व होता नहीं है; अतः जिसे अरिहंतादि का सच्चा श्रद्धान हो उसे तत्त्वश्रद्धान अवश्य हो ही - ऐसा नियम सम्भव नहीं लगता।

समाधान :- तत्त्वश्रद्धान के बिना अरिहंतादि के छयालीस आदि गुण जानता है, वहाँ पर्यायाश्रित (- देहाश्रित) गुणों का जानपना भी (यथार्थरूप से) नहीं होता, क्योंकि जीव-अजीव की भिन्न जाति को पहचाने बिना अरिहंतादि के आत्माश्रित एवं शरीराश्रित गुणों को वह भिन्न-भिन्न जानता नहीं है। यदि जाने तो वह अपने आत्मा को परद्रव्य से भिन्न क्यों नहीं जाने ? यही 'प्रवचनसार' की गाथा ८० में कहा है कि... जो अरिहंत को द्रव्यत्व, गुणत्व तथा पर्यायत्व द्वारा जानता है वह आत्मा को जानता है और उसका मोह नाश को प्राप्त होता है... अरिहंतादि का स्वरूप तो आत्माश्रित भावों द्वारा तत्त्वश्रद्धान होने पर ही जानने में आता है। अतः जिसे अरिहंतादि का सच्चा श्रद्धान हो उसे तत्त्वश्रद्धान अवश्य होता ही है - ऐसा नियम जानना।

देखो, यह अरिहंतादि को पहचानने की विधि ! (मो.मा.प्र.पृष्ठ - २२७-२२८-३२६-३२८) 'अरिहंतादि' कहा इसलिये मुनि या सम्यग्दृष्टि आदि धर्मात्मा के स्वरूप को यदि उनके आत्त्क लक्षणों द्वारा वास्तव में पहचाने तो उसे भेदज्ञान व सम्यग्दर्शन अवश्य होगा ही। परन्तु पहिचान की यह रीति राग से पार है। राग में खड़े रहकर यह पहिचान होती नहीं है, ज्ञानस्वभाव में रहकर यह पहिचान होती है। इस प्रकार केवलज्ञान के स्वरूप का निर्णय करनेवाला ज्ञान भी केवलज्ञान की जाति का ही हो जाता है। इस स्वानुभवज्ञान का स्वरूप बहुत प्रकार से स्पष्ट किया तथा स्वानुभूतिकाल का विशेष महत्त्व समझाया।

(अब निश्चयसम्यक्त्व तथा व्यवहारसम्यक्त्व सम्बन्धित एक सुन्दर खुलासा कर रहें हैं।)

प्रकरण - २५

मोक्षमार्ग उद्‌घाटन निश्चय-सम्यक्त्व द्वारा होता है जिसके साथ निश्चय हो वही व्यवहार सच्चा

`पुनःश्च आपने जो निश्चयसम्यक्त्व का स्वरूप तथा व्यवहारसम्यक्त्व का स्वरूप लिखा वह सत्य है; परन्तु इतना जानना कि सम्यक्त्व को व्यवहार सम्यक्त्व में व अन्य काल में अन्तरङ्गनिश्चयसम्यक्त्व गर्भित है, सदैव गमनरूप रहता है।'

देखो, इसमें खास सिद्धांत है; निश्चय-व्यवहार का स्पष्ट खुलासा है। कोई कहे कि चौथे गुणस्थान में निश्चय सम्यक्त्व नहीं होता, - तो वह बात सच्ची नहीं है। चौथे गुणस्थान में भी निश्चय सम्यक्त्व निरन्तर परिणमन कर ही रहा है। व्यवहार सम्यक्त्व को साथ ही यदि निश्चय-सम्यक्त्व न वर्तता हो तो वह व्यवहार सम्यक्त्व भी सच्चा नहीं है, अर्थात् वहाँ सम्यक्त्व ही नहीं है; किन्तु मिथ्यात्व है।

यहाँ व्यवहार सम्यक्त्व में निश्चयसम्यक्त्व गर्भित कहा; गर्भित का मतलब `गौण' मत समझना, परन्तु एक वस्तु कहने पर दूसरी वस्तु उसमें आ ही जाय ऐसा गर्भित का अर्थ यहाँ समझना। देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा इत्यादि को जहाँ व्यवहार सम्यक्त्व कहा वहाँ शुद्धात्मा के श्रद्धानरूप निश्चय सम्यक्त्व भी साथ में है ही

ऐसा समझ लेना। यदि ऐसा शुद्धात्मश्रद्धान न हो तो तो वहाँ सम्यक्त्व ही नहीं है; वहाँ तो मिथ्यात्व है; और मिथ्यादृष्टि के तो व्यवहार सम्यक्त्व होने का भी यहाँ इन्कार कर रहे हैं।

कुछ लोगों का मत ऐसा है कि पहले व्यवहार और बाद में निश्चय; तो उसका अर्थ यह हुआ कि उसे व्यवहार के साथ निश्चय का परिणमन नहीं है, अर्थात् सिर्फ शुभराग है; उसे यहाँ सम्यक्त्व कहते नहीं है। जिसे निश्चय सम्यक्त्व का परिणमन है उसे ही सम्यग्दर्शन है, जहाँ निश्चय नहीं है वहाँ सम्यग्दर्शन नहीं है। अतः पहले व्यवहार और बाद में निश्चय - इस सिद्धान्त में बड़ी भारी भूल है। निश्चय व व्यवहार दोनों साथ में है, उसमें भी मुख्यता निश्चय की है। स्वभाव की शुद्धतारूप निश्चय के साथ उस भूमिका के योग्य जो रागादि है वह व्यवहार है।

चौथे गुणस्थान इत्यादि में निश्चय नहीं होता, वहाँ सिर्फ व्यवहार होता है - ऐसा जो मानते हैं, वे शुद्धात्मा को एक तरफ रखकर सिर्फ राग द्वारा धर्म करने के लिये चल पड़े हैं, - किन्तु इस तरह धर्म होता नहीं है। निश्चय सम्यक्त्वपूर्वक ही धर्म की और मोक्षमार्ग की शुरूआत होती है। निश्चय सम्यक्त्व के बिना किसी के चौथा भी गुणस्थान नहीं होता तो फिर मुनिपना तो कहाँ से हो ?

तथा चौथी भूमिका इत्यिादि में जो निश्चय-व्यवहार साथ में है उसमें भी जो निश्चय सम्यक्त्वादि है वह अरागभाव है, और जो व्यवहार सम्यक्त्व आदि है वह सरागभाव है; दोनों ही एक भूमिका में, साथ में होने के बावजूद जो रागभाव है वह अरागभाव को मलिन नहीं करता एवं जो रागभाव है वह अरागभाव होने में कारण भी होता नहीं है। दोनों की धारा ही भिन्न है; दोनों के कार्य भी भिन्न है। रागभाव तो बन्ध का कारण बनता है और अरागभाव मोक्ष का कारण बनता है। साधक के ऐसी दोनों धारा साथ में होती है। परन्तु जहाँ अकेला शुभराग है और राग बगैर का ज़रा भी नहीं है तो वहाँ धर्म नहीं है।

चौथे गुणस्थान में जो राग है वह राग सम्यग्दर्शन की शुद्धि का हनन

कर सकता नहीं है। यदि वह राग प्रगट हुई शुद्धता का नुक्सान कर सकता हो, तब तो किसी के साधकपना हो ही नहीं सकता। छठे गुणस्थान में जो संज्वलनराग है वह वहाँ की शुद्धि का हनन नहीं कर सकता। इस प्रकार दोनों धारा एक साथ है, फिर भी दोनों धारा एक नहीं हो जाती; एवं साधक को वीतरागता होने से पहले दोनों में से एक धारा सर्वथा छुट नहीं जाती। यदि शुद्धता की धारा टूटे तो साधकपना छूटकर अज्ञानी हो जाय, और यदि राग की धारा छुट जाय तो तुरंत वीतरागी होकर केवलज्ञान हो जाय। इस प्रकार साधक के निरन्तर निश्चय का परिणमन वर्त रहा है। चौथे गुणस्थान से शुरू करके प्रत्येक गुणस्थान में उस उस भूमिका के योग्य धारा निरंतर वर्तती है।

जहाँ सच्चा सम्यग्दर्शन (निश्चय) हो वहाँ दूसरे में उसका आरोप करके 'यह सम्यग्दर्शन है' ऐसा कहा वह व्यवहार है।

परन्तु जहाँ सच्चा सम्यग्दर्शन ही नहीं है वहाँ दूसरे में आरोप किस का और व्यवहार कैसा ?

अर्थात् जहाँ निश्चय सम्यग्दर्शन हो वहाँ ही व्यवहार सम्यग्दर्शन होता है; अतः व्यवहार सम्यक्त्वमें निश्चय सम्यक्त्व निरंतर साथ ही साथ वर्तता है।

परन्तु जहाँ व्यवहार सम्यक्त्व हो वहाँ ही निश्चय सम्यक्त्व हो - ऐसा कोई नियम नहीं है, अर्थात् व्यवहार के बिना निश्चय न हो - ऐसा नियम नहीं है। सिद्ध भगवान इत्यादि को सरागरूप व्यवहार सम्यग्दर्शन नहीं है फिर भी निश्चय सम्यक्त्व निरंतर विद्यमान है।

इस प्रकार निश्चय की अबाधितता है अर्थात् वह तो नियमपूर्वक सभी ही सम्यग्दृष्टियों के होता ही है; परन्तु व्यवहार-सम्यग्दर्शन सभी ही सम्यग्दृष्टिओं को हो ही ऐसा कोई अबाधित नियम नहीं है।

अतः सिद्ध होता है कि निश्चय सम्यग्दर्शन वही मोक्षमार्ग का सम्यग्दर्शन है, और व्यवहार सम्यग्दर्शन वह वास्तव में मोक्षमार्ग नहीं है, वह मोक्षमार्ग में कभी सहकारी भले हो, परन्तु वह स्वयं तो मोक्षमार्ग नहीं है।

चौथे गुणस्थान में सिर्फ व्यवहार हो और निश्चय न हो - ऐसा कोई माने तो वह मान्यता ठीक नहीं है। एवं व्यवहार के आधार से निश्चय होगा - ऐसा कोई माने तो वह भी ठीक नहीं है। निश्चय तो शुद्ध आत्मा के आश्रय से है और व्यवहार तो पराश्रय से है।

व्यवहार के बगैर अकेला निश्चय हो सकता है, परन्तु निश्चय के बिना अकेला व्यवहार नहीं होता; अतः यहाँ 'निश्चय सम्यक्त्व में व्यवहार सम्यक्त्व गर्भित है' ऐसा नहीं कहा, परन्तु 'व्यवहार सम्यक्त्व में निश्चयसम्यक्त्व गर्भित है' - ऐसा कहा। केवलज्ञानी इत्यादि को कोई व्यवहार सम्यक्त्व नहीं है, अतः निश्चय केसाथ व्यवहार का परिणमन सदा होना चाहिए ऐसा नियम नहीं है। परन्तु व्यवहार केसाथ तो निश्चय होना ही चाहिए - तो ही उस व्यवहार को स्चा व्यवहार कहा जाय, इसलिये कहा कि - 'सम्यग्दृष्टि के व्यवहार सम्यक्त्व में निश्चय सम्यक्त्व गर्भित है।' परन्तु मिथ्यादृष्टि के निश्चय बगैर का जो व्यवहार है वह वास्तव में व्यवहार नहीं है परन्तु व्यवहाराभास है। सर्वज्ञदेव आदि को यदि वास्तव में पहिचाने तो वह अपने आत्मा को भी जरूर पहिचाने ही - यह बात पहले कही जा चूकी है। सम्यग्दृष्टि के निरंतर अर्थात् यात्रा-पूजनादि क्रिया के समय या लड़ाई-व्यापरधंधा इत्यादि क्रिया के समय भी निश्चय सम्यक्त्व का परिणमन चालू ही है। यदि वह न हो, तो सम्यग्दृष्टिपना ही न रहे।

देखो, यह सम्यग्दर्शन की खोज़ ! व्यवहारमार्गणा में ऐसा आये कि सम्यग्दर्शन चारों गति में होता है संज्ञी पंचेन्द्रिय को होता है, त्रिसकायवाले को होता है, इत्यादि; यहाँ कहते हैं कि शुद्धात्मा की जहाँ प्रतीति होती है वहाँ सम्यग्दर्शन होता है, और शुद्धात्मा की प्रतीति जहाँ नहीं होती वहाँ सम्यग्दर्शन नहीं होता। अतः सम्यग्दर्शन को अपने शुद्धात्मा में खोज़ ! यह निश्चय मार्गणा है। शुद्ध आत्मा की प्रतीति के बिना गति-इन्द्रिय-काय इत्यादि में सम्यग्दर्शन खोजे तो वह मिल सके ऐसा है नहीं। जिस सम्यग्दर्शन को ढूँढना है उसका सच्चा स्वरूप भी जो जानता नहीं है वह उसे खोजेगा कैसे ? अतः मोक्षार्थी को सबसे पहले ऐसे सम्यग्दर्शन का स्वरूप पहिचानकर उसकी आराधना करनी

चाहिए क्योंकि मोक्षमार्ग का पहला कदम (पलही सीढ़ी) सम्यग्दर्शन है, इसके बिना मोक्षमार्ग में एक कदम भी चला नहीं जाता।

सम्यग्दर्शन होने के बाद जीव के दो प्कार के भाव होते हैं : एक राग बगैर के तथा दूसरे रागवाले; सम्यग्दर्शन हुआ वह स्वयं राग बगैर का भाव है; सम्यग्ज्ञान हुआ वह भी राग बगैर का है, चारित्रपरिणति में अभी कुछ राग बाकी है; परन्तु उसका ज्ञान का उपयोग जब स्व में जुड़ता है तब बुद्धिपूर्वक राग का वेदन उस उपयोग में होता नहीं है, वह उपयोग तो आनन्द के ही वेदन में मग्न है, अतः उस समय अबुद्धिपूर्वक का ही राग है। और जब उपयोग बाहर में हो तब - सविकल्पदशा में जो राग है वह बुद्धिपूर्वक का है, फिर भी उस समय भी सम्यग्दर्शन स्वयं कोई रागयुक्त हो नहीं गया है। भले ही कदापि उस समय 'सराग-सम्यक्त्व' नाम दिया जाय, तो भी वहाँ दोनों का भिन्नत्व समझ लेना कि सम्यग्दर्शन अलग परिणाम है और राग अलग परिणाम है; एक ही भूमिका में 'राग' व 'सम्यक्त्व' दोनों साथ में होने की वज़ह से वहाँ 'सराग-सम्यक्त्व' कहा है। कोई राग है वह सम्यक्त्व नहीं है। और सम्यक्त्व स्वयं सराग नहीं है। चौथे गुणस्थान का सम्यग्दर्शन वह भी वास्तव में वीतराग ता ही है; और वीतरागभाव ही मोक्ष कासाधन है, सरागभाव मोक्ष कासाधन नहीं बनता।

सम्यग्दृष्टि के एक साथ दोनों धारा होते हुए भी एक धारा मोक्ष का कारण तथा दूसरी बन्ध का कारण - इन दोनों को भिन्न-भिन्न स्वरूप में पहिचानना चाहिए। बन्ध-मोक्ष के कारण भिन्न-भिन्न है, यदि उनको एक-दूसरे में मिला दे, तो तत्त्वश्रद्धान में भूल होती है। सम्यग्दर्शन की पास में पड़े हुए राग को भी मोक्ष का कारण मान ले तो उसने बन्ध के कारण को मोक्ष का कारण मान लिया। ऐसे जीव को शुद्धात्मा का ध्यान या राग बगैर की निर्विकल्प दशा होती नहीं है, अर्थात् मोक्षमार्ग उसे होता नहीं है। मोक्षमार्ग के नाम से वह भ्रमवश बन्धमार्ग का ही सेवन कर रहा है।

अथवा जीव के पिरणाम तीन प्रकार के है : शुद्ध, शुभ और अशुभ। उसमें

मिथ्यादृष्टि के अशुभ की मुख्यता गिनी है, क्वचित् शुभ भी उसे होता है, शुद्ध परिणति उसे होती नहीं है। शुद्धपरिणती की शुरूआत सम्यग्दर्शन पूर्व की होती है। चतुर्थादि गुणस्थान में शुभ की मुख्यता कही है, और साथ में आंशिक रूप से शुद्ध परिणति तो सदैव रहती है। हालाँ कि शुद्ध उपयोग कभी कभी होता है, परन्तु शुद्ध परिणति तो सदैव रहती है। और सातवें गुणस्थान से लेकर ऊपर के सभी गुणस्थानों में सिर्फ शुद्ध उपयोग ही होता है। परिणति में जितनी शुद्धता है उतना ही धर्म है, उतना ही मोक्षमार्ग है। जीव जब अंतर्मुख होकर अपूर्व धर्म की शुरूआत करता है - साधन भाव की शुरुआत करता है तब उसे निर्विकल्प शुद्धोपयोग होता है। इस निर्विकल्प स्वानुभव द्वारा ही मोक्षमार्ग के दरवाजे खुलते हैं।

अहो ! यह तो वास्तविक प्रयोजनभूत, स्वानुभव की उत्तम बात है। स्वानुभव की ऐसी सुन्दर कथा भी महाभाग्य होने पर ही सुनने को मिलती है... और उस अनुभवदशा की तो बात ही क्या !!

सुवाक्य

हमें अपने जीवन में स्वाध्या-मनन बहुत ही बढाने की जरूरत है। क्योंकि आखिर स्वानुभूति तक पहुँचना है। जिस महान लक्ष की साधना के लिये हम निकले है उसके योग्य प्रयत्न-पुरुषार्थ उठाना है।

`स्व `सत् है' उसे सत्‌रूप में देखने का है।'

प्रकरण - २६

साधक के स्वानुभव-प्रत्यक्ष की प्रधानता

`पुनःश्च आपने लिखा कि, कोई साधर्मी कहते हैं कि `आत्मा को प्रत्यक्ष जाने तो कर्मवर्गणाओं को प्रत्यक्ष क्यों न जाने ?' यही कहा है कि आत्मा को प्रत्यक्ष तो केवली ही जानते हैं, जब कि कर्मवर्गणा को तो अवधिज्ञानी भी जानते हैं। तथा आपने लिखा कि दूज के चंद्र की भाँति आत्मा के थोड़े प्रदेश खुले हैं - ऐसा कहो, परन्तु वह दृष्टान्त प्रदेश की अपेक्षा से नहीं है परन्तु गुण की अपेक्षा से है।' (मो.मा.प्र.पृष्ठ-३५०)

जैसे अवधिज्ञानी कर्मवर्गणा इत्यादि को प्रत्यक्ष जानते हैं वैसे सम्यग्दृष्टि स्वानुभव में आत्मप्रदेशों को कोई प्रत्यक्ष देखते नहीं है। आत्मप्रदेशों को प्रत्यक्ष तो केवलीभगवान ही देखते हैं; समकिती केस्वानुभव में जो प्रत्यक्षपना कहा है वह कोई प्रदेशों की अपेक्षा से नहीं कहा परन्तुस्वानुभव में इन्द्रियादि का अवलम्बन नहीं है उस अपेक्षा से कहाहै। साधक जीव कर्मवर्गणा इत्यादि को तो प्रत्यक्ष जाने या न जाने इसके कारण साधकपने में फर्क नहीं पड़ता; जब कि आत्मा को तो स्वानुभवपूर्वक प्त्यक्ष जाने ही क्योंकि इसकेसाध साधकपने का सम्बन्ध है। कर्मवर्गणा को प्रत्यक्ष न जाने तो भी श्रुतज्ञान द्वारा स्वरूप में लीन होकर केवलज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

आत्मा के थोड़े प्रदेश खुल जाय तथा बाकी के प्रदेश आवरणयुक्त रहे -

इस प्रकार से प्रदेशभेद आत्मा में नहीं है, सम्यग्दर्शनादि होता है वह आत्मा के सारे ही असंख्य प्रदेश में सर्वत्र होता है, कोई थोड़े प्देश में नहीं होता। इसलिये 'आत्मा के थोड़े प्रदेश खुल गये और इन्य आवरणयुक्त रहे' ऐसे अर्थ में कोई दूज के चन्द्र का दृष्टान्त नहीं है; वह दृष्टान्त क्षेत्र अपेक्षा से नहीं है, परन्तु गुणअपेक्षा से है; अतः सम्यग्दर्शन होने पर चौथे गुणस्थान में ज्ञानादि गुणों का कुछ सामर्थ्य खिला है और कुछ सामर्थ्य अभी खिलना बाकी है - ऐसा समझना।

(इस प्रकार साधर्मियों के सारे प्रश्नों के प्रेमपूर्वक उत्तर लिखकर अब पत्र का उपसंहार करते हैं :-)

प्रकरण - २७

स्वानुभव की प्रेरण तथा साधर्मीप्रेमपूर्वक उपसंहार

'इस तरह सम्यक्त्व में और स्वानुभव में प्रत्यक्षादि से सम्बन्धित जो प्रश्न आपने लिखे थे उसका उत्तर मेरी बुद्धि अनुसार लिखा है; आप भी जिनवाणी के साथ एवं अपनी परिणति के साथ मिलान कर लेना। विशष कहाँ तक लिखे ? जो बात जानने में आती है वह लिखने में आती नहीं है। (रुबरु/ प्रत्यक्ष) मिलने पर कुछ कहा जा सकता तो है, परन्तु मिलना तो कर्माधीन है। अतः भला-उत्तम तो यह है कि चैतन्य स्वरूप के उद्यम तथा अनुभव में रहना - उसमें प्रवर्तन करतना। वर्तमानकाल में अध्यात्म तो आत्मा है (इस स्वानुभव इत्यादि का कथन) समयसारग्रन्थ की अमृतचंद्रआचार्य कृत संस्कृत टीका में है तथा आगम की चर्चा गोमट्टसार में है, एवं अन्य शास्त्रों में भी है; वह जानी है, परन्तु वह सारा लिखने में आता नहीं। अतः आप अध्यात्म तथा आगम ग्रन्थों का अभ्यास रखना और स्वरूप में मग्न रहना। तथा आपने कोई विशेष ग्रन्थ जाने (अभ्यास किये) हो तो मुझे लिखकर बताना। साधर्मी को तो परस्पर चर्चा ही चाहिए। मेरे में तो इतनी बुद्धि नहीं है परन्तु आप सरीखें भाईयों के साथ परस्पर चर्चा विचारणा है। विशेष कहाँ तक लिखें ? जब तक मिलना न हो तब तक पत्र तो शीघ्र लिखते ही रहियेगा।' (मिति माघकृष्ण / पू, सं.१८११)

पत्र पूरा करते हुए `पंडित श्री टोडरमल्लजी' निर्मानतापूर्वक लिखते हैं कियह उत्तर मैंने अपनी बुद्धि-अनुसार लिखा है। उसका जिनवाणी के साथ तथा अपनी परिणति के साथ आप मिलान कर लेना। तथा जितना जानने में आता है उतना सब कुछ कोई लिखने में नहीं आ सकता। स्वानुभव इत्यादि की गम्भीर चर्चा लिखने में कितनी समाविष्ट हो सकती है ? यदि प्रत्यक्ष हो तो एक-दूसरे के भावों को समझकर अधिक स्पष्टतापूर्वक चर्चा हो सके। अतः साधर्मी को मिलने की तथा उनके साथ स्वानुभव की चर्चा करने की स्वयं को भावना तो बहुत है, परन्तु सेंकडो मील की दूरी है, अतः संयोग बनना यह तो उदयाधीन है। इसलिये कह रहे हैं किसंयोग तो चाहे बनो या न बनो, उसकी भावना के बजाय चैतन्य की भावना में सदा रटना। चैतन्य की भावना में क्षेत्र की दूरी बाधा नहीं डालती। चैतन्य की भावना करना, उसकी प्राप्ति के लिये, उसके अनुभव के लिये हमेशा उद्यम करना, यही उत्तम है। वर्तमानकाल में अध्यात्मतत्त्व तो आत्मा है। चाहे जब, चाहे जिस समय देखो तब अपना आत्मस्वभाव अध्यात्मतत्त्व है, उसके स्वानुभव के उद्यममें सदा रहना।

लोगों को पुण्यक्रिया के रस के मारे अध्यात्मतत्त्व गुप्त रह गया है, वह जिनशासन में ज्ञानी-सन्तो ने खुला करके दिखाया है। अतः ऐसे अध्यात्मतत्त्व की रुचि-पहिचान करके उसकी भावना में निरंतर रहना। सच्चा जैनमार्ग तो इसमें ही है। राग में स्चा जैनधर्म नहीं है। जैनमार्ग कहो या मोक्षमार्ग कहो, वह रागरूप नहीं है परन्तु वीतरागी अद्यात्म तत्त्वरूप है। आत्मा केस्वानुभव में जैनशासन का सारा रहस्य समा जाता है। साधर्मी के साथ ऐसे स्वानुभव की उसके उपाय की, ऐसे स्वानुभव को सन्तोने किस तरह प्राप्त किया उसकी तथा उन सन्तो की दशाकैसी होती है उसकी तथा स्वयं को किस प्कार ऐसा अनुभव हो उसकी चर्चा-वार्ता, उसकी प्राप्ति हेतु उद्यम तथा उसका चिंतन-अनुभवन करने योग्य है, तथा निजस्वरूप में मग्न रहने जैसा है। निजस्वरूप का चिन्तन अथवा उसका प्रतिपादक उत्तम अध्यात्मशास्त्रों का अभ्यास करने में भी तत्पर रहना। `समयसार' की टीका इत्यादि शास्त्रों में स्वानुभव की उत्तम

चर्चा है; तथा आगम से सम्बन्धित चर्चा `गोम्मटसार' इत्यादि में है। ऐसे ग्रन्थों द्वारा जितनी बों जानी है वे सभी कोई पत्र में लिखी नहीं जा सकती अतः सिफारिश करते हैं कि भाईजी ! उन अद्यात्म तथा आगम ग्रन्थों का अभ्यास आप भी रखना। तथा मात्र शास्त्राभ्यास में नहीं रुक जाना है, परन्तु उसका प्रयोजन तो स्वानुभव करने का है, अतः लिख रहे हैं कि निजस्वरूप में मग्न रहना। पहले लिखा था कि चिदानन्दघन के अनुभव से आपको सहजानंद की वृद्धि चाहता हूँ; और आखिर में लिखते हैं कि निजस्वरूप में मग्न रहना। तथा स्वयं को तत्त्व के अभ्यास का विशेष प्रेम है इसलिये लिखते हैं कि तुमने किसी विशेष ग्रन्थ को पढ़ा हो तो वह मुझे लिखकर बताना। साधर्मियों को तो परस्पर धम्मस्नेहपूर्वक ऐसी धर्मचर्चा ही चाहिए। साधर्मी केसाथ चर्चा-वार्ता, प्रश्न-उत्तर करने में बहुत स्पष्टता होती है तथा कोई सूक्ष्म फरक् हो, तो वह ख्याल में आ जाता है और ज्ञान की बहुत स्पष्टता होती है, और कोई सूक्ष्म फर्क हो तो वह ख्याल में आ जाता है और ज्ञान की अधिक स्पष्टता होती है, साधर्मी से प्रत्यक्ष मिलने की और ऐसी चर्चा करने की भावना तो है, परन्तु उस समय में दूर-दूर के साधर्मी का मिलन बहुत कठिनाई से हो पाता था, आजकल जैसी प्रवास की सुविधा तब नहीं थी; अतः आखिर में लिखते हैं कि जब तक मिलना न हो सके तब तक पत्र तो शीघ्र लिखते ही रहियेगा।

इस प्रकार `जयपुर' के `पंडित श्री टोडरमल्लजी' द्वारा साधर्मियों के ऊपर लिखे हुए अध्यात्मरसभरपूर पत्र के ऊपर २०० वर्ष बाद `पू. श्री कानजीस्वामी' द्वारा दिये गये अनुभवप्रेरक प्रवचन समाप्त हुए।

ये मुमुक्षु जीवों की स्वानुभव की भावना पूर्ण करो।

स्वानुभवी सन्तो को नमस्कार हो।

अध्यात्म सन्देश

[२]

अध्यात्मपद्धतिरूप मोक्षमार्ग

श्रीमान पंडित श्री बनारसीदासजी-लिखित
परमार्थवचनिका के ऊपर
पूज्य श्री कानजीस्वामी के प्रवचन

सुवाक्य

शुद्धात्मा के आश्रयरूप अध्यात्मपद्धति द्वारा धर्मी जीव मोक्षमार्ग की साधना करता है। अहा ! धर्मात्मा की यह अध्यात्म कला... अलौकिक है। ऐसी अध्यात्मकला सीखने योग्य है... तथा उसका प्रचार करना योग्य है। सच्चा सुख इस अध्यात्मकलासे ही प्राप्त होता है।

प्रकरण - १

जगत की वस्तुस्थिति उसमें जीव एवं परमाणु के द्रव्य-गुण-पर्याय

पंडित श्री बनारसीदासजी अध्यात्मरसिक विद्वान थे; `समयसारनाटक' उनके द्वारा रचित है। आगम-अध्यात्म से सम्बन्धित सूक्ष्म विचारों से भरी एक वचनिका उन्होंने लिखी है, वह पढ़ी जा रही है। आगम क्या, अध्यात्म क्या, निश्चय-व्यवहार धर्मी को कैसे होते हैं, धर्मी सम्यग्दृष्टि के विचार कैसे होते हैं, मूढ़दृष्टि जीव कैसे होते हैं, हेय-उपादेय के सम्बन्ध में ज्ञानी के विचार कैसे होते हैं, तथा मोक्षमार्ग की किस प्रकार साधना की जाय - इत्यादि अनेक विचार उन्होंने इस वचनिका में लिखे हैं; और आखिर में प्रमोदपूर्वक खुद बताते हैं कि यह वचनिका यथायोग्य सुमति-प्रमाण केवलीवचन-अनुसार है। जो जीव इसे सुनेगा, समझेगा, श्रद्धान करेगा उसका कल्याण होगा। ऐसी यह परमार्थवचनिका प्रवचन में बांची जा रही है। शुरूआत में, इस संसार में जीव तथा पुद्गल अपने अपने द्रव्य-गुण-पर्याय सहित किस प्रकार से हैं यह बताते हैं।

`एक जीव द्रव्य, उसके अनन्त गुण, अनन्त पर्याय;
एक एक गुण के असंख्यात् प्रदेश।
एक एक प्रदेश में अनन्त कर्मवर्गणाएँ;
एक एक कर्मवर्गणा में अनन्तानन्त पुद्गल परमाणु।
एक एक पुद्गल परमाणु अनन्त गुण अनन्त पर्याय सहित बिराजमान है।
इस प्रकार एक संसार - अवस्थित जीवपिंड की अवस्था है।
इसी प्रकार अनन्त जीवद्रव्य सपिंडरूप जानना।
एक जीवद्रव्य अनन्तानन्त पुद्गल द्रव्य से संयोगित (संयुक्त) मानना।'

देखो, यह जैन परमेश्वर सर्वज्ञदेव के शासन की बात। जगत में अनन्त जीव, स्वतंत्र जीव के मुकाबले पुद्गल अनन्त गुने, एक एक जीव में और एक एक पुद्गल परमाणु में अपने अपने अनन्त गुण, उसका परिणमन, ये सब भगवान सर्वज्ञदेव के सिवा कोई साक्षात् जान सकता नहीं है, और सर्वज्ञदेव के जैनशासन के बिना अन्यत्र कहीं ऐसी बात है नहीं। कई लोग तो जीव की स्वतंत्र सत्ता का हीस्वीकार नहीं करते; वे मानते हैं कि किसी ईश्वर ने इस जीव को बनाया, अथवा सब मिलकर अद्वैत है, - अतः एक एक जीव की पूर्ण सत्ता को उन्होंने पहिचानी नहीं; अपने को एवं जगत के अन्य अनन्ता जीवों को उन्होंने पराधीन एवं अपूर्ण माना, जहाँ जीव का पूर्ण अस्तित्व ही न माने वहाँ उसकी पूर्णदशा को तो प्राप्त भी कैसे कर सके ? अतः पहले तो भगवान सर्वज्ञ-ईश्वर द्वारा कहे अनुसार जगत में अनन्त जीवों का स्वतंत्र अस्तित्व, और उस में एक-एक जीव अपने अनन्त गुणों से परिपूर्ण- उसकी पहिचान करनी चाहिए। इसमें ही जिसकी भूल हो उसे तो परमार्थ का सच्चा विचार उगता ही नहीं है। अतः शुरूआत से ही इस बात को उठाया है -

- जगत में अनन्ते जीव भिन्न भिन्न है।

- एक-एक जीवद्रव्य में अनन्त गुण हैं।

- एक-एक गुण की अनन्त पर्यायें हैं; अथवात अनन्त गुणों की प्रत्येक की पर्याय वर्तीती है, इस प्रकार एक समय में अनन्त गुणों की अनन्ती पर्यायें हैं।

- एक-एक गुण के असंख्य प्रदेश हैं, जितने जीव के प्रदेश हैं, उतने ही प्रत्येक गुण के प्रदेश हैं।

ये जीव के द्रव्य-गुण-पर्याय बतायें।

- अब संसारी जीव के एक-एक प्रदेश पर अन्तकर्मवर्गणा है।

- एक-एक कर्मवर्गणा में अनन्तमां पुद्गल परमाणु हैं।

- और उसमें एक-एक परमाणु अनन्त गुण-पर्यायों सहित है।

इस प्रकार एक एक संसारी जीव की स्थिति है। और ऐसी सपिंड अवस्थारूप अर्थात् कर्म के संयोगयुक्त जीव संसार में अनन्त हैं। संसार में मुक्त ऐसे सिद्ध जीव भी अनन्त हैं, और संसारी जीव उनसे भी अनन्त है। - कितने? कि आलू आदि कंदमूल के एक ... टुकडे में असंख्याता औदारिक शरीर और एक-एक शरीर में ... की तुलना में अनन्त गुऽे जीव हैं। निगोद से लेकर चौदहवें गुणस्थान पर्यंत का प्रत्येक संसारी जीव अनन्तानन्त पुद्गल द्रव्य से संयोगित है। फिर भी उसमें जीव व पुद्गल दोनों अपनी अपनी परिणति में भिन्न-भिन्न परिणमन कर रहे हैं।

देखो, ये अनन्त जीव और अनन्तानन्त पुद्गल तथा उसके अनन्त गुण-पर्याय, - इन सभी को एक समय में जान लेने की ताक़त आत्मा में है। ऐसी वस्तुस्थिति का वर्णन जैनदर्शन के अलावा अन्यत्र कहीं हो नहीं सकता।

प्रकरण - २

प्रत्येक जीव - पुद्‌गल की भिन्न भिन्न परिणति

अब जीव एवं पुद्‌गल की भिन्न-भिन्न पिरणति का कथन करते हैं :-

`अन्य अन्य रूप जीवद्रव्य की परिणति तथा अन्य अन्य रूप पुद्‌गलद्रव्य की परिणति है; इसका विवरण : एक जीवद्रव्य जिस प्कार की अवस्थासहित अनेक आकाररूप परिणमित होता है वह प्रकार अन्य जीवसे नहीं मिलता; अन्य जीव का उससे अन्य अवस्थारूप परिणमन होता है। इस प्रकार अनन्तानन्त स्वरूप जीवद्रव्य अनन्तानन्त-स्वरूप अवस्थापूर्वक वर्ते रहे हैं। किसी जीवद्रव्य के परिणाम किसी भी अन्य जीवद्रव्य से नहीं मिलते (एक समान नहीं होते)।

इसी प्रकार एक पुद्‌गलपरमाणु एक समय में जिस प्कार की अवस्था धारण करता है वह अवस्था अन्य पुद्‌गल परमाणु द्रव्य से नहीं मिलती; इसलिये पुद्‌गल-परमाणु द्रव्य की भी अन्य-अन्यता जानना।'

संसार अवस्था में जीव तथा पुद्‌गलों का संयोग होने के बावजूद दोनों की परिणति भिन्न भिन्न ही है; कोई एक दूसरे की परिणति में कुछ करते नहीं है। तथा संसार में किन्ही भी दो जीवों की परिणति सब तरह से एक

जैसी (मिलती-झुलती) होती नहीं है, कुछ न कुछ फरक् होता ही है। सिद्ध में सभी जीव गुण में एकसमान, परन्तु संसार तो उदयभाव है, उसमें कोई एक जीव अनेक आकाररूप अर्थात् अनेक प्रकार की अवस्थारूप जिस तरह परिणमन करता है वह दूसरे जीव केसाथ सर्व प्रकारसे मिलता हुआ नहीं हो सकता। केवलज्ञानादि किसी प्रकार से समान हो परन्तु औदयिकभाव में किसी न किसी प्रकार की विशेषता होती है। - ऐसा ही संसार का स्वभाव है।

जैसे जीवों की अवस्था में भिन्न-भिन्न प्रकार है वैसे उसके निमित्तरूप पुद्गल कर्म की अवस्था भी भिन्न-भिन्न प्रकार हैं। किसी दो परमाणु की अवस्था सर्व प्रकार से एक-दूसरे को मिलती हुई नहीं होती।

देखो तो सही, यह वस्तुस्वभाव ! एक हीशरीर में अनन्ते निगोद के जीव स्थित है; सभी के बीच शरीर एक ही, फिर भी परिणति समभी की भिन्न-भिन्न; हरएक की परिणति में कुछ न कुछ भिन्न प्रकार है। एक ही शरीर में रहे अनन्ते निगोदिया जीवों में कोई भव्य होता है, कोई अभव्य भी होता है। अनन्ते भव्यों में भी कोई अल्पकाल में मोक्ष जानेवाला है, और कोई अनन्तकाल में भी मोक्ष में न जाय ऐसा होता है। संसार के जीवों की ऐसी विविधता का ज्ञान वीतरागता का कारण है। जगत के जीव तथा पुद्गल अपने अपने स्वभाव से ही विविध परिणतिवाले हैं, उसमें दूसरा क्या करे ? द्रव्यस्वभाव से सभी जीव एकसमान होने के बावजूद परिणति में सभी के फर्क। `ऐसा क्यों ?' - कि उसा द्रव्य उस प्रकार पिरणमित हुआ, उसमें दूसरा क्या कर सके ? ज्ञान हो वह जाने, और अज्ञानी कर्ताबुद्धि का मोह करे। जीव अफना ज्ञान परिणति को करे अथवा मोहपरिणति को करे, परन्तु पर में तो कुछ भी न करे। जीव एवं पुद्गल प्रत्येक का स्वतंत्र परिणमन, यह जगत की वस्तुस्थिति है। `उत्पादव्ययधौव्ययुक्तं सत्' - वह स्वयं से ही है, अन्य कोई उसका कारण नहीं है। परमाणु भी अपने स्वभावसामर्थ्य से भरे हुए जड़ेश्वर है; दो परमाणुओं की अवस्था सर्वथा एक-सी नहीं होती। आकार भले समान हो, परन्तु वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शादि अन्त गुणों की परिणति में कहीं न कहीं फर्क होता ही है।

इस प्रकार संसार में प्रत्येक जीव और प्रत्येक परमाणु की अवस्था में कुछ न कुछ फर्क होता ही है। यह प्रत्येक द्रव्य के परिणमन की अत्यंत स्वतंत्रता बताता है।

संसारअवस्था में स्थित जीव के भीतर जो हो रहा है उसकी यह बात है। सर्वज्ञदेव का जाना हुआ यह अलौकिक विज्ञान है। तेरहवें-चौदहवें गुणस्थान में केवलज्ञानसामर्थ्य सभी जीवों का समान परन्तु औदयिकभाव में सभी के फर्क; किसी भी दो संसारी जीव के परिणाम सर्व प्रकार से मिलते हुए नहीं हों सकते - ऐसा ही कोई अहेतुकस्वभाव है। शुद्धनय से सभी जीव द्रव्यस्वभाव से समान, सभी जीव अनादि से वर्तमान तक आये हैं, फिर भी कोई सिद्ध, कोई संसारी, कोई सर्वज्ञ, कोई अल्पज्ञ, कोई वीतरागी, कोई रागी, कोई ज्ञानी, कोई अज्ञानी; एक गुणस्थानवर्ती अनेक जीवों के परिणामों में भी विचित्रता; छठे गुणस्थान में किसी के चार ज्ञान होते हैं, किसी के तीन ज्ञान होते हैं, किसी के दो ही ज्ञान होते हैं, दो ज्ञानवाले भी कभी चारज्ञानवाले से पहले केवलज्ञान प्राप्त कर लेते हैं; एक जीव पहले केवलज्ञान प्राप्त करके देशन्युन कोटिपूर्व पर्यंत अर्हंतपद में विचरण करते हैं और दूसरा जीव उनके बाद केवलज्ञान प्राप्त करके उनसे पहले सिद्ध हो जाय; - इस प्रकार संसारी जीव के परिणामों में अनेक विचित्रता है। उसी प्रकार पुग्दल द्रव्य के परिणाममें भी विविधता है। अनन्तानन्त परमाणुओं में से एक परमाणु एक समय में जिस प्रकार की अवस्था धारण करता है वह अवस्था दूसरे परमाणु की अवस्था के साथ मिलती हुआ होती ही नहीं है। यद्यपि परमाणु एकप्रदेशी ही है अतः उसके क्षेत्र-आकार में फर्क नहीं होता, अर्थात् एक एक (प्रत्येक) परमाणु का आकार समान ही होता है परन्तु उसके वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शादि की परिणति के प्रकार में कुछ न कुछ फर्क होता है। इस प्रकार विभाव में प्रत्येक जीव और प्रत्येक पुद्गल की योग्यता भिन्न-भिन्न प्रकार की है। देखो, स्वभाव में अनन्ता जीवों कीसमानता है, परन्तु विभाव में समानता नहीं है, विभाव में प्रत्येक जीव की योग्यता भिन्न-भिन्न प्रकार की है।

देखो, कुछ विशेष लोग कहते हैं कि जगत में अनन्ते जीवों की भिन्न भिन्न सत्ता नहीं है, सब कुछ मिलाकर एक ही अद्वैतब्रह्म है; और यहाँ जैन सर्वज्ञ कहते हैं कि जगत में अन्त जीवों कीसत्ता है और प्रत्येक जीव के परिणाम भिन्न-भिन्न विचित्रता सहित है। - कितना बड़ा फर्क ? अपना स्वतंत्र, परिपूर्ण अस्तित्व ही जो न माने वह पूर्णता की साधना कहाँ से करेगा ? प्रत्येक जीव का स्वतंत्र अस्तित्व, परिणाम की अनन्त प्रकार की विचित्रता, यह सारा भगवान सर्वज्ञ के जैनमत के अलावा अन्यत्र कहीं हो नहीं सकता।

प्रश्न :- प्रत्येक जीव के पिरणाम में विचित्रता है, संसार के किन्हीं दो जीव के परिणाम सर्वथा एकसमान नहीं होते - ऐसा यहाँ कहा, परन्तु गुणस्थानवर्णन में तो कहा है कि अनिवृत्तिकरण में सभी जीवों के परिणाम एकसमान होते हैं।

उत्तर :- चारित्रसंबन्धित कुछ विशेष परिणाम की अपेक्षा से वहाँ समानपना कहा है, परन्तु वहाँ कोई सभी परिणामों का समानपना नहीं है; ज्ञानादि परिणामों में एवं अघातीकर्मों से सम्बन्धित अन्य अनेक भावों में वहाँ विचित्रता है। उसी गुणस्थान में किसी को चार ज्ञान होते हैं, किसी को दो ज्ञान होते हैं, किसी को तीन ज्ञान होते हैं, किसी को अल्प आयु होती है, किसी के लम्बी आयु होती है, किसी के एक धनुष की अवगाहना होती है, किसी के सवा पाँचसौ धनुष की अवगाहना होती है, कोई एकावतारी होता है, कोई तद्भव-मोक्षगामी होता है - इत्यादि अनेक प्कार की विचित्रता होती है। संसार में किन्हीं दो जीवों के परिणाम में कदाचित् कोई कुछ विशेष प्रकार से समानता हो सकती है परन्तु सर्व प्रकार से समानता होती नहीं है। केवलज्ञानादि सामर्थ्य में समानपना होता है, परन्तु उदयभाव में दो जीवों के समानता कभी होती नहीं है। सर्वज्ञकथित जिनमार्ग की जिसे आस्था होती है उसे ही यह बात हृदय में उतर सके (बैठ सके) ऐसा है। इस वचनिका में आखिर में 'पंडित बनारसीदासजी' स्वयं ही कहते हैं कि यह वचनिका यथायोग्य सुमतिप्रमाण केवलीत्वनानुसार है। जो जीव इसे सुनेगा, समझेगा, श्रद्धान करेगा उसे भाग्यानुसार कल्याण होगा। 'केवली वचनअनुसार' ऐसा कहा, इसका मतलब जिसे सर्वज्ञ-केवली की प्रतीति बैठे उसे

ही यह बात समझ में आयेगी; ऐसी यह परमार्थ वचनिका है।

संसार में अनन्त जीव, अनन्तानन्त परमाणु वे सभी अपने अपने गुण-पर्यायों सहित और उन सभी के परिणाम भिन्न-भिन्न प्रकार के, किसी के परिणाम अन्य के साथ सर्वथा मिलते हुए होते नहीं है; - इतनी बात की। अब वे जीव तथा पुद्‌गलों की अवस्थाओं का विशेष वर्णन करते हैं।

सुवाक्य

अहा, आठ वर्ष का लड़का केवलज्ञानी होकर आकाश में विचरण कर रहा होगा... तथा दिव्यध्वनि द्वारा लाखों-करोड़ों जीवों का प्रतिबोधन कर रहा होगा... उसका दिव्य दिदार कैसा होगा !! इन्द्र-चक्रवर्ती सब उसके चरणों की पूजा करते होंगे !!

प्रकरण - ३

संसारी जीव की अवस्था तथा पुद्‌गल से सम्बन्ध

`अब जीवद्रव्य तथा पुद्‌गलद्रव्य एकक्षेत्रावगाही अनादि काल से हैं; इसमें फरक् इतना है कि जीव द्रव्य एक; और पुद्‌गल परमाणु द्रव्य अनन्तानन्त, चलाचलरूप, आगमनगमनरूप, अनन्त-आकार परिणमनरूप, बन्धमुक्ति शक्तिसहित वर्तता है।'

संसार में अनन्त जीव, तथा जीव की तुलना में अनन्त गुने पुद्‌गल है; उस प्रत्येक के परिणाम स्वतंत्र हैं। ऐसे जीव एवं पुद्‌गलद्रव्य जगत में अनादिकाल से एकक्षेत्रावगाही रूप से स्थित है। अनन्तानन्त पुद्‌गलपरमाणु प्रत्येक जीव के साथ सम्बन्धपने से स्थित है; चौदहवे गुणस्थान के अन्तिम समय में वर्तता हुआ जीव - जो कि दूसरे ही समय में सिद्ध होनेवाला है और जिसकी कर्मवर्गणा सबसे कम है उसके कर्म में भी अनन्ते पुद्‌गल परमाणु है। संसार में कोई जीव ऐसा नहीं है कि जिसके साथ एकक्षेत्रवगाह रूप में अनन्ते कर्म पुद्‌गल विद्यमान न हो, यद्यपि जहाँ सिद्ध हैं वहाँ भी अनन्ते पुद्‌गल स्थित हैं, परन्तु यहाँ उसकी बात नहीं है, क्यों कि सिद्ध संपूर्ण शुद्ध होने के कारण उनको उन परमाणुओं के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध नहीं है। संसारी जीव को अशुद्धता के निमित्त से जो कर्मपरमाणु एकक्षेत्रावगाहपने से स्थित हैं, उनकी यहाँ बात है।

अब एक दूसरी बात : जीव एवं पुद्‌गल अनादि से एक क्षेत्र में स्थित

है फिर भी दोनों के स्वप्रदेश तो सदैव भिन्न-भिन्न हैं। आकाश की अपेक्षा से दोनों का क्षेत्र एक कहा जाता है, परन्तु वास्तव मं प्रत्येक द्रव्य के अपने स्वप्रदेश भिन्न-भिन्न हैं। एक एक जीव के असंख्य स्वप्रदेश हैं और वे सब अरुपी है; प्रत्येक पुद्‌गल परमाणु से अपना एक प्रदेश है और वह रुपी है। एक क्षेत्र में अनन्ते जीव हो फिर भी उनमें से प्रत्येक जीव के स्वप्रदेश भिन्न हैं। किसी एक द्रव्य के स्वप्रदेश कभी दूसरे में मिल नहीं जाते। श्री 'समयसार' में कहेत हैं कि 'सभी पदार्थ अपने द्रव्य में अंतर्मग्न रहे हुए अपने अनन्त धर्मों के चक्र को स्पर्श करते हैं, फिर भी परस्पर एक-दूसरे को स्पर्श नहीं करते; अत्यंत निकट एकक्षेत्रावगाहरूप रहे हैं, फिर भी सदैव अपने स्वरूप से गिरते नहीं है - इस प्रकार एक क्षेत्र में इकट्ठे रहे होने के बावजूद प्रत्येक पदार्थ निज-निजस्वस्वरूप में भिन्न-भिन्न स्थित हैं। लोक में प्रदेश असंख्य है, परन्तु उसमें भिन्न-भिन्न अनन्तानन्त जीव रहे हैं।

असंख्य प्रदेश में अनन्त जीव एकसाथ रहे हैं - ऐसा कहा, इससे कोई ऐसी त्रिराशी की गिनती करे कि 'अनन्त जीव असंख्यप्रदेश में स्थित है, तो उसके असंख्यातवें भाग के जीव एक प्रदेश में स्थित है।' तो इस प्रकार की त्रिराशी का माप यहाँ लागू नहीं होता। क्योंकि एक जीव चाहे जितना सिकुड़कर रहे तो भी वह असंख्यप्रदेशों को तो घेरेगा ही जीव का प्रदेशस्वभाव ऐसा है कि असंख्य से कम प्रदेश में वह संपूर्णरूप में रह नहीं सकता। भिन्न भिन्न जीवों के प्रदेश इकट्ठे होकर एक आकाशप्रदेश में अनन्ते जीवों के अनन्ते प्रदेश रह सकते हैं; किन्तु एक ही जीव के सर्व-असंख्य प्रदेश नहीं रहते, असंख्यातवें भाग के ही असंख्य प्रदेश रह सकते हैं। जीव के असंख्य प्रदेश इथने है कि समग्र लोक में उसका विस्तार हो तो एक एक लोकप्रदेश में एक एक जीव प्रदेश आये। और वह सिकुड़कर रहे तो लोकप्रदेश का असंख्यातवाँ भाग रोके और एक एक लोकप्रदेश में असंख्यातवे भाग में असंख्यात (असंख्यात बहे असंख्यात = असंख्यात) जीवप्रदेश आ सके। एक एक जीवप्रदेश पर अनन्त कर्म परमाणु स्थित है।

अब जीव के संग में जो कर्मपरमाणु स्थित हैं, वे यद्यपि अनादि से विद्यमान हैं, परन्तु अनादिकाल से वही के वही परमाणु नहीं है, पनर्तु नये नये बदलतेजाते परमाणु है; प्रत्येक क्षण में अनन्ते परमाणु छूटते है और अनन्ते नये परमाणु (सास्रवजीव को) आते हैं। कर्म की उत्कृष्ट स्थिति ७० क्रोड़ाक्रोड़ी सागरोपम की है, अर्थात् उतने समय में तो सारे कर्मपरमाणु बदल ही जायेंगे; कोई कर्म ७० क्रोड़ाक्रोड़ी सागरोपम से पुराना नहीं ही होता। फिर भले ही उनमें से कोई वही के वही रजकण फिर से उसी जीव को कर्मरूप में बन्ध जाय। अहो ! समय-समय का और रजकण-रजकण का और प्रदेश-प्रदेश का अलौकिक वीतरागीविज्ञान जैन सन्तोने शास्त्रो में भरा है। जीव के एकक्षेत्र में स्थित परमाणुओं में प्रतिक्षण नये आते हैं और पुराने जाते हां, ऐसा आगम-गमन होता रहता है, अतः उन परमाणुओं को 'आगमन-गमनरूप' कहे हैं। उन पुद्‌गलों का आना और जाना अथवा कर्मरूप से बन्धना तथा छूट जाना वह उसकी स्वयं की ही परिणमन शक्ति से होता है। आकाश अपेक्षा से भले जीव और कर्मका एक क्षेत्र हो, पन्तु स्वचतुष्टय दोनों के भिन्न-भिन्न हैं। जीव के असंख्य प्रदेशों में तो कभी एक भी प्रदेश न कम होता है न बढ़ता है। जब कि कर्म के अनन्ते परमाणुओं में तो प्रतिक्षण अनन्ते रजकणों की घटोतरी-बढ़ोतरी होती रहते हैं। पुनःश्च जीव का स्वभाव स्थिर अचल है, जब कि पुद्‌गल का स्वभाव चलाचलरूप है। तथा वे पुद्‌गल अनन्त-आकाररूप परिणमित होते है; वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श अथवा प्रदेश-प्रकृति-स्थिति-अनुभाग की अपेक्षासे अनन्त प्रकार हैं, उस अपेक्षा से अनन्त आकार समझना। पुनःश्च वे पुद्‌गल अनेक प्रकार की बन्धरूप अवस्थारूप में या मुक्तरूप अवस्थारूप में स्वयं परिणमन करने की शक्तिवाले हैं। जीव के विकार के निमित्तवश जिस क्षण जो कर्म बन्धते हैं, उसी क्षण ही पूर्व में बन्धे हुए कुछ कर्म छूटजाते हैं, इस प्रकार बन्धना और छूट जाना - ऐसी शक्ति पुद्‌गलद्रव्य में है। 'पंडित बनारसीदासजी' ने जीव एवं पुद्‌गल की भिन्न-भिन्न शक्तियों का संक्षिप्त में बहुत सुन्दर वर्णन निम्नलिखित दो दोहरों में किया है -

समता-रमता अर्धता, ज्ञायकता सुखभास।
वेदकता चैतन्यता ये सब जीव विलास।।
तनता मनता वचनता जडता जडसम्मेल।
गुरुदा, लघुता, गमनता ये अजीव के खेल।।

(समयसार नाटक)

`समयसार' के `अमृतचंद्राचार्यदेव' के कलश की `श्री राजमल्लजी' रचित टीका (कलशटीका) पढ़ने के बाद, `पंडित बनारसीदासजी' ने `समयसार-नाटक' की रचना की है, उसमें बहुत सारे अध्यात्मभाव भरे हैं। यह `परमार्थवचनिका' भी उनकी ही लिखी हुई है। जीव एवं पुद्गल का स्वभाव तीनों काल भिन्न-भिन्न है, परन्तु संसार में दोनों का संयोग अनादि से है। उसमें पुद्गल तो चलाचलरूप, आगमन-गमनरूप, अनन्त-आकाररूप, बन्ध-मुक्त अवस्थारूप परिणमन करता है - यह बताया। अब संसारी जीव कैसी-कैसी अवस्थारूप परिणमन करता है यह बता रहा हैं।

प्रकरण - ४

संसारी जीव की तीन अवस्था : अशुद्ध, मिश्र और शुद्ध। उसमें निश्चय - व्यवहार

`अब, जीवद्रव्य की अनन्ती अवस्थाएँ; उनमें मुख्य तीन अवस्थाएँ मुख्यरूप से स्थापित की -
- एक अशुद्ध अवस्था,
- दूसरी शुद्धाशुद्धरूप मिश्रअवस्था,
- तथा तीसरी शुद्ध अवस्था।
ये तीनों अवस्था संसारी जीवद्रव्य की जानना। संसारातीत सिद्ध को अनवस्थितरूप कहे जाते हैं।'

इस प्रकार मिथ्यादृष्टि से लेकर चौदहवें गुणस्थान के अन्त तक के सारे ही संसारी जीवों की अवस्था के मुख्य प्रकार तीन कहे, उसमें अनन्ती अवस्थाएँ समा जाती है। यहाँ जीव की संसार-अवस्था की बात है, इसलिये संसारातीत ऐसे सिद्ध भगवंतो की बात इसमें नहीं लेना; सिद्ध भगवन्त तो संसार-अवस्था से पार हो चुके हैं अतः यहाँ पर उनको `अनवस्थित' कहते हैं। सिद्धभगवंत के अशुद्धता या कर्म का संयोग नहीं है, अतः उनको उस प्रकार का व्यवहार नहीं है, अतः उनको व्यवहारातीत कहेंगे। यहाँ संसारी जीव की बात है, उसकी अवस्था के सामान्यरूप से तीन प्रकार कहें।

`अब तीन अवस्थाओं के सम्बन्ध में विचार -
- एक अशुद्ध-निश्चयात्मक द्रव्य,
- दूसरा मिश्र-निश्चयात्मक द्रव्य,
- तथा शुद्ध-निश्चयात्मक द्रव्य को सहकारी शुद्धव्यवहार है।'

स्वभावदृष्टि से देखने पर द्रव्य स्वयं कोई अशुद्ध नहीं है; परन्तु अशुद्ध पर्यायरूप परिणमित हुए आत्मा को ही यहाँ पर उस पर्याय के साथ अभेदरूप गिनकर अशुद्ध-निश्चयात्मक द्रव्य कह दिया, तथा उसकेसाथ वर्तती अशुद्ध परिणति को (भिन्न करके) अशुद्ध व्यवहार कहा, अतः अशुद्ध द्रव्य को सहकारी अशुद्धव्यवहार कहा; उसी प्रकार साधकपर्यायरूप परिणमित हुए आथ्मा को अभेदरूप से मिश्र-निश्चयात्मक द्वर्य कहा और उसकी साधक-बाधक पर्याय को मिश्रव्यवहार कहा, अतः मिश्र निश्चयात्मक द्रव्य को सरकारी मिश्रव्यवहार कहा; तथा शुद्ध पर्यायरूप परिणमित आत्मा को अभेदरूप से शुद्ध-निश्चयात्मक द्रव्य कहा तथा उसकी शुद्धपर्याय को शुद्ध व्यवहार कहा, इसलिये शुद्ध द्रव्य के सहकारी शुद्धव्यवहार कहा। इस प्रकार संसारी जीव के विषय में तीन प्रकार से निश्चय-व्यवहार बताया।

वैसे तो अशुद्ध-अवस्था के अनन्त प्रकार हैं तथा शुद्धता में भी (हीनाधिकतारूप) अनन्त प्रकार हैं, परन्तु प्रयोजनसिद्धि हेतु अशुद्ध, मिश्र और शुद्ध ऐसे तीन भेदों का वर्णन करके उसमें अनन्त प्रकार समाविष्ट कर दिये हैं।

अब उस में निश्चय-व्यवहार का खुलासा करते हैं।

यह एक सिद्धांत है, कि स्वभाव को साधनेवाले परिणाम स्वभावरूप होते हैं, विभावरूप नहीं होते। विरुद्ध जाति के भावों साधक-साध्यपना होता नहीं है। मोक्षमार्ग आत्मा केस्वभाव के आश्रित है, राग के आश्रित नहीं है। आत्मा का साधक आत्मारूप होकर आत्मा की साधना करता है, रागरूप होकर आत्मा की साधना नहीं करता।

प्रकरण - ५

संसारी जीव के निश्चयव्यवहार; जीव के निश्चय-व्यवहार जीव में ही है।

`निश्चय तो अभेदरूप द्रव्य, तथा व्यवहार द्रव्य के यथावस्थित भाव हैं, परन्तु विशेष अतना कि जब तक संसारअवस्था है तब तक व्यवार कहा जाता है; सिद्ध को व्यवहारातीत कहे जाते हैं। अतः संसार और व्यवहार ये दोनों एकरूप कहे, अर्थात् संसारी वह व्यवहारी और व्यवहारी वह संसारी।'

द्रव्य-पर्याय को अभेद गिनकर उसे निश्चय कहा, तथा पर्याय के भेद को व्यवहार कहा। `निश्चय तो अभेदरूप द्रव्य' ऐसा कहा, उसमें शुद्धनय के विषयरूप जो शुद्धभाव है उसकी बात यहाँ पर कही हैं, यहाँ तो द्रव्य जिस पर्यायरूप परिणमित हुआ उस पर्याय के भावअनुसार पूरे द्रव्य को वैसा कह देना वह निश्चय है। अतः शुद्धपर्‌ायवाले को शुद्धनिश्चय कहा। अशुद्धपर्यायवाले आत्मा को अशुद्धनिश्चय कहा तथा मिश्रपर्यायवाले को मिश्रनिश्चय कहा। `द्रव्य जिस काल में जिस भावरूप परिणमन करे उस काल में वह तन्मय है' - ऐसा श्री `प्रवचनसार' में कहा है, वह सिद्धांत यहाँ लागू होता है। अहो ! `कुन्दकुन्ददेव' के शास्त्रों में तो हजारों आघमों के मूल (जड़े) समाये हुए हैं।

विशेष में यहाँ ऐसा कहा कि जब तक संसारअवस्था है तब तक व्यवहार है, सिद्ध के व्यवहार नहीं है। अतः संसार वह व्यवहार और व्यवहार वह संसार,

ऐसे दोनों को एकरूप कहा। इसका अर्थ ऐसा हुआ कि जो व्यवहार का अवलम्बन लेता है वह संसार का ही अवलम्बन लेता है। अज्ञानी व्यवहार-व्यवहार करता है और उसके अवलम्बन से धर्म का लाभ होना मानता है परन्तु यहाँ करीब ४०० वर्ष पूर्व आगम के अभ्यासी पंडित कह रहे हैं कि व्यवहार व संसार दोनों एकरूप है, जो व्यवहारी है वह संसारी है, जो व्यवहार का अवम्बन लेता है वह संसार में भटकता है और जो शुद्धस्वभाव का (कर्मसंयोग तथा विकार बगैर के आत्मस्वरभाव का) अवलम्बन लेता है वह शुद्धता को प्राप्त करके सिद्ध होता है; उसे व्यवहार रहता नहीं है, वय व्यवहारातीत हो जाता है। अज्ञानी व्यवहार-व्यवहार करता है, परन्तु भाई ! तेरा जो व्यवहार है वह भी अशुद्ध है, तो उस अशुद्धात में से शुद्धता तुझे कहाँ से मिलेगी ? और जिसे शुद्धव्यवहार है वे तो व्यवहार के अवलम्बन में रुकते नहीं है, उनकी परिणति तो शुद्धस्वभाव की और झुकी हुई होती है; शुद्धस्वभाव की तरफ झुकी हुई परिणति को ही यहाँ शुद्धव्यवहार कहा है। ऐसा शुद्धव्यवहार अज्ञानी के होता नहीं है।

'अब इन तीनों अवस्थाओं का विवरण लिखते हैं,'

अर्थात् अशुद्ध, मिश्र और शुद्ध ऐसे जो तीन प्रकार कहे उनमें से कौनसा प्रकार किस जीव के होता है वह अब बताते हैं।

'- जब तक मिथ्यात्वअवस्था है तब तक अशुद्ध निश्चयात्मक द्रव्य अशुद्धव्यवहारी है।
- सम्यग्दृष्टि होते ही अर्थात् चतुर्थ गुणस्थान के प्रारम्भ से बारहवें गुणस्थान तक मिश्र निश्चयात्मक जीवद्रव्य मिश्रव्यवहारी है।
- तथा केवलज्ञानी शुद्धनिश्चयात्मक शुद्ध व्यवहारी है।'

अज्ञानी जीव अपने आत्मा का शुद्धस्वभाव भूलकर, रागादि अशुद्धतारूप ही

अपने को मानता हुआ, अशुद्धतारूप ही परिणमित होता है, अतः उसके द्रव्य को 'अशुद्धनिश्चयात्मकद्रव्य' कहा। हालाँकि अशुद्धता तो क्षणिक पर्याय है, परन्तु उसके सहकार से द्रव्य को अशुद्ध कहा; तथा उसी जीव कों, जब शुद्धपरिणतिरूप परिणमन करेगा तब शुद्ध परिणति के सहकार से उसी द्रव्य को 'शुद्धनिश्चयात्मकद्रव्य' कहेंगे। अशुद्धपर्याय के काल में भी शुद्धद्रव्यस्वभाव तो विद्यमान है, परन्तु अज्ञानी को उसकी खबर नहीं है; यदि उस स्वभाव का पता लगे तो उसे केवल अशुद्ध परिणमन रहे नहीं, वह साधक हो जाय।

साधक के आत्मा को 'मिश्रनिश्चयात्मकद्रव्य' कहा है। सम्यग्दृष्टि साधक को शुद्धद्रव्य का भान हुआ है, उसकी परिणति आंशिक शुद्धतारूप परिणमित हुई है, तथा आंशिक अशुद्धतारूप भी परिणमित होती है, इस प्रकार उसे शुद्ध-अशुद्धरूप मिश्रपरिणति है; और ऐसी मिश्रपरिणति के सहयोग से उस द्रव्य को (चौथे से लेकर बारहवें गुणस्थान पर्यंत) 'मिश्रनिश्चयात्मकद्रव्य' कहते हैं। उस प्रकार की परिणतिरूप द्रव्य स्वयं परिणमित हुआ है अतः उस परिणति के सहकार के कारण द्रव्य को भी वैसा कहा।

जिन की परिणति शुद्धरूप परिणमित हो गई है ऐसे केवलज्ञानी भगवंतो के आत्मा को (तेरहवें तथा चौदहवें गुणस्थान में) 'शुद्धनिश्चयात्मक द्रव्य' कहा है। स्वभाव से तो वस्तु शुद्ध है परन्तु अवस्था में शुद्धतारूप परिणमन करे तब उसे शुद्ध कहा जाय न ? 'अन्यद्रव्य से भिन्नतापूर्वक उपासना किया जा रहा 'शुद्ध' कहा जाता है।' ऐसा 'समयसार' की छठी गाथा में कहा है। अज्ञानी शुद्धस्वभाव की उपासना नहीं करता, वस्तु का अशुद्धभावरूप ही अनुभव करता है व अशुद्धतारूप ही परिणमन करता है अतः उसे अशुद्ध कहा है।

अशुद्ध, मिश्र या शुद्ध, उस उस प्रकार की परिणतिरूप में द्रव्य स्वयं परिणमन करता है, अतः वह परिणति, वह उसका व्यवहार है, तथा उसरूप परिणमित हुआ द्रव्य वह निश्चय है। ऐसा निश्चय-व्यवहार प्रत्येक जीव को सहकारीरूप में वर्तता है।

जीवका निश्चय व व्यवहार दोनों जीव में ही समाविष्ट है। पुद्‌गल की परिणति, वह पुद्‌गल का व्यवहार है, जीव की परिणति वह जीव का व्यवहार है। जीव के भाव जीवमें, पुद्‌गल के भाव पुद्‌गल में; दोनों के भाव स्वतंत्र है; उनको मात्र निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध से विशेष सम्बन्ध कुछ नहीं है।

द्रव्य वह निश्चय और पर्याय वह व्यवहार; अतः द्रव्य निश्चयकारण और पर्याय व्यवहारकारण; जैसे-मोक्षमार्ग की पर्यायरूप परिणमित शुद्धआत्मद्रव्य, वह निश्चय से मोक्ष का कारण है अतः उसे `कारणसमयसार' कहा; तथा पर्याय का भेद करके कहने पर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप शुद्धरत्नत्रय को मोक्षमार्ग कहा। इस प्रकार अभेदद्रव्य का कथन वह निश्चय, और पर्याय के भेद का कथन उसका नाम व्यवहार; उसमें अभेदद्रव्य को मोक्ष का साधन कहा वह निश्चय; और मोक्षमार्ग की शुद्धपर्याय को मोक्ष का साधन कहा उसका नाम व्यवहार। (इस व्यवहार में भी जो रत्नत्रय है वह तो निश्चयरूप-शुद्ध है।) रागरूप व्यवहार रत्नत्रय को मोक्ष का साधन कहा वह तो सिर्फ उपचार है। और वह उपचार भी ज्ञानी के ही व्यवहार में लागू होता है, अज्ञानी के तो उपचार से भी मोक्षमार्ग नहीं है।

अशुद्धपरिणतिरूप परिणमित अज्ञानी जीव के जो अशुद्ध परिणति है, वह उसका व्यवहार है, वह अशुद्धव्यवहार है, तथा उस अशुद्धपरिणतिरूप परिणमित द्रव्य वह अशुद्ध निश्चयात्मक द्रव्य है। इस अशुद्धनिश्चयात्मक द्रव्य को सहकारी अशुद्धव्यवहार कहा। देखो, इसमें निमित्त के सहकार की बात नहीं ली। द्रव्य को सहकार किसका ? कि उस समय प्रवर्तमान अपनी पर्याय का। वह पर्या सदैव द्रव्य के साथ वर्तती है। उसमें मिथ्यात्व अवस्था के समय अशुद्ध परिणति के सहकार से आत्मा को अशुद्ध कहा, परन्तु कर्म के कारण आत्मा को अशुद्ध कहा - ऐसी बात नहीं ली है।

साधकजीव के शुद्ध-अशुद्धरूप मिश्रपरिणति है; वैसी मिश्र परिणतिरूप वह द्रव्य स्वयं परिणमित हुआ है, अतः उसे मिश्रनिश्चयात्मक द्रव्यतथा उसकी परिणति को मिश्रव्यवहार कहा।

उसी प्रकार जिसका आत्मा केवलज्ञानादि पूर्णशुद्धपर्यायरूप परिणमित हो गया

वह आत्मा शुद्धनिश्चयात्मक द्रव्य है, और उसकी शुद्धपरिणति वह उसका व्यवहार है।

देखो, यह एक द्रव्य के निश्चय-व्यवहार। द्रव्य को निश्चय कहा तथा परिणति को व्यवहार कहा; तथा उन दोनों को सहकारी कहा। वस्तु को किसी पर का सहकार नहीं है, अपने ही अपने में द्रव्य-पर्याय को एक दूसरे का सहकार है।

अशुद्ध उपादानरूप परिणमित द्रव्य को सहकारी अशुद्धपर्यायरूप व्यवहार है।

मिश्र उपादानरूप परिणमित द्रव्य को सहकारी मिश्रपर्यायरूप व्यवहार है।

शुद्ध उपादानरूप परिणमित द्रव्य को सहकारी शुद्धपर्यायरूप व्यवहार है।

यहाँ ये तीनों प्रकार संसारी जीव के हैं। जब तक संसार अवस्था है तब तक व्यवहार कहा है तथा सिद्ध को व्यवहारांतीत कहा है। सिद्धभगवान के भी पर्याय तो है, परन्तु यहाँ संसार-अवस्थित जीव का ही विचार करने का होने की वजह से उनको अनवस्थित कहा है।

सुवाक्य

स्वानुभूति करनेवाला भाव जिसका स्वानुभव करता है उसके जैसा शुद्ध हो जाय - एक जातिका होकर दोनों तद्रूप हो जाय - तो ही स्वानभूति हो सकती है।

शुद्धात्मा की वीतरागी अनुभूति रागभाव द्वारा हो सकती नहीं है। शुद्धात्मा की अनुभूति करनेवाला भाव रागरूप नहीं होता। शुद्धात्मा की अनुभूति करनेवाला भाव शुद्धात्मा की जाति का - वीतराग ही होता है। रागभाव में वीतरागभाव की अनुभूति नहीं होती।

प्रकरण - ६

अज्ञानी का अशुद्धव्यवहार, साधक का मिश्रव्यवहार, केवली का शुद्धव्यवहार - इसका स्पष्टीकरण

`निश्चय तो द्रव्य को स्वरूप, और व्यवहार संसारवस्थित भाव, उसका अब विवरण रते हैं। तीन प्रकार की संसारअवस्थावाले जीव किस तरह के होते हैं इसकी विशेष स्पष्टता करते हैं -

- मिथ्यादृष्टि जीव अपना स्वरूप जानता नहीं है, अतः परस्वरूप में मग्न होकर उसे अपना कार्य मानता है; उसे कार्य को करता हुआ वह अशुद्धव्यवहारी कहा जाता है।

- सम्यग्दृष्टि अपने स्वरूप का परोक्षप्रमाण द्वारा अनुभव करता है, परसत्ता परस्वरूप उसे अपना कार्य नहीं मानता हुआ योगद्वार से अपने स्वरूप के ध्यान-विचाररूप क्रियाको करता है, उस कार्य को करता हुआ वह मिश्र व्यवहारी कहा जाता है।

- केवलज्ञानी यथाख्यातचारित्र के बलद्वारा शुद्धात्मस्वरूप में रमणशील है अतः उसे शुद्धव्यवहारी कहते हैं; योगारूढ़-अवस्था विद्यमान है इसलिये व्यवहारी नाम कहते हैं। शुद्धव्यवहार की सरहद तेरहवें गुणस्थान से लेकर चौदहवें गुणस्थान पर्यंत जानना। `असिद्धपरिणमनत्वात् व्यवहारः।"

निगोद से लेकर चौदहवें गुणस्थान पर्यंत के सभी संसारी जीवों की अवस्था के प्रकार इन तीन विभागों में समा जाता हैं।

संसार के जीवो में महद् अंश मिथ्यादृष्टि जीवों का है। मिथ्यादृष्टि जीव अपना आत्मस्वरूप जानता नहीं है और शरीरादि की क्रिया वह मैं हूँ, राग

के जितना ही मैं हूँ - ऐसा मानकर परस्वरूप में ही मग्न वर्तते हैं, अतः अशुद्ध पर्यायरूप ही परिणमन करते हैं अतः वे अशुद्धव्यवहारी है। अन्य द्रव्य के संयोग से हुई जो मनुष्यादि पर्याय वह वास्तव में आत्मस्वरूप नहीं है परन्तु अज्ञानी तो 'मैं ही मनुष्य हूँ' ऐसा मानकर ही वर्तता है, उसे 'प्रवचनसार' में आचार्यदेवने व्यवहारमूढ - परसमय कहा है; यहाँ भी उसे परस्वरूप में लीन अर्थात् परसमय कहा है। भाई ! 'मनुष्य-व्यवहार' वह वास्तव में तेरा व्यवहार नहीं, परन्तु शुद्ध चेतना के विलासरूप जो आत्मव्यवहार वही तेरा व्यवहार है, तेरी शुद्ध चैतनापर्याय वही तेरा व्यवहार है। तेरा व्यवहार तेरे में हो सकता है या परद्रव्य में होगा ? तेरा व्यवहार तेरे में, और पर का व्यवहार पर में।

प्रश्न :- व्यवहार को पराश्रित कहा है न ?

उत्तर :- यहाँ अभेद सो निश्चय और भेद सो व्यवहार - यह विवक्षा है। और भेद के विचार में पर का अवलम्बन है - इस अपेक्षा से उसे पराश्रित कह सकते हैं। परन्तु जो भेदरूप भाव (अर्थात् पर्याय) है वह तो अपने में ही है, वह कोई पर में नहीं है।

आत्मा तो चेतनास्वरूप है, आत्मा कोई मनुष्यादि देहरूप नहीं है। 'मनुष्य-व्यवहार' तो मिथ्यादृष्टि का है, अर्थात् चेतनास्वरूप को भूलकर 'मैं मनुष्य ही हूँ' ऐसी देहबुद्धिपूर्वक अज्ञानी प्रवर्तता है। मैं मनुष्य ही हूँ, मेरा ही यह शरीर है - ऐसे अहंकार-ममकार द्वारा ठगा जाता हुआ वह अविचलितचेतना-विलासमात्र आत्मव्यवहार से वह च्युत होता है, तथासमस्त क्रिया... को जिसमें छाती से लगाया जाता है (तन्मय हो जाता है) ऐसे मनुषअयव्यवहार का आश्रय करके यह रागद्वेषी होता है। इस प्रकार अज्ञानी परद्रव्यरूप कर्म के साथ संगतपने के कारण वास्तव में परसमय होता है। (देखो प्रवचनसार गा.९८ की टीका) लोगों में मानवधर्म के नाम से अनेक प्रकार की गोलमाल चलती है; यहाँ सन्त कहते हैं कि 'मैं मनुष्य हूँ' ऐसी मिथ्याबुद्धि का नाम अधर्म है। भाई, तु तो आत्मा है, तेरा विलास चेतनारूप है। जड़ देह की क्रिया में तेरा व्यवहार नहीं है, और रागादि अशुद्ध परिणति वह भी वास्तव में तेरा व्यवहार नहीं है, वह

तो अशुद्ध व्यवहार है। तेरा शुद्धव्यवहार तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की शुद्ध परिणति में है, शुद्धचेतनापरिणति वही तेरा आत्मव्यवहार है। अज्ञानी के अशुद्धपरिणति है वह उसका अशुद्धव्यवहार है।

अरे, तेरा व्यवहार क्या और तेरा निश्चय क्या, उसे भी तू जान नहीं अपने भावों को भी तू पहिचाने नहीं, तो किस प्रकार तू धर्म करेगा ? अतः तू अपने भावों को पहिचान।

सम्यग्दृष्टि अपने ज्ञानानन्दस्वरूप को परोक्ष प्रमाण द्वारा अनुभवता है। सम्यक्मतिश्रुतज्ञान में इन्द्रिय तथा मन के अवलम्बन बगैर का जो रागरहित संवेदन है उस अपेक्षा से आंशिक प्रत्यक्षपना भी है, परन्तु मति-श्रुतज्ञान है इसलिये उसे परोक्ष कहा है। - इस सम्बन्ध में बहुत सारा स्पष्टीकरण 'पंडित श्री टोडरमल्लजी' की चिट्ठी के विवेचन में आ चुका है। स्वानुभवपूर्वक आत्मस्वरूप को जाना तब से ही धर्मी जीव पर की क्रिया को या पर केस्वरूप को अपना मानता नहीं है, उससे भिन्न अपने ज्ञानस्वरूप का जानता है; और ऐसे निजस्वरूप के ध्यान-विचाररूप क्रिया में वह वर्तता है, वह उसका मिश्रव्यवहार है।

प्रश्न :- उसे मिश्रव्यवहार क्यों कहा ?

उत्तर :- क्योंकिसाधक को अभी पूर्ण शुद्धता हुई नहीं है; उसकी पर्याय में कुछ शुद्धता और कुछ अशुद्धता दोनों साथ में विद्यमान है, अतः उसे मिश्रव्यवहार कहा।

प्रश्न :- मिश्रव्यवहार तो चौथे से लेकर बारहवें गुणस्थान पर्यंत कहा है; बारहवें गुणस्थान में तो कोई रागादि अशुद्धता नहीं है, तो वहाँ मिश्रपना कैसे कहा जाता है ?

उत्तर :- राग-द्वेष मोहरूप अशुद्धता वहाँ नहीं है यह बात ठीक है, परन्तु वहाँ अभी ज्ञानादिगुणों की अवस्था अपूर्ण है अतः ज्ञानादि की अपेक्षा से (उदयभावरूप अज्ञानभाव है उस अपेक्षा से) अशुद्धता गिनकर वहाँ मिश्रभाव कहा।

प्रश्न :- तो फिर केवलीभगवान को भी योग का कम्पन आदि उदयभाव

है, अतः उनके भी मिश्रपना कहना चाहिए न ?

उत्तर :- नहीं, केवलीभगवान के ज्ञानादि परिणति सम्पूर्ण शुद्ध हो गई है, और अब जो योग का कम्पन इत्यादि है वह कोई नये कर्मसम्बन्ध का कारण नहीं होता, अतः उनके अकेली शुद्धता ही गिनकर शुद्धव्यवहार कहा है।

सम्यग्दृष्टि के मिश्रव्यवहार कहा है; वहाँ आत्मा व शरीर की इकट्ठी क्रिया ऐसा कोई अर्थ `मिश्र' का नहीं है; परन्तु अपनी पर्याय में कुछ शुद्धता और कुछ अशुद्धता ये दोनों एकसाथ होने की वज़ह से मिश्र कहा है। आत्मा का सम्यग्दर्शन होत ही चौथे गुणस्थान से आंशिक शुद्धता प्रगट हुई है। वहाँ से लेकर बारहवें गुणस्थान तक साधकदशा है। ऐसी परिणतिवाले जीव को `मिश्र निश्चयात्मकद्रव्य' कहा है।

प्रश्न :- सम्यग्दृष्टि तो अपने शुद्धद्रव्य को जानता है फिर भी उसे शुद्ध-अशुद्ध-मिश्रनिश्चयात्मकद्रव्य क्यों कहा ?

उत्तर :- सम्यग्दृष्टि की निश्चयदृष्टि में - प्रतीति में कोई शुद्धाशुद्ध आत्मा नहीं है, उसकी दृष्टि तो शुद्ध आत्मा है; परन्तु पर्याय में अभी उसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान तथा स्वरूपाचरणचारित्रादि शुद्ध अंशो के साथ रागादि अशुद्धअंश भी हैं, इस प्रकार शुद्ध व अशुद्ध ऐसे मिश्रभावरूप अवस्था है, उस मिश्र अवस्था के साथ अभेदता गिनकर उस द्रव्य को भी एसा `मिश्रनिश्चयात्मक' कहा है। द्रव्यदृष्टि से देखने पर दो द्रव्य शुद्ध ही है, अशुद्धता उसमें नहीं है। - `णावि होदि अप्पमतो ण पमत्तो जाणगो दु जो भावो। एवं भवंति सुद्धं णाओ जो सो उ सो चेव।।६।।' अतः आत्मा को शुद्धद्रव्यदृष्टि से देखो तो वह प्रमत-अप्रमत या शुद्ध-अशुद्ध ऐसे भेद बगैर का एकरूप शुद्ध ज्ञायक है, और वह ज्ञायकस्वभाव विकाररूप हुआ नहीं है। - यही सम्यग्दर्शन का विषय है। पर्याय में शुद्ध-अशुद्धपना इत्यादि प्रकार हैं। जब ऐसे ज्ञायकस्वभाव की उपासना की जाती है तब पर्याय शुद्ध होती है, और जब उस स्वभाव को भूलकर विकार में ही लीनतापूर्वक वर्तता है तब पर्या अशुद्ध होती है। यह शुद्ध या अशुद्ध पर्याय के साथ अभेदता के कारण द्रव्य कों भी शुद्ध, अशुद्ध अथवा मिश्र कहा है।

क्योंकि उस-उस काल में वैसे भावरूप द्रव्य स्वयं परिणमित हुआ है, द्रव्य का ही वह परिणमन है, वह कोई द्रव्य से भिन्न किसी दूसरे का परिणमन नहीं है।

देखो, साधकदशा में शुद्धता भी है और अशुद्धता भी है; दोनों एक साथ एक पर्याय में है फिर भी दोनों की धारा भिन्न है, शुद्धता तो शुद्ध द्रव्य के आश्रय से है तथा अशुद्धता पर के आश्रय से है, - दोनों की जाति भिन्न है। दोनों साथ होने के बावजूद जो अशुद्धता है वह वर्तमान में प्रगट हुई शुद्धता का कोई नाश कर देती नहीं है। - ऐसी मिश्रधारा साधक की होती है।

तेरहवें-चौदहवें गुणस्थान में केवली भगवान पूर्ण यथाख्यात चारित्र के बल द्वारा शुद्धात्मस्वरूप में ही लीन है। यद्यपि यथाख्यात् चारित्र तो बारहवें गुणस्थान में भी पूर्ण था परन्तु वहाँ पर अभी केवलज्ञान नहीं था, अब केवलज्ञान तथा अनन्त सुख खुल जाने पर पूर्ण इष्टपद की प्राप्ति हुई, साध्य था वह सिद्ध गया, और आवरण का आत्यंतिक अभाव हो गया, अतः शुद्ध परिणतिरूप शुद्धव्यवहार कहा है। तेरहवें गुणस्थान में योगारूढ़दशा अर्थात् योग का कम्पन है और चौदहवें गुणस्थान में योग का कम्पन नहीं है, परन्तु वहाँ अभी असिद्धपना है, अर्थात् संसारीपना है, अतः वहाँ तक व्यवहार गिना है। सिद्धभगवान संसार से पार है अतः वे व्यवहारातीत है। जब तक असिद्धपना है, तब तक व्यवहार है, सिद्ध व्यवहारमुक्त है। वैसे तो दृष्टिअपेक्षा से सम्यग्दृष्टि को भी व्यवहार-विमुक्त कहा है, परन्तु यहाँ बात पिरणति की अपेक्षा से है, जब तक संसार है तब तक व्यवहारपरिणति गिनी है, सिद्ध को व्यवहार से पार गिना है। शास्त्रों में जहाँ जो विवक्षा हो, वह समझनी चाहिए।

इस प्रकार संसारी जीवकी अवस्था के अशुद्ध, मिश्र और शुद्ध - ऐसे तीन प्रकार कहे। संस्र में से मोक्ष में जानेवाले प्रत्येक जीव को इन तीनों प्रकार की अवस्थाएँ हो जाती है। अशुद्धता तो अज्ञानदशा में सभी संसारी जीवों को अनादि से वर्तती है; फिर आत्मज्ञान होने पर साधकभावरूप मिश्रदशा विकसित होती है, और शुद्धता बढ़ते-बढ़ते केवलज्ञान होने पर साध्यरूप पूर्ण शुद्धदशा प्रगट होती है; तत्पश्चात् अन्यकाल में वह मोक्षपद को प्राप्त करता है। अशुद्धदशा है

वह आस्रव और बंधतत्त्व है, मिश्रदशा मेंजितनी शुद्धता है उतने संवर-निर्जरा है तथा अल्प अशुद्धता है वह आस्रव-बंध है; और पूर्ण शुद्धता प्रगट हुई वहा भावमोक्ष है। द्रव्यमोक्षरूप सिद्धदशा की बात यहाँ नहीं ली है, क्योंकि संसारीजीवों की ही बात है।

अज्ञानी के सिर्फ अशुद्धता है; चौथे गुणस्थान से कुछ शुद्धता और साथ में राग ऐसा मिश्रपना है; बाहरवें गुणस्थान में वीतरागता है इसलिये वहाँ यद्यपि राग नहीं है परन्तु अभी ज्ञानादि गुणों की अवस्था अदूरी है इसलिये वहाँ भी मिश्रभाव गिना। केवलज्ञानी के ज्ञानादि पूर्ण हो गये हैं अतः शुद्धता गिनी, फिर भी अभी (तेरहवें-चोदहवें गुणस्थान में) सिद्धपना नहीं है इसलिये असिद्धत्व होने से उनको भी व्यवहार गिना; क्योंकि परमाणुके साथ अभी उस प्रकार का सम्बन्ध है और परिणति में उस प्रकार की योग्यता है। फिर जहाँ सिद्धदशा हुई वहाँ व्यवहार सारा छूट गया... और व्यवहार छूटा वहाँ संसार छूट गया। व्यवहारातीत हुआ वहाँ संसारातीत हुआ।

प्रश्न :- यहाँ चौदहवें गुणस्थान तक व्यवहार कहा, सिद्ध को व्यवहारातीत कहा, और समयसारादि में तो सम्यग्दृष्टि को चौथे गुणस्थान से ही व्यवहार का निषेध कहा है न ?

उत्तर :- भाई ! वहाँ भी जो व्यवहार है उसका कोई इन्कार नहीं किया है परन्तु उसका आश्रय करने से मना किया है; जिस भूमिका में जो व्यवहार हो उसे तू जानना परन्तु उसका आश्रय मत करना - ऐसा वहाँ कहा है; यदि उसके अवलम्बन से लाभ मानेगा तो उस व्यवहार के विकल्प में ही रुक जायेगा और परमार्थ का अनुभव होगा नहीं। जिनमत के प्रवर्तन हेतु दोनों नय जानने योग्य कहे हैं, परन्तु आश्रय करने योग्य तो एक भूतार्थ स्वभाव ही कहा है, अतः व्यवहार का ज्ञान मत छोड़ो परन्तु उसका आश्रय छोड़ो, परमार्थ का आश्रय करो - ऐसा उपदेश है। उसी प्रकार यहाँ भी संसार-अवस्था में किस जीव को कैसा व्यवहार है उसका ज्ञान कराया है, परन्तु कोई उसका आश्रय करने के लिये नहीं कहा। एक त्रिकाली अखंड द्रव्य को संसारी व सिद्ध ऐसे दो अवस्थाभेदपूर्वक लक्ष में लेना वह भी व्यवहार है, और इस भेद

के लक्ष से निर्विकल्पता होती नहीं है; एकरूप अभेद द्रव्यस्वभाव को दृष्टि में लेना वह निश्चय है, और उसी को लक्ष से निर्विकल्पता होती है।

प्रश्न :- व्यवहार है सो मिथ्यात्व है ?

उत्तर :- नहीं भाई ! व्यवहार स्वयं मिथ्यात्व नहीं है; व्यवहार तो सम्यग्दृष्टि को भी होता है, यहाँ तो चौदहवें गुणस्थान तक भी व्यवहार कहा है; वह व्यवहार कोई मिथ्यात्व नहीं है। परन्तु व्यवहार के भेद के अवलम्बन में उलझकर उससे लाभ माने तो ज़रूर मिथ्यात्व है।

'समयसार-नाटक' में कहा है कि असंख्यात् प्रकार के जो मिथ्यात्वभाव है वह व्यवहार है; और जिसका मिथ्यात्व छूट गया और सम्यक्त्व हुआ वह जीव निश्चय में लीन है और व्यवहार विमुक्त है। वहाँ ऐसे समझना कि जो मिथ्यात्वभाव है वह किसी न किसी प्रकार से व्यवहारआश्रित है, अतः जितने प्रकार मिथ्यात्व के उतने ही प्रकार व्यवहार के कहे; परन्तु जो व्यवहार है वही मिथ्यात्व है ऐसा मत समझना। सम्यग्दृष्टि के भी व्यवहार तो भूमिका अनुसार होता है, परन्तु उनको उसके आश्रय की बुद्धि नहीं है अतः उन्हें मिथ्यात्व नहीं है।

संसार-अवस्था में स्थित जीव की जिस तीन अवस्थाओं का (तीन प्रकार के व्यवहार का) कथन किया, उसका स्वरूप कहते हैं :

'- अशुद्धव्यवहार शुभाशुभआचाररूप है;
- शुद्धाशुद्धव्यवहार शुभोपयोग मिश्रित स्वरूपाचरणरूप है;
- और शुद्ध व्यवहार शुद्धस्वरूपाचरणरूप है।
इनमें विशेष इतना कि, कोई कहे कि शुद्ध स्वरूपाचरण तो सिद्ध में भी विद्यमान है, अतः वहाँ भी व्यवहारसंज्ञा कहनी चाहिए; तो ऐसा नहीं है, क्योंकि संसारअवस्था तक व्यवहार कहा जाता है, संसारअवस्था के मिटने पर व्यवहार भी मिटा कहा जाता है, ऐसी स्थापना यहाँ की है, अतः सिद्ध व्यवहारातीत कहे जाते हैं। इस प्रकार व्यवहार विचार समाप्त।'

अज्ञानी के जो अशुद्धव्यवहार है वह कैसा है ? कि शुभआचाररूप तथा अशुभआचाररूप अशुद्धव्यवहार है, उस शुभाशुभ आचरण में शुद्धता नहीं है। मिथ्यादृष्टि के शुभाशुभ राग का ही आचरण होता है, शुद्ध आचरण उसे होता नहीं है। कोई कहे कि शुभ है वह शुद्ध का कारण होता है, तो कहते हैं कि नहीं, शुभआचरण स्वयं अशुद्ध है - यह बात ३५० वर्ष पूर्व `पंडित बनारसीदासजी' भी स्पष्टरूप से कह गये हैं, और जैनसिद्धांत में अनादि से वह बात सन्त कहते चले आये हैं। शुभआचरण जो स्वयं अशुद्ध है वह शुद्धता का कारण कैसे हो ? इस प्रकार मिथ्यादृष्टि के जो अशुभ या शुभ आचरण है उसे अशुद्ध व्यवहार जानना।

साधक का मिश्रव्यवहार कैसा है ? उसे शुभोपयोगमिश्रित स्वरूपाचरण है वह शुद्धाशुद्ध-मिश्रव्यवहार है। सम्यग्दर्शन होने पर चौथे गुणस्थान से स्वरूपाचरण प्रगट हुआ वह शुद्धता का अंश है, और वहाँ अभी शुभराग है वह अशुद्धता है; इस प्रकार उसे शुद्धाशुद्धरूप मिश्र व्यवहार है।

प्रश्न :- सम्यग्दृष्टि के चौथे इत्यादि गुणस्थान में अशुभ भाव भी होता है, फिर भी यहाँ स्वरूपाचरण को शुभमिश्रित क्यों कहा ? अशुभ की बात कहाँ गई ?

उत्तर :- सम्यग्दृष्टि के अशुभ की प्रधानता नहीं है, उन्हें शुभ की प्रधानता है, अतः अशुभ को गिना नहीं है। आगम में अशुभ की प्रधानता मिथ्यादृष्टि को ही गिनी है; सम्यग्दृष्टि को चौथे-पाँचवे-छठे गुणस्थान में शुभोपयोग की प्रधानता है, और साथ में शुद्धपरिणति भी होती है। अतः उसे शुद्ध के साथ शुभ का ही मिश्रपना गिना है। पुनःश्च, इसमें यह बात भी आ गई कि समकिती का शुभउपयोग है वह भी अशुद्ध ही है, वह कोई धर्म नहीं है।

प्रश्न :- यहाँ साधक के मिश्रव्यवहार को शुभोपयोगमिश्रित कहा, परन्तु ऊपर बारहवें गुणस्थान में तो शुभोपयोग नहीं है तो वहाँ मिश्रव्यवहार किस प्रकार से विद्यमान है ?

उत्तर :- वहाँ शुभोपयोग नहीं है यह बात ठीक है, परन्तु अभी ज्ञान-दर्शन-वीर्य-आनन्द आदि अपूर्ण है, अतः `ज्ञान' के साथ उदयरूप अज्ञानभाव भी साथ में है, उस अपेक्षा से वहाँ भी मिश्रव्यवहार समझना। सिद्धान्त में अज्ञान का

उदय बारहवें गुणस्थान तक कहा है, और असिद्धपनारूप उदयभाव चौदहवें गुणस्थान तक है। जबतक उदयभाव है, तब तक संसार है, और जब तक संसार है तब तक व्यवहार है।

केवली भगवान को शुद्ध व्यवहार है वह कैसा है ? केवलज्ञानसहित शुद्ध स्वरूपाचरणरूप शुद्धव्यवहार है। उनके अब साधकपना नहीं रहा और अभी सिद्धपद भी प्राप्त किया नहीं है। परन्तु साध्यरूप परम इष्ट ऐसी परमात्मदशा उनको प्रगट हो गई है। ऐसे अरिहंतो को शुद्ध स्वरूपाचरणरूप शुद्ध व्यवहार होता है।

प्रश्न :- शुद्ध स्वरूपाचरण तो सिद्ध भगवान को भी है, तो उनको भी शुद्ध व्यवहार क्यों नहीं कहते हैं ?

उत्तर :- उसका खुलासा आ चुका है कि, यहाँ संसार अवस्थावाले जीवों का ही कथन है, अतः संसारअवस्था तक ही व्यवहार गिना है। चौदहवें गुणस्थान तक असिद्धत्व है तथा कुछेक गुणों का विभाव परिणमन एवं कर्मसंयोग है अतः वहाँ तक व्यवहार गिना है; सिद्धदशा में विभाव या कर्मसंयोग किसी प्रकार से नहीं है, अतः संसारातीत ऐसे सिद्ध भगवान को व्यवहारातीत गिना है।

बारहवें गुणस्थान में भी यथाख्यात चारित्र है फिर भी वहाँ शुद्धव्यवहार न गिनकर मिश्रव्यवहार क्यों गिना ? - इससे सम्बन्धित खुलासा पहले आ चुका है।

इस प्रकार संसारी जीवों को संसार अवस्थारूप जो व्यवहार है, उसका स्वरूप तीन प्रकार से भेद करके समझाया। इस प्रकार व्यवहार विचार समाप्त हुआ। अब इन्ही संसारी जीवों में '**आगमरूप**' तथा '**अध्यात्मरूप**' भाव किस प्रकार से है उसका स्वरूप कहते हैं।

महात्म्य करने योग्य दुनिया में कुछ हो तो वह एकमात्र सर्वज्ञप्रणीत धर्म तथा उसके धारक धर्मात्मा ही है... उनको परिचानकर उनका ही बहुमान करो। जिसे अपने में धर्म प्रिय है उसे धर्मात्माओं के प्रति बहुमान आयेगा ही। धर्मात्मा का बहुमान वह धर्म का ही बहुमान है।

प्रकरण - ७

आगम-अध्यात्म का स्वरूप

`वस्तु का जो स्वभाव उसे आगम कहते हैं, आत्मा का जो अधिकार उसे अध्यात्म कहते हैं; आगम तथा अध्यात्मस्वरूप भाव आत्मद्रव्य के जानना। वे दोनों भाव संसारअवस्था में त्रिकाल मानना।'

वस्तु का स्वभाव कहने पर यहाँ त्रिकाली स्वभाव मत समझ लेना, परन्तु पर्यायका स्वभाव समझना; संसारी जीव को पर्याय में विकार की परम्परा अनादि से चली आ रही है तथा उसके निमित्तरूप कर्म की परम्परा भी अनादि से चली आ रही है, उसे यहाँ `आगमपद्धति' कहा है। यह आगमपद्धति अशुद्ध है अतः उसमें आत्मा का अधिकार नहीं कहा, अध्यात्मपद्धति शुद्धपर्यायरूप है अतः उसमें आत्मा का अधिकार कहा। आगमरूप अशुद्धभाव और अध्यात्मरूप शुद्धभाव - इन दोनों भाववाले जीव संसार अवस्था में सदैव होते ही हैं अतः संसार अवस्था में अन दोनों भावों को त्रिकालवर्ती कहा है। संसार में साधक तथा बाधक जीव सदैव वर्तते ही है; संसार में कभी अकेली अशुद्धपर्यायवाले जीव ही रह जाय और शुद्धपर्यायवाला कोई जीव न हो ऐसा कदापि बनता नहीं है, एवं सारे ही जीव शुद्धपर्यायवाले हो जाय और अशुद्ध पर्यायवाला कोई जीव न रहे - ऐसा भी कभी बनता नहीं है; अतः अशुद्धभावरूप आगमपद्धति और शुद्धभावरूप अध्यात्मपद्धति - ये दोनों भाव संसार में तीनों काल में प्रवर्तते हैं। यह बात संसार में विद्यमान भिन्न-भिन्न जीवों की अपेक्षा से समझना, अर्थात् कोई जीव शुद्ध पर्यायवाला हो, कोई जीव अशुद्धपर्यायवाला हो, कोई मिश्रपर्यायवाला

हो - इस प्रकार दोनों भाव त्रिकालवर्ती मानना। परन्तु एक ही जीव में ये दोनों भाव सदैव रहा करेगा ऐसा मत समझना। अन्यथा अशुद्धता मिटकर शुद्धता कभी हो ही नहीं पायेगी। अथवा शुद्धपर्याय भी अनादि की सिद्ध होगी। परन्तु ऐसा है नहीं। एक जीव व्यक्तिगतरूप से अपनी पर्यामें से अशुद्धता को मिटाकर शुद्धता प्रगट कर सकता है, परन्तु जगतमें से अशुद्ध भावों का सर्वथा अभाव हो जाय - ऐसा कभी होनेवाला नहीं है। जगतमें तो सभी भावोंवाले जीव सदेव रहनेवाले हैं। जगत में सिद्ध भी अनादि से होते चले आ रहे हैं और निगोद भी अनादि से है, मिथ्यादृष्टि भी अनादि से है और सम्यग्दृष्टि भी अनादि से है, अज्ञानी भी है एवं केवलज्ञानी भी है; इस तरह सभी प्रकार के जीव जगत में सदैव रहनेवाले हैं। - कोई जीव समग्र जगत में से अज्ञान का एवं अशुद्धता का अभाव करना चाहे तो वैसा कर नहीं सकेगा, परन्तु स्वयं अपने आत्मा में से अज्ञान एवं अशुद्धता को मिटाकर केवलज्ञान और सिद्धपद प्रगट कर सकता है।

जितने शुभाशुभ व्यवहारभाव है वे सारे ही आगमपद्धति में है; आगमपद्धति है वह बन्धपद्धति है, अथवा कर्मपद्धति है, उसमें धर्म नहीं है। धर्म तो अध्यात्मपद्धति में है। अध्यात्मपद्धति में आथ्मा का अधिकार कहा, परन्तु आगमपद्धति में आत्मा का अधिकार नहीं कहा, क्योंकि वह आत्मा के स्वभावरूप नहीं है परन्तु विभावरूप है।

यहाँ 'आगमपद्धति' कहा उसमें 'आगम' का अर्थ सिद्धान्तरूप शास्त्र मत समझना। परन्तु आगमपद्धति अर्थात् अनादि से चली आ रही परम्परा। अथवा आगम माने आगंतुक भाव। विकारी भाव हैं वे नये आगंतुक है, वे स्वभाव में नहीं है परन्तु कर्म के निमित्त से पर्याय में नये नये उत्पन्न हुए हैं, और अनादि से उसका प्रवाह चला आया है। विकार तथा उसके निमित्तरूप कर्म, इन दोनों का प्रवाह अनादि से चला आ रहा है, उसका नाम आगमपद्धति है। और जीव में जो नयी दशा अपूर्व अध्यात्मदशा अर्थात् शुद्धपर्याय प्रगट हो वह अध्यात्मपद्धति है। इन दोनों प्रकार के भाव जगत में सदैव रहते ही हैं। इन दोनों का विवेचन अब कर रहे हैं।

प्रकरण - ८

आगमरुप कर्मपद्धति - वह संसार
अध्यात्मरूप शुद्ध चेतनापद्धति - वह मोक्षमार्ग

`आगमरुप कर्मपद्धति है;
अध्यात्मरुप शुद्धचेतनापद्धति है। उसका विवेचन -
- कर्मपद्धति पौदगलिक द्रव्यरूप अथवा भावरूप है। द्रव्यरुप तो पुद्‌गल के परिणाम है; भावरूप पुद्‌गलाकार आत्मा की अशुद्ध परिणतिरुप परिणाम है, इन दोनों परिणामों को आगमरुप स्थापित किया।
- अब शुद्धचेतनापद्धति अर्थात् शुद्ध आत्मपरिणाम; वह भी द्रव्यरुप तथा भावरुप ऐसे दो प्रकार से हैं। द्रव्यरुप तो जीवत्वपरिणाम, तथा भावरुप ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य आदि अनन्त गुणपरिणाम, - ये दोनों परिणाम अध्यात्मरूप जानना।
इस आगम तथा अध्यात्म दोनों पद्धतियों में अन्तता मानना।'

देखो, अब यह सूक्ष्म बात ! परन्तु है तो जीव के स्वयं के परिणामकी ही बात। जीव की पर्याय में किस किस प्रकार के भाव होते हैं उन्हें समझ ने की यह बात है, अतः ध्यान रखकर समझ ने लायक है।

[नोंध :- पहले `नियमसार' गाथा १५ के साथ तुलना करके यहाँ अध्यात्मरूप शुद्धचेतनापद्धति का अर्थ `कारणशुद्धपर्याय' जैसा करते थे, और प्रत्येक जीव

में वह त्रिकाल है ऐसा कहते थे; परन्तु बाद में उस सम्बन्ध में अधिक स्पष्टता होने पर, 'नियमसार' की कारणशुद्धपर्याय से यहाँ का विषय अलग लगता है; यहाँ कही गई अध्यात्मरूप शुद्धचेतना पद्धति, वह मोक्षमार्गरूप निर्मल पर्याय है, और प्रत्येक जीव में त्रिकाल नहीं है, परन्तु समुच्चयरूप से जगत में वह सदैव होती है - ऐसा समझना। इस भाग के ऊपर पहले प्रगट हुए प्रवचन भी इस अर्थ के साथ मिलाकर समझ लेना। - सं.]

आत्मा की परिणति में अशुद्धता अनादि से है, वह स्वभावगतभाव नहीं है परन्तु आगन्तुक-विकारी भाव है। वह परिणाम स्वभाव के आकाररूप नहीं हेने के वज़ह से उसे पुद्गलाकार कहे हैं, क्योंकि पुद्गलकार्य उसमें निमित्त है, पुद्गलकर्म की परम्परा वह द्रव्यरूप कर्मपद्धति तथा उसके निमित्त से हो रहे जीव के विकार की परम्परा वह भावरूप कर्मपद्धति है। इस प्रकार द्रव्य और भावकर्म की परम्परारूप आगमपद्धति है। इन दोनों भआवों को जीवद्रव्य के कहे हैं।

प्रश्न :- जो द्रव्यकर्म की परम्परा है वह तो पुद्गल की पर्याय है, फिर भी यहाँ उसे जीव का भाव क्यों कहा ?

उत्तर :- वह पुद्गल की पर्याय है यह बात सही है, परन्तु जीव के अशुद्ध भाव के उसे सम्बन्ध है, जीव के अशुद्धभाव के साथ मेल बैठ सके उस तरह का उसका परिणमन है इसलिये यहाँ कर्मपद्धति को भी जीव का भाव कह दिया है। जीव के साथ जिसे सम्बन्ध नहीं है ऐसे अनन्ते अन्य परमाणु जगत में हैं, पर यहाँ उनकी बात नहीं है। यहाँ तो जीव के परिणाम के साथ जिसे निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है ऐसे पुद्गलों की बात है। लकडी-घर-शरीर इत्यादि का सम्बन्ध तो जीव को कभी होता है, कभी नहीं भी होता, परन्तु संसार में जीव को कर्म का सम्बन्ध तो सदैव होता ही है; उस सम्बन्ध को दिखाने के लिये उसे भी जीव का भाव कहा है - ऐसा समझना।

आत्मद्रव्य तथा उसके ज्ञानादि गुणों के जो शुद्ध परिणाम है वे अध्यात्मपद्धतिरूप है; यह अध्यात्मपद्धति शुद्धचेतनारूप है अतः उसमें विकार या कर्म का सम्बन्ध

नहीं आता। द्रव्य के शुद्धपरिणाम वह द्रव्यरूप शुद्धचेतनापद्धति है और ज्ञान-श्रद्धा-चारित्र इथ्यादि गुणों के शुद्ध परिणाम वह भावरूप शुद्धचेतना पद्धति है। ये दोनों परिणाम अध्यात्मरूप जानना।

आगमपद्धति संसार का कारण है, अध्यात्मपद्धति मोक्ष का कारण है, जिससे कर्मबन्धन हो वे सारे ही भाव आगमपद्धति में समाविष्ट है; - व्यवहार रत्नत्रय में जो शुभराग है वह भी आगमपद्धति में जाता है; शुद्धचेतनारूप जितने भाव हैं वे अध्यात्मपद्धति में आते हैं। इस प्रकार दोनों पद्धति की धारा एक-दूसरे से भिन्न है। इन दोनों पद्धति में अनन्तता मानना; आत्मा के विकारी भआवों में अनन्त प्रकार है और उसमें निमित्तरूप कर्म के भी अनन्त प्रकार है; आत्मा के निर्मल परिणामों में भी अनन्तगुण के अनन्त प्रकार है; ज्ञानादि गुणों के परिणमन में भी अनन्त प्रकार है। इस प्रकार अशुद्धता या शुद्धता इन दोनों में अनन्तता समझना।

जैसे `समयसार' में अज्ञानी को पुद्गलकर्म के प्रदेश में स्थित कहा, वैसे यहाँ अशुद्धपरिणाम को पुद्गलाकार कहा; वह आत्मा के स्वभाव की जाति नहीं है इसलिये उन्हें आत्म-आकार नहीं कहा। आत्मा के आश्रय से प्रगट हुए, आत्मा के शुद्ध परिणाम हैं वे आत्माकार है, उसमें पुद्गल से कोई सम्बन्ध नहीं है। आत्मा के स्वभाव के साथ सम्बन्धवाले जो भाव हो वे ही आत्मा को सुख का कारण होते हैं। पुद्गल के साथ सम्बन्धवाले जो भाव हो वे आत्मा को सुख का कारण नहीं होते, अतः वे भाव उपादेय नहीं है; वे तो आगंतुक अर्थात् बाहर से आये हुए हैं, वे कोई घर में से प्रगट नहीं हुए हैं, अथवा घरमें रहनेवाले नहीं है। उन भावों में वास्तव में आत्मा नहीं है, उसमें मोक्षमार्ग नहीं है। जो कोई शुभाशुभभाव हैं उसमें आत्मा का अधिकार नहीं है, परन्तु आस्रव का अधिकार है, बन्ध का अधिकार है। उन विकारी भावों का स्वामीत्व आस्रव एवं बन्ध तत्त्वों का है, आत्मा के स्वभाव में उसका स्वामीत्व नहीं है, अतः उसमें आत्मा का अधिकार नहीं है। आत्मा का अदिकार तो शुद्ध चेतनापरिणाममें हैं। आघमपद्धति है वह उदयभावरूप है, और अध्यात्मपद्धति उपशम-

क्षायिक या सम्यक्क्षयोपशमरूप भआव है। पुण्य-पाप-आस्रव-बन्ध और अजीवकर्म ये पाँच तत्त्व आगमपद्धति में समाविष्ट है, और संवर-निर्जरा-मोक्ष तथा शुद्ध जीव ये चार तत्त्व अध्यात्मपद्धति में आते हैं। इस प्रकार दोनों पद्धति एकदूसरे से विलक्षण है। उसका स्वरूप पहिचान ले, तो भेदज्ञान हो जाय और मोक्षमार्ग प्रगट हो जाय; अर्थात् अपने भीतर अध्यात्म की परम्परा विकसित होने लगे और आगम की (कर्म की तथा अशुद्धता की परम्परा टूटने लगे। - इसका नाम धर्म। ऐसी अध्यात्मपद्धति की अर्थात् शुद्ध परिणामकी परम्परा) शुरूआत चौथे गुणस्थान से होती है। चौथे से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक अध्यात्मपद्धति है; परन्तु वहाँ जितनी अशुद्धता और कर्म से सम्बन्ध हैं उतनी आगमपद्धति है। वह सर्वथा छूट जाने पर संसार छूट जाता है और सिद्धदशा प्रगट होती है; वहाँ फिर पुद्गलकर्म के साथ सम्बन्ध ज़रा भी नहीं रहता, और संसार की अनादि की परम्परा का भी आत्यंतिक छेदन हो जाता है।

अज्ञानी तो आगमपद्धति को, अर्थात् विकार के तथा कर्म के सम्बन्ध को ही जीव का स्वरूप मानता है, जीव के शुद्धस्वरूप को वह जानता नहीं है, अतः उसे अध्यात्मपद्धति या आगमपद्धति दो में से किसी का भी ज्ञान नहीं है। उसे आगमपद्धति तो है परन्तु आगमपद्धति का ज्ञान उसे नहीं है; शुभराग इत्यादि आघमपद्धति को ही वह तो अध्यात्मपद्धति मान लेता है - यह बात आगे आयेगी। आगम तथा अध्यात्मपद्धति का वास्तविक ज्ञान सम्यग्ज्ञान को ही होता है।

संसार में आगम व अध्यात्मपद्धति दोनों त्रिकाल है, परन्तु व्यक्तिगतरूप से एक जीव को आगमपद्धति अनादि से है और अध्यात्मपद्धतिरूप साधकदशा असंख्य समय की होती है। कोई साधकदशा में ज्यादा से ज्यादा दीर्ध समय तक रहे तो भी वह असंख्यसमय ही होता है, इससे ज्यादा नहीं होता; और कोई जीव साधकदशा में कम से कम कालपर्यंत रहकर सिद्ध हो जाय तो भी उसे साधकदशा में असंख्य समय तो होता ही है। संसार में प्रत्येक जीव को ये सारे ही भाव होते ही हैं ऐशा नियम नहीं है; जिसे जो लागू पड़ता हो वह समझ लेना।

प्रकरण - ९

आगम एवं अध्यात्म दोनों पद्धतियों में अनन्तता; उस अनन्तता को जाननेवाले केवलज्ञान का दिव्य सामर्थ्य

अब आगम तथा अध्यात्म इन पद्धतियों में अनन्तता कही उससे सम्बन्धित विचार लिखते हैं -

`अनन्तता का स्वरूप दृष्टान्त द्वारा बता रहे है; जैसे, वटवृक्ष का एक बीज हाथ में लेकर, उसके ऊपर दीर्धदृष्टि से विचार करें तो उस वट के बीज में वटका एक वृक्ष है, भाविकाल में जैसा वृक्ष होनेवाला है वैसे विस्तारसहित उस बीजमें वास्तविक रूपमें विद्यमान-मौजूद है, अनेक शाखा-प्रशाखा-पत्र-पुष्प-फलयुक्त है, उसके प्रत्येक फल में ऐसे अनेक बीज है। इस प्रकार की अवस्था एक वट के बीज के सम्बन्ध में विचारें। और भी सूक्ष्मदृष्टि से देखें तो वट के उस वृक्ष में जो जो बीज है वह वट अंतर्गर्भित-वटवृक्ष से संयुक्त (ही) होते हैं। इस प्रकार एक वटमें अनेक अनेक बीज, और एक-एक बीज में एक-एक वटवृक्ष - इसका विचारकरें तो भाविनयप्रमाणसे न तो वटवृक्ष की मर्यादा पाई जाती है या न तो बीज की मर्यादा पाई जाती है। इसी प्रकार अनन्तता का स्वरूप जानना। उस अनन्तता के स्वरूप को केवलज्ञानीपुरुष भी अनन्त ही देखते हैं - जानते हैं - कहते हैं; अनन्त का दूसरा अन्त है ही नहीं जो ज्ञान में भासित हो। अतः अनन्तता अनन्तरूप ही प्रतिभासित होती है। इस प्रकार आगम तथा अद्यात्म की अनन्तता जानना।'

अनन्तता समझने के लिये यहाँ वृक्ष एवं बीज का दृष्टांत दिया है। वृक्ष तथा बीज की परम्परा अनादि की है, पहले वृक्ष या पहले बीज ? - तो परम्परा से दोनों अनादि के हैं। तथा सूक्ष्म विचार से देखने पर एक-एक बीज में भविष्य के अनन्ते वृक्षों की ताकत है। - इस प्रकार दोनों की परम्परा सोचने पर उसका पार पाय नहीं जा सकता है। उस प्रकार जीव में विकार की तथा कर्म की परम्परा अनादि से चली आ रही है, तथा शुद्धपर्याय प्रवाह भी जगत में अनादि से चल ही रहा है। पहले सिद्ध या पहले संसारी ? तो दोनों अनादि से है; पहले विकार या पहले कर्म ? - तो दोनों की परम्परा अनादि से है। पहले द्रव्य या पर्याय ? पहले सामान्य या विशेष ? - तो दोनों अनादि के हैं, पहलापन या पश्चात्पना उसमें नहीं है। यदि `द्रव्य की पहली पर्याय यह' ऐसा कहो तो वहाँ द्रव्य को ही आदि हो जाता है, द्रव्य अनादि नहीं रहता; उसी प्रकार `द्रव्य की अंतिम पर्याय यह' - ऐसा कहो तो वहाँ द्रव्य का ही अन्त हो जाता है, द्रव्य अनन्त नहीं रहता। एक-एक पर्याय आदि-अन्तवाली भले हो, परन्तु पर्याय के प्रवाह को आदि-अन्त नहीं है, अतः द्रव्य की पर्याय में यह पहली और यह अन्तिम - ऐसा आदि-अन्तपना नहीं है। द्रव्य में पर्याय का प्रवाह पहले नहीं था और बाद में शुरू हुआ, अथवा वह प्रवाह कभी रुक जायेगा - ऐसा नहीं है। जैसे द्रव्य अनादि-अनन्त है वैसे उसके साथ उसकी पर्याय का प्रवाह भी अनादि-अनन्त प्रवर्तित हो ही रहा है, और केवलज्ञान में सब कुछ जानने में आ ही रहा है। देखो तो सही, इस जगत की वस्तुस्थिति ! अनादि को अनादिरूप से तथा अनन्त को अनन्तारूप में जैसा है वैसा केवलीभगवान विकल्प बिना जानते हैं।

प्रश्न : पहली पर्याय कौन-सी तथा अन्तिम पर्याय कौन-सी - यह बात भगवान भी नहीं जानते ?

उत्तर :- भगवान वस्तुजैसी हो वैसी जाने, या उससे विपरीत जाने ? जो `अनादि' है, जिसका `आदि' है ही नहीं फिर भगवान उसका `आदि' कहाँ से जानेंगे ? और जो अनन्त है उसका `अन्त' है ही नहीं फिर भगवान उसका

अन्त कहाँ से जानेगे ? यदि भगवान उसका आधि एवं अन्त जाने तो अनादि-अनन्तपना रहा ? भाई ! यह तो स्वभाव का अचिंत्य विषय है। अहो, अनन्ता जिसज्ञान में समागई उस ज्ञान की दिव्य अनन्तता लक्ष में लेने पर ज्ञान उसमें ही (- ज्ञानस्वभाव की अनन्तमहिमा में ही) डूब जाता है, अतः ज्ञान स्थिर हो जाता है - निर्विकल्प हो जाता है।

प्रश्न :- यदि अनन्तता की सीमा भगवान भी न जाने तो तो उसका ज्ञानसमार्थ्य मर्यादित हो गया न ?

उत्तर :- नहीं, भगवान यदि अनन्त को अनन्तारूप भी न जाने तो उनका ज्ञान-सामर्थ्य मर्यादित कहा जायेगा; परन्तु भगवान तो केवलज्ञान के अमर्यादित सामर्थ्य द्वारा अनन्त को भी अनन्त के रुप में प्रत्यक्ष जानते हैं। भगवान उसका अन्त जान नहीं पाये इस वज़ह से उसे अनन्त कह दिया - ऐसा नहीं है। भगवानने अनन्त को अनन्तारूप जाना इसलिये उसे अनन्त कहा। अनन्त को भी सर्वज्ञ भगवान जानते हैं, यदि न जाने तो 'सर्वज्ञ' कैसे कहे जायेंगे ?

प्रश्न :- यदि भगवान अनन्त को जानते हैं तो भगवान के ज्ञान में उसका अन्त आ गया या नहीं ?

उत्तर :- नहीं; भगवानने अनन्त को अनन्तरूप जाना है, अनन्त को अन्तयुक्तता के रुप में नहीं जाना। भगवान अनन्त को नहीं जानते हैं - ऐसा भी नहीं है, तथा भगवान के जान लेने से उसका अन्त आ जाता है ऐसा भी नहीं है; अनन्त अनन्तरूप में रहते हुए भगवान के ज्ञान में ज्ञात होता है। यदि अनन्त को अन्तरूप जाने तो वह ज्ञान झूठा; और यदि 'अनन्त' को जान ले, तो वह ज्ञान पूर्ण नहीं।

प्रश्न :- जो अनन्त है वह ज्ञान में किस प्रकार ज्ञात होता होगा ?

उत्तर :- भाई ! पदार्थ की अनन्ता के मुकाबले ज्ञानसामर्थ्य की अनन्तता बहुत महान है, अतः बेहद ज्ञानसामर्थ्य अनन्त का भी पार पा लेता है। ज्ञान का अचिंत्य सामर्थ्य लक्ष में आये तो ही यह बात जमे ऐसी है। विकार में रूका हुआ ज्ञान मर्यादित है और अनन्त का पार नहीं पा सकता, परन्तु विकाररहित

के ज्ञान में तो बेहद, अचिंत्य ताक़त है, वह अनादि-अनन्तकाल को, अनन्तानन्त आकाश प्रदेशों को उन सभी को साक्षात् जान लेता है। अरे, उससे भी अनन्तगुना सामर्थ्य उसमें खिल गया है।

प्रश्न :- यहाँ वृक्ष तथा बीज के दृष्टान्त से विकार तथा कर्म - इन दोनों की परम्परा भी अनन्त कही, तो फिर विकार का नाश होकर मोक्ष कब हो?

उत्तर :- वृक्ष तथा बीज की परम्परा सामान्यरूप से अनन्त है, परन्तु इसके कारण कोई ऐसा नियम नहीं है कि सभी बीजों में से वृक्ष उगेगा ही, बहुत सारे बीज उगने से पूर्व ही जल जाते हैं, और उसका वृक्ष-बीज की परम्परा का अन्त आ जाता है। एकबार जो बीज जल गया वह फिर से कभी उगता नहीं है। वैसे जगत में सामान्यतया विकार तथा कर्म की परम्परा अनन्त है, उसका जगत में से कभी अभाव होनेवाला नहीं है, परन्तु उसके कारण सभी ही जीवों को ऐसी विकारी परम्परा चलती ही रहै ऐसा कोई नियम नहीं है; बहुत से जीव पुरुषार्थ द्वारा विकार की परम्परा को तोड़कर सिद्धपद प्राप्त करते हैं; उनको विकार की परम्परा का अन्त आ जाता है। जिसने एकबार विकार के बीज को जला दिया, उसे दुबारा कभी विकार होता नहीं है। इस तरह विकार की परम्परा टूट सकती है।

प्रश्न :- विकार की परम्परा तो अनादि की है, फिर उसका अन्त कैसे आ जाय ?

उत्तर :- परम्परा अनादि से हो इसलिये उसका अन्त न आये - ऐसे नहीं है। जैसे वृक्ष-बीज की परम्परा अनादि की होते हुए भी कोई एक बीज जल जाने पर उसकी परम्परा का अन्त आ जाता है, वैसे विकार की परम्परा अनादि की होने के बावजूद भी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र द्वारा धर्मी जीव को उसका अन्त आ जाता है। जिस प्रकार मोक्षमार्ग (जीव को) अनादि से नहीं होने के बावजूद भी उसकी नयी शुरुआत हो सकती है, उस प्रकार विकार अनादि का होते हुए भी उसका अन्त हो सकता है।

प्रश्न :- आगम व अध्यात्म (अर्थात् विकार तथा शुद्धता) दोनों में अनन्तता

कही, सो किस प्रकार ?

उत्तर :- विकार में अनन्त प्रकार है तथा उसके निमित्तरूप कर्म में अनंतानंत परमाणु है - इस प्रकार आगमपद्धति में अनन्तता है; और जीव के अनन्तगुणों की अनन्त निर्मल पर्यायें हैं, एक-एक निर्मल पर्याय अनन्ते भावों से और अनन्ते सामर्थ्य से भरी हुई है, ज्ञान की एक छोटी पर्याय में भी अनन्ते अविभाग प्रतिच्छेदअंशो का सामथ्य है। - इस प्रकार अध्यात्मपद्धति में भी अनन्ता जानना। एक-एक आत्मा में अनन्त गुण हैं, एक-एक गुण में अनन्त निर्मलपर्यायें खिलने की ताक़त पड़ी है, और एक-एक निर्मल पर्याय अनन्त सामर्थ्य सहित है। तेरे एक आत्मा में कितना अनन्त सामर्थ्य है - उसका लक्ष कर तो स्वसन्मुखवृत्ति हो और अपूर्व अध्यात्मदशा प्रगट हो। एक तरफ विकार की धारा अनादि की और दूसरी तरफ स्वभावसामर्थ्य की धारा भी अनादि की साथ ही साथ चल ही रही है, विकार की धारा के समय भी स्वभावसामर्थ्य की धारा कोई टूट नहीं गई है - स्वभावसामर्थ्य का कोई अभाव नहीं हुआ; परिणति जहाँ स्वभावसामर्थ्य की तरफ झुकी वहाँ विकार की परम्परा का प्रवाह टूटा और अध्यात्मपरिणति की परम्परा शुरू हुई, जो पूर्ण होकर सादिअनन्तकाल तक बनी रहेगी। इसलिये है भाई ! अन्तर्मुख होकर अपने स्वभावसामर्थ्य को विचार में ले... लक्षमें ले... प्रतीति में ले... अनुभव में ले। लोगों को बाहर में तो विश्वास आ जाता है कि एक बीजमें से इतना बड़ा दस मील विस्तारवाला वट फूला-फला, परन्तुचैतन्यशक्ति के एक बीजमें से अनन्तेकेवलज्ञानरूपी वटवृक्ष फलने की ताक़त है, उसका विश्वास नहीं आता। यदि चैतन्यसामर्थ्य का विश्वास करे, तो उसके आश्रय से रत्नत्रय धम्म की अनेक शाखा-उपशाखा प्रगट होकर मोक्षफलसहित बड़ा वृक्ष उग जाय। भविष्य में होनेवाले बड़े वृक्ष की ताक़त अभी तेरे चैतन्यबीज में विद्यमान पड़ी है - सूक्ष्मदृष्टि से उसे विचार में लेकर अनुभव करने से अपूर्व कल्याण होगा।

प्रकरण - १०

आगम-अध्यात्मपद्धति के ज्ञाता कौन ?
आत्माश्रित अद्यात्मपद्धति वह मोक्षमार्ग;
पुद्गलाश्रित आगमपद्धति वह बन्धमार्ग।

अब, आगम व अध्यात्मपद्धति इन दोनों में जो अनन्ता कही उससे सम्बन्धित थोड़ी विशेष स्पष्टता कर रहे हैं, और उसका स्वरूप जाननेवाले कौन है यह बताते हैं :

इस प्रकार आगम-अघ्यात्म की अनन्तता जानना; उसमें विशेष इथना कि अध्यात्म कास्वरूप अनन्त है और आगम का स्वरूप अनन्तानन्तरूप है; क्योंकि यथार्थ प्रमाण से अध्यात्म एक द्रव्याश्रित और आगम अनन्तानन्त पुद्गलद्रव्याश्रित है। इन दोनों का स्वरूप सर्वथा प्रकार से तो केवलज्ञानगोचर है तथा अंशमात्र मतिश्रुतज्ञान ग्राह्य है। अतः सर्वथा प्रकार से आघमीअध्यात्मी (आगम-अद्यात्म के ज्ञाता) तो केवलज्ञानी है, अंशमात्र ज्ञाता मतिश्रुतज्ञानी है और देशमात्र ज्ञाता अवधिज्ञानी-मनःपर्ययज्ञानी है। ये तीनों (संपूर्णज्ञाता, अंशमात्र, देशज्ञाता) यथावस्थित ज्ञानप्रमाण न्यूनाधिकरूप जानना।'

अध्यात्मपद्धति में एक शुद्धात्मा का ही आश्रय है, फिर भी उसमें भी अनन्ता गुणों के निर्मल परिणाम हैं, और एक एक निर्मल परिणाम में अनन्त सामर्थ्य है; अतः अद्यात्म पद्धति में अनन्ता है। आगमपद्धति में विकार परिणाम के अनन्त

प्रकार, और उसमें निमित्तरूप कर्म के भी अनन्त प्रकार, उस कर्म में अनन्तानन्त पुद्‌गलपरमाणु; इस प्रकार अनन्तानन्त पुद्‌गल द्रव्यों के आश्रित होने के कारण आगमपद्धति अनन्तानन्तरूप है। इन दोनों के अन्त प्रकारों का पूर्ण ज्ञान तो केवलज्ञानी को है। जीवों के शुद्ध-अशुद्ध परिणामों में सूक्ष्म प्रकार इतने ज्यादा अनन्ते हैं कि उसका स्वरूप पूरा-पूरा तो केवलज्ञानी ही जान सकते हैं। और केवली अनुसार सामान्यरूप से इन दोनों पद्धति का ज्ञान मतिश्रुतज्ञानी को आंशिकरूप में होता है। अनन्ता प्रकार हैं, उन सभी को कोई छद्मस्थ तो पूर्णतया जान नहीं सकते, परन्तु कौन से भाव स्वभाव-आश्रित है, कौनसे भाव पराश्रित है; कौन से भाव मोक्षमार्ग का कारण है, कौनसे भाव बन्ध का कारण है, कौनसे भाव से धर्म है, कौन से भाव से धर्म नहीं है - ऐसा प्रजोयनभूत ज्ञान सम्यग्दृष्टि को मतिश्रुतज्ञान द्वारा भी होता है। वह ज्ञान भले कर्म है, परन्तु है तो केवलज्ञान अनुसार ही। `यह वचनिका केवली वचन अनुसार है' ऐसा `पन्डि बनारसीदासजी' स्वयं ही इस वचनिका के अन्त में कहेंगे। अनन्त प्रकार के शुद्ध-अशुद्ध भावोंमें से अपने हित-अहित का पृथक्करण कर ले ऐसी ताक़त मतिश्रुतज्ञान में है; और अवधिज्ञान तथा मनःपर्ययज्ञान द्वारा भी उन भावों के एकदेश का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। इस प्रकार आगम-अध्यात्म दोनों पद्धति के अनन्त प्रकारों को केवलज्ञानी संपूर्णतया जानते हैं, मतिश्रुतज्ञानी उसके अंश को जानते हैं, तथा अवधि-मनःपर्ययज्ञानी भी उसके एक भाग को जानते हैं। येसारे ज्ञान यथावस्थित जाननेवाले हैं; उस यथावस्थि ज्ञान में भी न्यूनाधिकपना जानना। केवलज्ञान तो सभी का समान होता है, उसमें किसी के न्यूनाधिकपना नहीं होता, परन्तु मति-श्रुतज्ञान में या अवधि-मनःपर्ययज्ञान में हीनाधिकता के अनेक प्रकार बनते हैं। इन ज्ञानों द्वारा अपनी कम-ज्यादा शक्ति के अनुपात में आगम-अध्यात्म के प्रकारों को सम्यग्दृष्टि-ज्ञाता जानते हैं, और उस ज्ञान के बल से वे शुद्ध-अध्यात्म पद्धति की साधना करते हैं।

शुद्धचेतनारूप अध्यात्मपद्धति वह मोक्षमार्ग है, वह अपूर्व है, पूर्व में कभी नहीं था वैसा वह भाव है। जगत में तो उस भाववाले जीव अनादि से होते चले

आयें हैं, परन्तु इस जीव के लिये वह भाव नया है इसलिये अपूर्व है। आगमपद्धतिरूप शुभाशुभभाव तो जीव अनादि से करता आया है, उसमें कोई नवीनता या अपूर्वता नहीं है; और वह धर्म का कारण नहीं है; शुद्ध चेतनापद्धति ही धर्म का कारण है, वह आत्मस्वभाव के आश्रय से है। विकार तो अनन्तानन्त पुद्‌गल के आश्रय से है और धर्म आत्मस्वभाव के आश्रय से है। - ऐसा कहकर मोक्षमार्ग तथा बन्धमार्ग दोनों कीजाति स्पष्ट भिन्न बताई है; मोक्षमार्ग आत्मा के आश्रित है और बन्धमार्ग पुद्‌गल के आश्रित है।

प्रश्न :- बन्धभाव करता है तो आत्मा, फिर भी उन्हें पुद्‌गलाश्रित क्यों कहा?

उत्तर :- जीव यदि निजस्वभाव का आश्रय करके परिणमित हो, तो बन्धभाव की उत्पत्ति न हो। स्वभाव के बाहर पर का आश्रय करे तो ही बन्धभाव की उत्पत्ति होती है; और उस बन्धभाव में निमित्तरूप अनन्त परमाणुरूप कर्म है, अतः उनको पुद्‌गल-आश्रित कहकर, आत्मा के स्वभाव से उनकी भिन्नता समझायी है। परन्तु इसका आशय ऐसा नहीं है कि कोई कर्म उन्हें कराते हैं। कर्ता होकर उसरूप परिणमित होता है जीव स्वयं, परन्तु वह परिणमन स्वभाव की तरफ का नहीं है, पुद्‌गल तरफ का है, अतः उसे पुद्‌गल-आश्रित कहा है। उसके आश्रय से धर्म या मोक्षमार्ग नहीं है। शुभ को जो मोक्ष का साधन मानताहै उसके मत में मोक्षमार्ग पुद्‌गलाश्रित ही हो जाता है क्योंकि शुभभाव तो पुद्लाश्रित है, वह कोई स्वभाव के आश्रित नहीं है। मोक्षमार्ग आत्मस्वभाव के आश्रित है। पुद्‌गल-आश्रित जो भाव हो वह मोक्षमार्ग का कारण हो सकता नहीं है। धर्म अध्यात्म पद्धतिरूप है, अध्यात्मपद्धति अर्थात् शुद्धपरिणाम, वह आत्मा के स्वभाव के आश्रय से है, पर का आश्रय उसमें ज़रा भी नहीं है। वाह ! कितनी स्पष्ट बात है ! मोक्षमार्ग कैसा स्पष्ट व स्वाधीन है ! अरे, ऐसे स्पष्ट मार्ग को भूलकर जीव बाहर में कहीं न कहीं उलझ जाता है। यहाँ पर वह मार्ग सन्तोने खुला करके जगत के समक्ष रखा है।

अध्यात्मपद्धति में अर्थात् शुद्धपर्यायरूप मोक्षमार्ग में तो स्वद्रव्य का एख अकेला ही आश्रय है, और बन्धभावरूप आगमपद्धति में अनंतानंत परमाणु निमित्त हैं।

एक अकेला पृथक् परमाणु जीव को बन्ध में निमित्त नहीं बनता, अनंतानंत पुद्गल इकट्ठे हो तब ही बन्ध में निमित्तभूत हो सकते हैं; कम से कम स्थिति अनुभावगवाला कर्म हो उसमें भी पुद्गल अनंतानंत होते हैं। ऐसे अनंतानंत पुद्गल और उसके आश्रय से हो रहे अनन्त प्रकार के विकार, उसकी परम्परा को आगमरूप कर्मपद्धति कहते हैं।

अभव्य को या मिथ्यादृष्टि को सदैव ऐसी आगमरूप कर्मपद्धति ही है; अध्यात्मरूप शुद्धचेतनापद्धति उसे कभी प्रगट नहीं होती और आगमपद्धति उसके कभी छूटती नहीं है, क्योंकि वह स्वभाव का आश्रय कभी करता नहीं है और कर्म का आश्रय कभी छोड़ता नहीं है। धर्मी को स्वभाव के आश्रय से अध्यात्मपद्धति प्रगट होने पर आगमपद्धति (विकार की परम्परा) छूटने लगती है। अज्ञानी ऐसे शुद्धभाव को पहिचानता तक नहीं है। और विकार की पद्धति क्या है, विकार की रीति क्या है उसका भी उसे सही ज्ञान नहीं है, वह तो पर से विकार का होना मानता है अथवा शुभरागरूप विकार की पद्धति को धर्म की पद्धति मान लेता है। इस प्रकार उसे एक भी पद्धति का ज्ञान नहीं है - यह बात अब कह रहे हैं।

प्रकरण - ११

अज्ञानी जीव अनुभवहीन होने की वजह से मोक्षमार्ग की साधना कर सकता नहीं है।

`मिथ्यादृष्टि जीव न आगमी है, न अध्यात्मी है। - क्यों ? क्योंकि वह कथनमात्र तो ग्रन्थपाठ के बल द्वारा आगम-अध्यात्म का स्वरूप उपदेशमात्र कहता है, परन्तु आगम-अध्यात्म के स्वरूप को सम्यक् प्रकार से जानता नहीं है; अतः मूढजीव आगमी भी नहीं है, या अध्यात्मी भी नहीं है। यथा - `निर्वेदकत्वात् (अर्थात् उसे उस भाव का वेदन है।)''

अनुभवरहित का ज्ञान-जानपना उसे वास्तव में ज्ञान कहते ही नहीं है। शास्त्र की जानकारी भले कर ली हो, विकार एवं स्वभाव भिन्न है - ऐसा शास्त्र से भले जान लिया परन्तु जब तक स्वयं अपने अन्तर अनुभव में वैसी भिन्नता का अनुभव न करे तब तक उसे सम्यक्ज्ञान कहते नहीं है, इसलिये मिथ्यादृष्टि को आगमपद्धति या अध्यात्मपद्धति दो में से एक का भी ज्ञान नहीं है, अतः वह न तो आगमी है, न अध्यात्मी।

अज्ञान आगम-अध्यात्म का जानकार क्यों नहीं है ? - तो कहा कि वह निर्वेदक है इसलिये; अर्थात् शास्त्रादि से जैसा जानपना है उस प्रकार का वेदन वह कर नहीं रहा; `आत्मा का शुद्ध स्वभाव है और बन्धभाव उससे भिन्न है' - ऐसा शास्त्र से जानता है परन्तु खुद अफने ज्ञान में ऐसे बन्धरहित शुद्ध स्वभाव का वेदन करता नहीं है अतः वह निर्वेदक है। अनुभव बिना का ज्ञान सम्यक् नहीं है। अनुभव बगैर का कोरा जानपना किस कामका ? - हालाँ

कि सूक्ष्मदृष्टि से तो उसका जानपना भी भूलवाला है। स्वसंवेदनरूप भेदज्ञान के बिना सच्चा ज्ञान नहीं होता। ज्ञानी को कभी भाषा न हो - शास्त्रपाठ न हो फिर भी अन्दर अनुभव में सच्चे भावभासनपूर्वक उसे सम्यक्ज्ञान परिणमित हो रहा है, और वह मोक्षमार्ग की साधना कर रहा है। अज्ञानी को कदाचित् शास्त्रज्ञान भले हो, परन्तु अनुभवमें जीवादि तत्त्वों का सच्चा भावभासन नहीं है अतः वह मोक्षमार्ग की साधना-प्राप्ति के बारे में जानता नहीं है; वह तो बन्धपद्धति को ही भ्रम से मोक्ष का साधन मानकर सिद्ध कर रहा है। इस प्रकार अज्ञानी आगमी या अध्यात्मी नहीं है।

प्रश्न :- अज्ञानी को अध्यात्मपद्धति नहीं है इसलिये उसे `अध्यात्मी' भले न कहो, परन्तु आगमपद्धति अर्थात् विकार एवं कर्म की परम्परा तो उस अज्ञानी को बहुत है, फिर भी उसे `आगमी' भी क्यों नहीं कहा ?

उत्तर :- मिथ्यादृष्टि के विकार तो है अर्थात् आगमपद्धति तो है - यह तो ठिक परन्तु आगमपद्धति का ज्ञान उसे नहीं है; विकार को वह विकाररूप जानता नहीं है इसलिये उसे `आगमी' नहीं कहा। यहाँ `आगमी' अर्थात् `आगमपद्धतिवाला' ऐसा अर्थ नहीं है, परन्तु आगमी अर्थात् `आगमपद्धति का ज्ञाता' ऐसा अर्थ होता है। अज्ञानी आगमपद्धति को भी पहिचानता नहीं है। विकार स्वयंकरता है, और कर्म उसमें निमित्त है, वह कर्म कोई विकार करवाता नहीं है; फिर भी अज्ञानी अपने दोष का उत्पादक परद्रव्य को मानता है। अपने गुण-दोष का उत्पादक परद्रव्य को मानना यह तो भारी अनीति है। प्रत्येक वस्तु एवं उसके परिणाम पर से निरपेक्ष और स्वयं से सापेक्ष है - ऐसा अनेकान्त है; ऐसा वस्तुस्वरूप समझे तो अपने गुण-दोष पर केकारण न माने, इसलिये एकताबुद्धिपूर्वक परमें राग-द्वेष नहीं होता। वह जीव भेदज्ञान द्वारा पर से पृथक् होकर पर से निरपेक्ष होकर स्व की तरफ झुकता है और स्वापेक्षपने से अर्थात् स्वाश्रय द्वारा मोक्षमार्ग प्रगट करता है। पुद्गल के परिणाम भी उसके अपने से सापेक्ष हौ और अन्य से निरपेक्ष है। जगत के सभी पदार्थों को तथा उनकी पर्यायों को परमार्थ से स्व से सापेक्षपना तथा पर से निरपेक्षपना है, क्योंकि

वस्तु की शक्तियाँ पर की अपेक्षा रखती नहीं है; पर्याय भी वस्तु की अपनी उस प्रकार की शक्ति है, वह भी वास्तव में पर की अपेक्षा रखती नहीं है। ऐसे वस्तुस्वभाव को अज्ञानी जानता नहीं है, अतः वह आगमी भी नहीं है और अध्यात्मी भी नहीं है; और वह मोक्षमार्ग को सिद्ध कर सकता नहीं है।

इस प्रकार धर्मी-सम्यग्दृष्टि जीव आगम-अध्यात्म के ज्ञाता है और वे मोक्षमार्ग को सिद्ध करते हैं; और अज्ञानी जीव आगमअध्यात्म के स्वरूप को जानता नहीं है अतः वह मोक्षमार्ग को सिद्ध कर नहीं पाता। ज्ञानी तथा अज्ञानी की यह विशेषता है।

प्रकरण - ११

अज्ञानी एवं ज्ञानी को बीच का मूलभूत तफावत ज्ञानी आत्माश्रित अध्यात्मक्रिया द्वारा मोक्षमार्ग को साधता है। अज्ञानी उस क्रिया को जानता नहीं है और बाह्यक्रिया को मोक्षमार्ग मानता है।

अब मूढजीव तथा ज्ञानीजीव - इन दोनों का तफावत अभी और सुनो -

'ज्ञाता तो मोक्षमार्ग को सिद्ध करना जानता है; मूढ मोक्षमार्ग को सिद्ध करना नहीं जानता। क्यों ? यह सुनो : मूढ जीव आगमपद्धति को व्यवहार कहता है और अध्यात्मपद्धति को निश्चय कहता है; अतः वह एकतारूप से आगमअंग को साधकर उसे मोक्षमार्ग दिखलाता है, अध्यात्मअंग के व्यवहार को जानता नहीं है। यह मूढदृष्टि का स्वभाव है। उसे उस प्रकार से सूझेगा ही कहाँ से ? क्योंकि आगम-अंग बाह्यक्रियारूप प्रत्यक्षप्रमाण है, उसके स्वरूप की साधना सुगम है; उन बाह्यक्रियाओं को करता हुआ वह मूढ जीव अपने को मोक्षमार्ग का अधिकारी समझता है, परन्तु अंतर्गर्भित जो अध्यात्मरूप क्रिया वह अंतर्दृष्टिग्राह्य है, उस क्रिया को मूढ जीव जानता नहीं है। अन्तर्दृष्टि के अभाव से अन्तरक्रिया दृष्टिगोचर होती नहीं है। अतः मिथ्यादृष्टि जीव मोक्षमार्ग को साधने में असमर्थ है।'

देखो, इसमें मोक्षमार्ग की कितनी स्पष्टता की है ? मोक्षमार्ग तो अन्तर

के अनुभव की अध्यात्मक्रिया में है, उस क्रिया को अन्तर्दृष्टि द्वारा धर्मात्मा ही जानते हैं। मोक्षमार्ग की क्रिया क्या है वह बाहर की दृष्टि से जानने में नहीं आता। अज्ञानी शुभराग को तथा बाहर की क्रिया को ही देखता है, उसे ही वहव्यवहार कहता है और उसे ही मोक्षमार्ग मानता है, अन्तर के सच्चे मोक्षमार्ग की साधना वह नही जानता। बाहर की क्रिया में तथा शुभराग में कोई मोक्षमार्ग नहीं है। यहाँ तो `पन्डित श्री बनारसीदासजी' स्पष्ट कहते हैं कि बाह्यक्रिया करता हुआ मूढ जीव स्वयं को मोक्षमार्ग का अधिकारी मानता है। मात्र अशुद्धपरिणतिरूप आगमपद्धति को वह व्यवहार कहताहै, और अध्यात्मपद्धति के व्यवहार को अर्थात् शुद्धपरिणतिरूप व्यवहार को वह पहिचानता नहीं है। परन्तु भाई ! अशुद्धपरिणति वह कोई मोक्षमार्ग का व्यवहार नहीं है, वह तो अशुद्ध व्यवहार है। मोक्षमार्ग में तो मिश्ररूप व्यवहार कहा है अर्थात् कुछ शुद्धता और कुछ अशुद्धता - ऐसी मिश्रपरिणति मोक्षमार्ग में होती है, वह मोक्षमार्ग का व्यवहार है। ऐसे व्यवहार को अज्ञानी जानता नहीं है। अध्यात्मपद्धति (शुद्ध परिणति) वह निश्चय, और आगमपद्धति (अशुद्फपरिणति) वह व्यवहार - ऐसा अज्ञानी मानता है, और एकान्त आगमपद्धति को अर्थात् शुभराग को तथा बाह्यक्रिया को वह मोक्षमार्ग मानता है। परन्तु भाई ! निर्मलपरिणति भी व्यवहार है। जितनी शुद्ध परिणति उतना शुद्ध व्यवहार है, वह अध्यात्मपद्धति है, उसके बिना मोक्षमार्ग होता नहीं है। शुभराग की स्थूल क्रिया अज्ञानी को बाहर में दिखती है और उसकी बात जल्दी से समझ में भी आ जाती है, अतः उसको ही मोक्षमार्ग मान लेता है। बाहर की राग क्रिया में रुके हुए जीवों को अन्तर की शुद्धपर्यायरूप मोक्षमार्ग कहाँ से सूझे ? अन्तर्मुख अध्यात्मपद्धति और बहिर्मुख आगमपद्धति - इन दोनों की भिन्नता को, अर्थात् शुद्धता व अशुद्धता - इन दोनों की भिन्नता को जो पहिचानता नहीं है, मोक्षमार्ग व संसारमार्ग - इन दोनों की भिन्नता को जो पहिचानता नहीं है, वह मोक्षमार्ग को किस प्रकार साधेगा ? अध्यात्मपद्धति व आगमपद्धति इन दोनों की भिन्नता का जो ज्ञाता है वही मोक्षमार्ग को साधता है।

अभेदद्रव्य निश्चय है और उसकी शुद्धपर्याय व्यवहार है, शुद्ध परिणति वही

शुद्ध - आत्मव्यवहार है, ऐसे शुद्ध निश्चय - व्यवहार को अज्ञानी जानता नहीं है, और देहादि की क्रिया को या शुभराग को ही वह अपना व्यवहार मानता है, और उसे ही वह मोक्षमार्ग समझता है; ऐसे व्यवहार में (- राग में और देह की क्रिया में) मग्न जीव मोक्षमार्ग को कहाँ से साध सकेगा ? शुद्ध परिणतिरूप व्यवहार को तो जानता नहीं है और रागादि अशुद्धव्यवहार को मोक्ष का कारण मानता है - यह तो मूढता है। जो जीव मूढ होगा वही ऐसे अशुद्धभाव द्वारा अपने को मोक्षमार्ग का अदिकारी मानेगा - ऐसा करीब ४०० वर्ष पूर्व 'पंडित बनारसीदासजी' स्पष्ट लिखकर गये हैं, और परम्परा से तो संतजन अनादि से इस बात को समझाते चले आये हैं। भाई ! तुझे राग से अनादि का परिचय है इसलिये राग की बात तुझे सुगम लगती है, राग को कोई मोक्षमार्ग कहे, तो वह बात तुझे फटाक से बैठ जाती है, परन्तु मोक्षमार्ग ऐसा नहीं है। मोक्षमार्ग तो अध्यात्मपद्धतिरूप है। आत्मा के आश्रय से हो रही शुद्ध चेतना परिणति - वही मोक्षमार्ग है - उसके द्वारा ही मोक्ष सुगमतापूर्वक मिल सके ऐसा है अतः वही वास्तव में सुगम-सरल मार्ग है। इसके सिवा अन्य मार्ग से मोक्ष की प्राप्ति दुर्गम है - असंभव है। शुद्धरत्नत्रयरूप जो 'निश्चयमोक्षमार्ग' है उसे ही यहाँ आत्मा का 'शुद्ध व्यवहार' कहा है। 'प्रवचनसार' में भी 'शुद्धचेतनाविलासरूप आत्मव्यवहार' कहा है, वह निर्मलपर्याय की ही बात है। यहाँ उसे 'अध्यात्मपद्धति' कहकर परिचान कराई है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न अनेक शैली में भी मोक्षमार्ग की मूलधारा तो एकसमान ही चली आ रही है। 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' ऐसा कहा उसमें भी यही आशय है। सभी सन्तो द्वारा बताया हुआ मोक्षमार्ग का स्वरूप एकसमान ही है। - 'एक होय त्रनकालमां परमारथनो पंथ।' (श्रीमद् राजचंद्रजी ने कहा है - 'एक होता है तीनकाल में परमारथ का पंथ।')

प्रश्न :- यदि शुद्धपर्याय मोक्षमार्ग है, तो फिर पर्याय को अभूतार्थ कहकर छोड़ने के लिये क्यों कहते हो ?

उत्तर :- भाई, निर्मलपर्याय को छोड़ देने के लिये नहीं बोला है, परन्तु

उस पर्याय का भेद देखकर उसका आश्रय करने पर विकल्प होता है, उस विकल्प को छुड़ाने के लिये पर्यायभेद का आश्रय छुड़ाया है। पर्याय के भेद का आश्रय छुड़ाने के लिये तथा अभेदस्वभाव का आश्रय कराने के लिये पर्यायभेद को अभूतार्थ कहा है। जब भेद का आश्रय छोड़कर अन्तर्मुख अभेदस्वभाव का आश्रय करे तब पर्याय अंतर्स्वभाव में अभेदरूप से लीन होकर निर्विकल्प अनुभव करती है, तब पर्याय कोई छूट नहीं जाती है, पर्याय का आश्रय छूट जाता है, पर्यायभेद का विकल्प छूट जाता है। पर्याय को अभूतार्थ कहने पर कोई निर्मलपर्याय को ही सर्वथा छोड़ देने का समझ ले - तो वह बराबर नहीं है। 'समयसार' में भी 'आत्मा अप्रमत या प्रमत्त नहीं है' ऐसा कहकर पर्याय के भेद का आश्रय छुड़ाकर एकरूप ज्ञायकस्वभाव का अनुभव कराया है; उस स्वभाव के अनुभव में निर्मलपर्याय होती चली जाती है, इसका कोई निषेध नहीं है। सत् को सभी पहलूओं से जैसा है वैसा समझना चाहिए।

देखो, यह मुख्य मुद्दे की सुन्दर बात है; मोक्षमार्ग कैसे साधना इसकी यह बात है। मोक्षमार्ग की प्ररूपणा में अभी अनेक घोटाले चल रहे हैं। कोई कहता है कि शुभोपयोग ही मोक्षमार्ग है, छठेगुणस्थान तक शुद्धभाव या निश्चय सम्यक्त्व आदि होता ही नहीं है। अरे भाई ! शुभराग तो पुण्यबन्ध का कारण, वह मोक्षमार्ग का कारण कहाँ से हो जायेगा ? और निश्चय सम्यक्त्वसहित शुद्धभाव चौथे गुणस्थान से ही शुरु हो जाता है, उसके बिना मोक्षमार्ग या धर्म कहाँ से हो ? परन्तु बहिरात्मा जीव अन्तर के शुद्ध परिणाम को पहिचान सकते नहीं है। वे मात्र बाहर की स्थूलक्रिया को तथा स्थूल राग कोही देखनेवाले हैं। राग से पार चैतन्यस्वभाव की बात का उत्साह भी उन्हे आता नहीं है, और इससे विपरीत उसके प्रति अनादर-अरुचि होते है। - ऐसे विपरीतभाव के कारण अनादि से संसार की परम्परा उसको चल रही है, वह परम्परा कैसे छिदे और मोक्ष की परम्परा कैसे शुरु हो उसकी यह बात है। अन्तर के ऐसे मार्ग का आदर करके बारम्बार उसका घोलन करना चाहिए, उसका उत्साह लाना चाहिए।

अन्तरस्वभाव के अनुभव का कोई अपूर्व स्वाद है वह अज्ञानी के लक्ष में आता नहीं हैष राग से भिन्न कोई तत्त्व उन्हें दिखता ही नहीं है। जब कि अनेक सन्त और विद्वान धर्मात्मा पुकार पुकारकर कह गये हैं और वर्तमान में कह रहे हैं कि शुभराग है वह मोक्षमार्ग का नहीं है, नहीं है; और निमित्त इत्यादि परद्रव्य अकिंचित्कर है, - फिर भी, यह सुनने के बावजूद भी अपनी विद्वता के अनुचित अभिमान में कोई कहता है कि वह तो उन्होंने भावुकता के प्रवाह में खिंचकर कह दिया है, वास्तविक वस्तुस्वरूप ऐसा नहीं है। भाई ! उन सन्तों ने तथा विद्वान ज्ञानीजनोंने जो कहा है वह तो परम सत्य के प्रवाह में रहकर कहा है, तू असत् एवं द्वेष के प्रवाह में खिंचकर उनके ऊपर आक्षेप मत लगा, भाई ! तेरा यह भारी दुःसाहस है।

प्रश्न :- शास्त्र में अज्ञानी को 'मूढ़' कहा, तो वह द्वेष नहीं कहा जायेगा ?

उत्तर :- नहीं भाई ! उसमें द्वेष नहीं है परन्तु अज्ञानभाव कितना अहितकर है, यह समझाकर उससे छुड़ाने के लिये करुणा है। किसी के घर में काला नाग पड़ा हो, और उसे उसकी खबर न हो, वहाँ पर अन्य कोई सज्जन उसे उसके घरमें रहे काले नाग की भयंकरता बताये तो उसमें उसका हेतु क्या है ? कि वह व्यक्ति काले नाग की भयंकरता जानकर उसे अपने घरमें से बाहर निकालने का उपाय करे। वैसे आत्मस्वभाव से विपरीत अभिप्रायरूप कालासिया भयंकर नाग अज्ञानी के घरमें घुस गया है, अज्ञानी को उसकी खबर नहीं है और ऊपर से उसे हितकारी मानकर बैठा हुआ है; सन्त-ज्ञानी उससे कहते हैं कि अरर, मूढ़ा ऐसे भयंकर नाग के समान अहितकारी मिथ्याभाव का तू सेवन कर रहा है ! उस भाव को छोड़ ! - ऐसे मिथ्याभाव का सेवन तो मूढ़ता है। - अब ज़रा सोचो तो, कि यहाँ मूढ़ कहने में सामनेवाले के ऊपर द्वेष है या करुणा है ? अत्यंत अहितकारी मिथ्याभाव के सेवन से उसे बचाने के लिये करुणापूर्वक का यह उपदेश है। सर्वज्ञ के अतीन्द्रिय सुख को बहुत-बहुत प्रकार से समझाने के बावजूद जो जीव मानता नहीं है ऐसे जीव को, उसकी यह भूल कितनी ज्यादा बड़ी है यह समझाने के लिये

'कुन्दकुन्दाचार्य' जैसे वीतरागीसंत कहते हैं कि -

सुणी, घातिकर्मविहीननुं सुख, सौ सुखे उत्कृष्ट छे,
श्रद्धे न तेह अभव्य छे, ने भव्य ते संमत करे।

(प्रवचनसार गाथा ६२)

इसमें किसी व्यक्तिविशेष की बात नहीं है। यह तो सत्य की पुकार है। सर्वज्ञ का अतीन्द्रिय सुख बताकर आत्मा के सुखस्वभाव की ऐसी रससभर बात हम सुनाये, और उसे सुनने पर जिसे अन्तर के उमंगपूर्वक उत्साह न आयेयह जीव धर्म पाने के लायक नहीं है; मुमुक्षु को तो इस अतीन्द्रियसुख की बात कानमें पड़ते ही असंख्य प्रदेश से आत्मा रोमांचित होकर-उल्लसित होकर उछल पड़ता है। उनके इस कथन में भीतर के सत्स्वभाव का जोर है। अहा ! संतोने समझाने में कोई कसर नहीं छोडी है। सच्ची जिज्ञासापूर्वक, पात्र होकर समझना चाहे तो तो मार्ग एकदम स्पष्ट, सीधा व सरल है। जिसे समझना न हो और झगड़े करने हो उनसे क्या कहना ?!! उसका आत्मा उस प्रकार परिणमित हो रहा है उसमें दूसरा क्या करे ? वही जीव जब सुल्टा परिणमित होगा तब सत् को समझकर तीनलोक का नाथ होगा।

मोक्षमार्ग अन्तर के सूक्ष्म अध्यात्मभाव है, वे बाहर से नहीं दिखते। दो जीव होवे, दोनों बाहर में द्रव्यलिंगी दिगम्बर जैनमुनि हो, वस्त्र का धागा भी पास में न हो, मयूरपींछी व कमण्डल हो, शुभरागपूर्वक पंचमहाव्रत का पालन दोनों कर रहे हो, निर्दोष आहार-विहार कर रहे हो, शास्त्रानुसार उपदेश दे रहे हो, - दोनों मुनियों की इतनी क्रिया तो बाहर से अज्ञानी को भी दिखे; किन्तु अब ध्यान रखना ! उनमें से एक अन्तर में मिथ्यादृष्टि हो तथा दूसरा सम्यगदर्शन-ज्ञान-चारित्र सहित बिराजते हो। तो इनमें से पहलेवाले मुनि तो आगमपद्धति में वर्त रहे हैं, वे मोक्षमार्ग को साध नहीं रहे, और दूसरे मुनिराज अध्यात्मपद्धति में वर्तते हुए साक्षात् मोक्षमार्ग की साधना कर रहे हैं। दोनों की बाहर की क्रियाएँ करीब-करीब समान, परन्तु अन्दर के सूक्ष्म परिणाम में कितना फर्क है ! बाहर की क्रिया के समय अंतर्गर्भितपने से शुद्धभावरूप अद्यात्मक्रिया एक

के नहीं वर्तती, तथा दूसरे को वर्त रही है, अन्तर की यह अध्यात्मक्रिया वही सच्चा मोक्षमार्ग है, उसे अज्ञानी किस प्रकार पहिचानेगा ? वह तो दोनों को समान गिनकर बाहर की क्रिया को तथा पंचमहाव्रत के शुभराग को ही मोक्षमार्ग मानेगा। परन्तु भाई ! ज़रा अन्तर्दृष्टिपूर्वक देख। मोक्षमार्ग बाह्यक्रिया में या राग में नहीं है; मोक्षमार्ग तो अन्तर के शुद्धभावरूप रत्नत्रय में है। उसे पहिचान, तो ही तुझे मुनि की सच्ची पहिचान होगी और तो ही तुझे मुनिवरों के प्ति सच्ची भक्ति जागृत होगी। तथा मोक्षमार्ग को साधने की सच्ची पद्धति भी तब ही तुझे समझ में आयेगी। ऐसे ज्ञान के बिना मोक्षमार्ग की सिद्धि हो नहीं सकती। इस प्रकार अज्ञानी मोक्षमार्ग की साधना क्यों नहीं कर पाता यह बात की। अब सम्यग्दृष्टिज्ञाता किस प्रकार मोक्षमार्ग को साधते हैं यह कह रहे हैं।

न श्रद्धयति सौख्यं सुखेशु, परममिति विगतघातिनाम्।
श्रुत्वा ते अभव्या भव्या, वा तत्प्रतीच्छन्ति।।६२।।

प्रकरण - १३

सम्यग्दृष्टि का विचार स्वरूप की निःसंदेह अंतर्‌दृष्टि द्वारा मोक्षमार्ग साधते हैं

`सम्यग्दृष्टि कौन है यह सुनो। संशय, विमोह, विभ्रम ये तीन भाव जिसमें नहीं है वह सम्यग्दृष्टि है। संशय, विमोह, विभ्रंम माने क्या इसका स्वरूर दृष्टांत द्वारा दिखलाते हैं; सो सुनो : जैसे किसी एक स्थान में चार पुरुष खड़े हैं। दूसरे किसी पुरुष ने सीप का एक टूकड़ा उनके पास लाकर उन चारों को वह दिखाया, और प्रत्येक से प्रश्न किया, कि यह क्या है ? सीप है या चांदी है ?

- प्रथम एक पुरुष जो संशय दृष्टिवाला था वह बोला कि कुछ सूझ नहीं पड़ रही कि - यह सीप है या चांदी है ? मेरी दृष्टि में इसका कोई निर्धार नहीं हो रहा है।

- दूसरा विमोहवाला पुरुष बोलाकि मुझे यह कुछ समझ में नहीं आ रहा कि आप सीप किसे कह रहेहो, और चांदी किसे कह रहे हो ? मेरी दृष्टि में कुछ आ नहीं रहा इसलिये मैं नहीं जानता हूँ कि आप क्या कह रहे हो ? अथवा पागलपन के कारण या अजागृतपने के कारण वह चूप रहे, बोले नहीं।

- फिर तीसरा पुरुष विभ्रमवाला बोलाकि यह तो प्रत्यक्ष प्रमाण से चांदी ही है, इसे सीप कौन कहेगा ? मेरी दृष्टि में तो चांदी समझ आ रही है, इसलिये सर्वथा प्रकार से यह चांदी ही है।

- इन तीनों पुरुषोंने सीप का स्वरूप तो जाना नहीं, अतः तीनों मिथ्यावादी हैं।
- अब चौथा पुरुष बोला कि यह तो प्रत्यक्षप्रमाण सीपका टूकड़ा है, इसमें संशय कैसा ? सीप... सीप... सीप... निरधार सीप। यदि कोई इसे दूसरी वस्तु बताता है तो वह प्रत्यक्षप्रमाण भ्रमित अथवा अंध।
उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि को स्व-परद्रव्यरूप में नहीं है संशय, नहीं है, विमोह या नहीं है विभ्रम; यथार्थदृष्टि है। अतः सम्यग्दृष्टि जीव अंतर्दृष्टि से मोक्षपद्धति को साधना जानात है।'

जिसे आत्मस्वरूप में कोई संदेह नहीं है, निःशंकरूप से आत्मस्वरूप को जाना है - ऐसा सम्यग्दृष्टि ही मोक्षमार्ग को साधता है। स्वरूप के निर्णय में ही जिसे भूल है वह मोक्षमार्ग को साध नहीं सकता। यहाँ सीप एवं चांदी के दृष्टांत द्वारा यह बात समझायी है।

देह है वही आत्मा होगा यह देह से भिन्न कोई आत्मा होगा, आत्मा देह की क्रिया का कर्ता होगा या अकर्ता, पुण्यभाव है वह धर्म होगा या नहीं होगा - ऐसी जिसे शंका है, जरा-सा भी तत्त्वनिर्णय नहीं है, ऐसा संशयदृष्टिवाला मिथ्यादृष्टिजीव मोक्षमार्ग का साध नहीं सकता है। विकार एवं स्वभाव की भिन्नता का या जड़-चेतन की भिन्नता का सही विचार ही उसे उद्‌भव नहीं होता।

तथा, स्वभाव क्या, परभाव क्या, मोक्षमार्ग क्या, बन्धमार्ग क्या उसका दृढ़ निर्णय न करे और उसमें अनिश्चितता रहा करे कभी लगे कि वीतरागभाव ही मोक्षमार्ग होगा, और फिर जहाँ व्यवहार के पक्ष की बात सुने वहाँ ऐसा लगे कि शुभराग भी मोक्ष का साधन होगा - इस तरह अनिश्चितता बनी रहे तो

उसकी परिणतिस्वभाव की ओर ढलेगी किस प्रकार ? निःसंदेह, दृढ़ निर्णय के बिना परिणति अन्तर में झुके नहीं और मोक्षमार्ग को साध न सके। जैसे टूकड़ा सीप का हो या चांदी का, इसके दृढ़ निर्णय के बिना उसे छोड़ना या रखना - यह तय नहीं होता, वैसे स्वभाव क्या, और परभाव क्या, कौन-सा भाव मोक्षमार्ग और कौन-सा भाव बन्धमार्ग - इसका पक्का निर्णय किये बिना, कौन-सा भाव रखना और कौन-सा भाव छोड़ना अथवा कौन-से भाव की तरफ ढ़लना और कौन-से भाव से निवर्तित होना - यही निश्चित नहीं होता, इसलिये मोक्षमार्ग की साधना सम्भव नहीं हो पाती। यह जो शुभराग है वह छोड़ने लायक है या रखने लायक है - इसका निर्णय भी जो न कर सके उसकी परिणति राग से निवर्तित होकर स्वभाव की तरफ कैसे झुकेगी ? उसकी परिणति तो डावां-डोल, अस्थिर ही रहा करेगी। अतः चैतन्य में स्थिर हुए बिना वह मोक्षमार्ग की साधना कर नहीं सकता।

तथा तीसरा व्यक्ति जो कि विभ्रमितबुद्धि से सीप को ही चांदी समझकर अंगीकार कर रहा है उसे भी सीप को छोड़ने का तथा सच्ची चांदी को खोजने का अवकाश नहीं रहा; वैसे मूढ़ जीव मोहितबुद्धि से शुभरागादि परभाव को ही दृढ़तापूर्वक मोक्षमार्ग मान रहा है, इसलिये उसे भी राग छोड़ने का और वीतरागस्वभाव की तरफ ढ़लने का अवकाश नहीं रहा, अतः वह भी मोक्ष को साध नहीं सकता है। शुभराग मोक्ष कासाधन है - ऐसा विपरीत निर्णय करे वह जीव राग से हटकर वीतराग स्वभाव में कहाँ से आयेगा ? औ- राग के आधार से तो उसे मोक्षमार्ग कभी प्राप्त होनेवाला ही नहीं है।

इस प्रकार संशय, विमोह या विभ्रमवाले जीव मोक्षमार्ग को साध नहीं सकते हैं। यथार्थ वस्तु के दृढ़ निर्णयवाला जीव ही मोक्षमार्ग को साधता है।

चौथा पुरुष स्पष्ट जानता है कि यह तो निश्चितरूप से सीप ही है, यह चांदी नहीं है। वह चांदी एवं सीप दोनों के यथार्थ स्वरूप को पहिचानता है। हजार लोग सीप को चांदी कहे तो भी अपने सम्यक्निर्णय में उसे शंका नहीं होती। वैसे धर्मीजीव अपने चीदानन्द स्वरूप में निःशंक है। स्व-पर को तथा

स्वभाव और परभाव को ठीक प्रकार से भिन्न जानता है, अध्यात्मपद्धतिरूप शुभ परिणति ही मोक्षमार्ग है और आगमपद्धतिरूप विकारपरिणति मोक्षमार्ग नहीं है, वह बन्धमार्ग ही है - ऐसा वह दृढ़तापूर्वक जानता है, उसमें वह अत्यंत निःशंक और दृढ़ है; हजारों-लाखों लोग अन्यथा माने या कहे तो भी अफने सम्यक् निर्णय में उसे सन्देह नहीं होता, निर्णय में ज़रा भी मचक (ढीलापन) नहीं आता। अतः निःशंकतापूर्वक स्वभाव की और ढलकर वह मोक्षमार्ग को साधता है। कहीं पर निमित्त से या व्यवहार से शुभराग इत्यादि को धर्म का कारण कहा हो, तो भी धर्मी दुविधा में - उलझन में नहीं आ जाता, वह निःशंकतापूर्वक समझता हैकि वह तो मात्र उपचारकथन है, वास्तव में ऐसा नहीं है। राग है वह धर्म है ही नहीं। राग तो निश्चितरूप से विभाव... विभाव... और विभाव, वह मेरा स्वभाव नहीं, वह मोक्ष का साधन नहीं। यदि उसे कोई मोक्ष का साधन माने, तो अनिवार्यरूप से वह अज्ञानी है। ऐसे दृढ़ निर्णय के बल से वह निजस्वभाव को साधता है, स्वभाव-आश्रित मोक्षमार्ग को साधता है। इस प्रकार सम्यग्दृष्टि ज्ञाता अन्तरदृष्टि द्वारा मोक्षपद्धति को साध सकता है।

यह सम्यग्दृष्टि के विचार का वर्णन चल रहा है। सम्यग्दृष्टि तो निजस्वरूप के सम्यक् निर्णय के बल से अध्यात्मपद्धति से मोक्षमार्ग को साध सकता है, परन्तु मिथ्यादृष्टि तो भ्रम से आघमपद्धति को मोक्ष का साधन मानकर केवल आगम पद्धति (अशुद्धपरिणति) में ही वर्तता है अतः वह मोक्षमार्ग को साध नहीं सकता है, क्योंकि मोक्षमार्ग आगमपद्धति के आश्रित नहीं है। इस सम्बन्ध में अधिक स्पष्टीकरण करते हैं।

प्रकरण - १४

मोक्षमार्ग की रससभर बात
शुद्ध निश्चय-व्यवहार को समकिती ही जानता है।
अध्यात्मपद्धति से मोक्ष सधता है; बन्धपद्धति से मोक्ष नहीं सधता

'सम्यग्दृष्टि बाह्य भाव को बाह्यनिमित्तरूप मानता है; वे निमित्त अनेकरूप हैं, एकरूप नहीं है; अतः अन्तरदृष्टि के अनुपात में वह मोक्षमार्ग को साधता है, सम्यग्ज्ञान एवं स्वरूपाचरण की कणिका जागने पर मोक्षमार्ग सच्चा। मोक्षमार्ग को साधना वह व्यवहार, और शुद्ध द्रव्य अक्रियरूप वह निश्चय, - ऐसे निश्चय-व्यवहार का स्वरूप सम्यग्दृष्टि जानता है, मूढ़ जीव वह जानता नहीं है और मानता भी नहीं है। मूढ़ जीव बन्धपद्धति को साधता हुआ उसे मोक्षमार्ग कहता है परन्तु ज्ञाता इस बात को नहीं मानता। क्यों ? क्योंकि बन्ध को साधने से बन्ध सधता है परन्तु मोक्ष नहीं सधता।'

देखो, यह मोक्षमार्ग की कैसी रससभर बात ! धर्मी जीव किस प्रकार से मोक्षमार्ग को साधता है और अज्ञानी उसमें क्या भूल करता है यह बताया है। धर्मीजीव को संदेहरहित स्वानुभवपूर्वक दृढ़ निर्णय है कि ज्ञानस्वरूप ही मैंहूँ, मेरा मोक्षमार्ग मेरे ज्ञायकस्वरूप के आश्रय से ही है। त्रिकाली शुद्ध द्रव्य मेरा निश्चय और उसके आश्रय से प्रगट हुई शुद्धपर्याय मेरा व्यवहार; इसके अलावा रागादि परभाव मेरे से बाह्य। देखो, यहाँ व्यवहार कौन-सा लिया ?

- कि शुद्ध द्रव्य के आश्रय से निर्मल पर्याय द्वारा मोक्षमार्ग को साधना यह धर्मी का व्यवहार है। अज्ञानी को ऐसा व्यवहार होता नहीं है, और ऐसे व्यवहार को वह जानता भी नहीं है।

शुद्ध द्रव्य वह निश्चय और शुद्ध परिणति वह व्यवहार, ऐसा कहकर निश्चय-व्यवहार दोनों को एक ही वस्तु के अंगबताये, तथा रागादि अन्य भावों को व्यवहार नहीं कहा परन्तु 'निमित्त' कहकर उनको भिन्न बताया। इसमें बहुत सुन्दर बात है। यह व्यवहार अपने में है और निमित्त पर में है। निश्चय-व्यवहार दोनों एक प्रकार के - एक जाति के हैं, और परभावरूप निमित्त तो अनेक प्रकार के हैं। जिसमें बाह्य-द्रव्य निमित्त है, उसके आधार से कोई मोक्षमार्ग नहीं है, वैसे अन्दर का शुभरागभी बाह्यद्रव्य के माफिक ही निमित्त है, उसके आधार से मोक्षमार्ग नहीं है। मोक्षमार्ग से तो जैसे अन्य द्रव्य बाह्य (भिन्न) है, वैसे शुभराग भी बाह्य है, भिन्न है। अन्तर्दृष्टि द्वारा धर्मी जीव ऐसे मोक्षमार्ग को साधता है। स्वभाव की अन्तर्दृष्टिपूर्वक ही मोक्षमार्ग सधता है, उस अन्तर्दृष्टि के बिना मोक्षमार्ग सधता नहीं है।

ऐसी अन्तर्दृष्टि के बिना अज्ञानी शुभराग करे और उस व्यवहाररत्नत्रय आदि के शुभराग को ही मोक्षमार्ग मान ले, परन्तु वह कोई मोक्षमार्ग नहीं है, वह तो मात्र भ्रम है। सम्यग्दर्शन हो और स्वानुभव की कणिका जगे तब ही सच्चा मोक्षमार्ग। इसके बिना मोक्षमार्ग गलत, अर्थात् मोक्षमार्ग नहीं है। अरे ! सम्यग्दर्शन और स्वानुभव के बिना, अकेले शुभराग को मोक्षमार्ग मानना वह तो वीतराग जैनधर्म की विराधना है। जिनभगवानने ऐसा मोक्षमार्ग कहा नहीं है। जिनभगवानने तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को मोक्षमार्गकहा है - जो कि स्वानुभवपूर्वक ही होता है। स्वरूपाचरणचारित्र भी चौथे गुणस्थान में स्वानुभवपूर्वक ही प्रगट होता है। स्वानुभव के बिना शुभराग करते करते मोक्षमार्ग प्रगट हो जाय ऐसा कभी बनता नहीं है। यहाँ तो कहते है कि वह शुभराग बाह्य निमित्तरूप है, औ- वह भी किसको ? - कि अन्तर्दृष्टिपूर्वक जो मोक्षमार्ग कोसाधता है उसे वह शुभभाव बाह्य निमित्त है, अज्ञानी को तो वह मोक्षमार्ग का निमित्त भी नहीं है। उपादान

में ही वह मोक्षमार्ग को नहीं रहा तो फिर उसे मोक्षमार्ग का निमित्त कैसे हो जायेगा ? अध्यात्मपद्धति ही उसे नहीं है, अकेली बन्धपद्धति में ही वह राच रहा है।

मोक्षमार्ग में बीच में शुभराग को निमित्तरूप कहा, वह शुभराग सभी मोक्षमार्गी को एक ही प्रकार का हो - ऐसा नहीं है, उसमें अनेक प्रकार होते हैं। स्वभाव के परिणाम एकसमान हो परन्तु विकार के परिणाम स्व को एक समान नहीं होते। द्रव्यस्वभाव त्रिकाल एक समान है; अखंड-अक्रिय-शुद्ध द्रव्य वह निश्चय, और उसके आश्रय से मोक्षमार्ग को साधना वह व्यवहार। मोक्षमार्ग अर्थात् निश्चयरत्नत्रयपरिणति, वह धर्मी का व्यवहार है। और जो व्यवहाररत्नत्रय (शुभरागरूप) है वह बाह्यनिमित्तरूप है। यहाँ पर मोक्षमार्गपर्याय को व्यवहार कहा, यह मोक्षमार्गकोई रागवाला तो है नहीं; व्यवहाररत्नत्रय रागरूप है वह बन्धपद्धति में है, और निश्चय रत्नत्रय मोक्षमार्ग पद्धतिमें है। मोक्षमार्ग का एवं निश्चय-व्यवहार का ऐसा स्वरूप सम्यग्दृष्टि जानता है; मूढ़-अज्ञानी को उसका पता नहीं लगता, और यदि सुनने में आये, तो भी उसे वह बात बैठती नहीं है; वह तो बन्धपद्धति को (राग को) साधता हुआ उसे ही मोक्षमार्ग मानता है। परन्तु ज्ञानी वह बात मानता नहीं है। भाई ! राग तो बन्धभाव है, उसके द्वारा मोक्ष कैसे सधेगा ? अरे, बन्धभाव एवं मोक्षभाव के बीच भी जिसे विवेक नहीं है उसे शुद्धात्मा का वीतरागी संवेदन कहाँ से हो ? और स्वानुभव की किरण फरे बिना मोक्षमार्ग का प्रकाश कहाँ से प्रगट होगा ? अज्ञानी को स्वानुभव की कणिका भी नहीं है, तो फिर मोक्षमार्ग कैसा ? स्वानुभव के बिना जो कुछ भी भाव करे वे सारे ही भाव बन्धपद्धति में समाविष्ट होते हैं, उनके द्वारा बन्धन सिद्ध होता है, वे कोई भाव मोक्षमार्ग में आते नहीं है, उनसे मोक्ष नहीं सधता।

जैसे राजमार्ग की सीधी सड़क में बीच में काँटे-कंकड़ नहीं होते, वैसे मोक्ष का यह सीधा स्पष्ट राजमार्ग, उस में बीज में राग की रुचिरूप काँटे-कंकड़ नहीं है। सन्तों ने शुद्धपरिणतिरूप राजमार्ग द्वारा मोक्ष की साधना की है, और वही मार्ग जगत को बताया है।

प्रश्न :- यह राजमार्ग है, तो दूसरा पगदंडी का मार्ग तो होगा न ?

उत्तर :- पगदंडी का मार्ग भी कोई राजमार्ग से विरुद्ध तो नहीं ही होता। राजमार्ग जा रहा हो पूर्व की ओर और पगदंडी का मार्ग जाय पश्चिम में - ऐसा तो नहीं बनता। भले पगदंडी का मार्ग हो परन्तु उसकी दिशा तो राजमार्ग तरफ की ही होती है। वैसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान तथा इसके उपरांत शुद्धोपयोगी चारित्रदशा यह तो मोक्ष का सीधा राजमार्ग है, उसके द्वारा उसी ही भव में केवलज्ञान और मोक्ष प्राप्त हो सकता है; और ऐसी चारित्रदशा बगैर के जो सम्यगर्शन-ज्ञान है वे अभी अपूर्ण-मोक्षमार्ग होने की वजह से उसे पगदंडी कहा जाता है, वे एकाध-दो भव में मोक्षमार्ग पूरा करके फिर मोक्ष को प्राप्त करेंगे। पूरा मोक्षमार्ग या अधूरा मोक्षमार्ग, - परन्तु उन दोनों की दिशा तो स्वभाव तरफ की ही है, राग तरफ की दिशा तो एक भी नहीं है। रागादि भाव तो मोक्षमार्ग से विपरीत है अर्थात् बन्धमार्ग है। उस बन्धमार्ग द्वारा मोक्षमार्ग की साधना हो नहीं सकती है। मोक्षमार्ग के आश्रय से बन्धन नहीं होता, और बन्धमार्ग के आश्रय से मोक्ष नहीं होता।

क्या शुभराग मोक्ष का कारण बनेगा ? तो कहते हैं कि नहीं; राग के समय राग का निषेध करनेवाला भाव कौन-सा है ? राग का निषेध करनेवाला भाव जगे बिना वीतरागभावरूपमोक्षमार्ग को साधेगा कौन ? राग के समय उसका निषेध करनेवाले जो सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान है वे ही मोक्षमार्ग है। ऐसे सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान जगे तब ही सच्चा मोक्षमार्ग शुरु हुआ। सम्यग्दृष्टि स्वानुभव के अनुपात में मोक्षमार्ग को साधता है। शुभराग के अनुपात में कोई मोक्षमार्ग सधता नहीं है, वह तो बन्धपद्धति है।

'तो क्या सम्यग्दृष्टि अध्यात्म के विचारों में ही रहते होंगे ? क्या बन्ध पदद्धति के विचार ही उनको नहीं आते होंगे ?' ऐसा किसी को प्रश्न उटे तो अब आगे के प्रकरण में उसका समाधान करते हैं।

प्रकरण - १५

साधक की विचारश्रेणी और स्वभाव का रंग मोक्ष के साधक के निश्चय-व्यवहार, उसमें शुद्ध स्वरूप की सन्मुखता

'जब ज्ञाता कदाचित् बन्धपद्धति का विचार करता है तब जानता है कि इस बन्धपद्धति से मेरा द्रव्य अनादिकाल से बन्धरूप होता चला आया है; अब अस पद्धति के मोह को तोड़कर प्रवर्तन कर। इस पद्धति का राग पूर्व की भाँति है नर ! तू किसलिये करता है ? - इस प्रकार क्षणमात्र भी वे बन्धपद्धति में मग्न नहीं होते। वह ज्ञाता अपने स्स्वरूप का विचार करता है, अनुभव करता है, ध्यान करता है, गान करता है, श्रवण करता है तथा नवधाभक्ति, तप, क्रिया - ये सब अपने शुद्धस्वरूप के सन्मुख होकर करते हैं, - यह ज्ञाता का आचार है। इसका नाम ही मिश्रव्यवहार है।'

देखो, यह साध जीव का व्यवहार और उसकी विचारश्रेणी ! उसे स्वभाव का रंग कितना ज्यादा है ! बारम्बार उसका ही विचार, उसका ही मनन, उसके ही ध्यान-अनुभव का अभ्यास, उसके ही गुणगान और उसका ही श्रवण, सर्व प्रकार से उसकी ही भक्ति; जिस किसी क्रिया में प्रवर्तता है उस में सर्वत्र शुद्धस्वरूप की सन्मुखता मुख्य है। उसके विचार में भी स्वरूप के विचार की मुख्यता है, इसलिये कहा कि 'ज्ञाता 'कदाचित्' बन्धपद्धति का विचार करे'... तब भी बन्धपद्धति में वह मग्न नहीं होता है परन्तु उससे छुटने के ही विचार कराता है। अज्ञानी तो सब कुछ राग की सन्मुखता से करता है, शुद्धस्वरूप

की सन्मुखता उसे नहीं है। वह कर्मबन्धन इत्यादि के विचार करे तो उसमें ही मग्न हो जाता है और अध्यात्म तो एक तरफ रह जाता है। अरे भाई ! ऐसी बन्ध पद्धति में तो तू अनादि से वर्त ही रहा है... अब तो उसका मोह छोड़। अनादि से उस पद्धति में तेरा ज़रा भी हित हुआ नहीं है, अतः उसका मोह तोड़कर अब तो अध्यात्मपद्धति प्रगट कर। ज्ञानी ने तो उसका मोह तोड़ा ही है और अध्यात्मपद्धति प्रगट की है, परन्तु अभी राग की कुछ परम्परा बाकी है, उसका अद्यात्म की उग्रता द्वारा छेदन कर देना चाहता है। इसलिये राग की पद्धति में वह एक क्षण भी मग्न नहीं होता। - देखो, यह मोक्ष के साधक की दशा ! 'तू रुचता जगत की रुचि आल से सौ...' ('तेरे रुचने पर जगत परत्वे की सभी रुचि अलसा जाती है...', 'समयसार' स्तुत की एक पंक्ति) शुद्धात्मारूप 'समयसार' की जहाँ रुचि हुई वहाँ परभाव की रुचि रहती नहीं; अरे, जगत समग्र की रुचि छूट जाती है। जिसे अंशमात्र भी राग की रुचि रहे उसके पिरणाम चैतन्य की तरफ मुड़ सकते नहीं है, और मोक्षमार्ग को वह साध सकता नहीं है।

राग की रुचि को छोड़कर धर्मी जीव चैतन्य के प्रेम में ऐसा मग्न है कि बारम्बार उसका हीस्वरूप विचारता है, उपयोग को पुनः पुनः आत्मा की तरफ झुकाता है, कभी कभी निर्विकल्प अनुभव करता है, एकाग्रतापूर्वक उसका ध्यान करता है। 'चेतनरूप अनूप अमूरत... सिद्धसमान सदा पद मेरो' - ऐसे सिद्ध समान निजस्वरूप का अनुभव करता है; उसकी बात सुननेपर भी वह उत्साहित हो जाता है, उसके गुमगान एवं महिमा करते करते वह उल्लसित हो जाता है। अहा ! मेरी चैतन्यवस्तु अचिंत्य महिमावंत, उसके पास रागादि परभाव तो अवस्तु है, - उस अवस्तु की रुचि कौन करता है ? उसकी महिमा, उसके गुणगान कौन कता है ? सम्यग्दृष्टि तो अपने शुद्धस्वरूप की नवधाभक्ति करता है, अथवा मुनिराज की नवधा भक्ति करता है तो उसमें भी शुद्धस्वरूप की सन्मुखता है। यह वचनिका लिखनेवाले 'पंडित बनारसीदासजी'ने 'समयसार-नाटक' में, ज्ञानी कैसी नवधा भक्ति करते हैं उसकeा सुन्दर वर्णन किया है :-

आध्यात्मिक नवधा भक्ति :

श्रवण, कीरतन, चिंतवन, सेवन, वंदन ध्यान।
लघुता, समता, एकता नौधा भक्ति प्रवान।।८।।

(मोक्षद्वार)

१. श्रवण :- उपादेयरूप अपने शुद्धस्वरूप के गुणों का प्रेमपूर्वक श्रवण करना यह एक प्रकार की भक्ति है। जिस के प्रति जिसे भक्ति होती है उसे उसका गुणगान सुनने में प्रमोद आता है; धर्मी को निजस्स्वरूप के गुणगान सुनने में प्रमोद आता है।

२. कीर्तन :- चैतन्य के गुणों का, उसकी शक्तियों का व्याख्यान करना, महिमा करना, यह उसकी भक्ति है।

३. चिंतन :- जिसके प्ति भक्ति हो उसके गुणों का बारम्बार विचार करता है; धर्मी जीव निजस्वरूhप के गुणों का बारम्बार चिंतन करता है। यह भी स्वरूप की भक्ति का प्रकार है।

४. सेवन :- अन्दर में निजगुणों का बारम्बार अध्ययन करना।

५. वंदन :- महापुरुषों के चरणों में जैसे भक्तिपूर्वक वंदन करता है वैसे चैतन्यस्वरूप में परमभक्तिपूर्वक वंदन-नमन करना - उसमें लीन होकर परिणमित होना, यह सम्यग्दृष्टि की आत्मभक्ति है।

६. ध्यान :- जिस के प्रति परमभक्ति हो उसका बारम्बार ध्यान हुआ करता है; उसके गुणों का विचार, उपकारों का विचार बारम्बार आता है, वैसे धर्मीजीव अत्यंत प्रीतिपूर्वक बारम्बार निजस्वरूप के ध्यान में प्रवर्तता है। कोई कहे कि हमें निजस्वरूप के प्रति प्रीति और भक्ति तो बहुत ही है परन्तु उसके विचार में या ध्यान में मन जरा भी लगता नहीं है; - तो उसकी बात झूठी है। जिसकी वास्तव में प्रीति हो उसके विचार में-चिंतवन में मन न लगे ऐसा बनता नहीं है। अन्य विचारों में तो तेरा मन लगता है, और यहाँ स्वरूप के विचार में तेरा मन लगता नहीं है, - इस पर से तेरे परिणाम का नाप निकल आता

है कि स्वरूप के प्रेम की तुलना में अन्य पदार्थों का प्रेम तुझे ज्यादा है। जैसे घर के आदमी का खाने-पीने में, बोलने-चलने में कहीं भी मन न लगे तो लोग अनुमान कर लेते हैं कि उसका मन कहीं दूसरी जगह लगा हुआ है; वैसे चैतन्य में जिसका मन लग गया है, उसका सच्चा प्रेम जगा है उसका मन जगत के सभी विषयों से उदास हो जाता है... और बारम्बार निजस्वरूप की ओर उसका उपयोग ढ़लता है। इस प्रकार स्वरूप के ध्यानरुप भक्ति सम्यग्दृष्टि को होती है। तथा ऐसे शुद्धस्वरूप को साधनेवाले पंचपरमेष्ठी इत्यादि के गुणों को भी वह भक्तिपूर्वक ध्याता (ध्यान करता) है।

७. लघुता :- पंचपरमेष्ठी इत्यादि महापुरुषों के पास धर्मी जीव को अपनी अत्यंत लघुता भासित होती है। अहा, कहाँ उनकी दशा और कहाँ मेरी अन्यता ! अथवा, सम्यग्दर्शनादि या अवधिज्ञानादि हुआ परन्तु चैतन्य के केवलज्ञानादि अपार गुणों के मुकाबले तो अभी अत्यंत लघुता है - इस प्रकार धर्मी को अपनी पर्याय में लघुता भासित होती है। पूर्णता का भान है इसलिये अल्पता में लघुता भासित होती है। जिसे पूर्णता का भान नहीं है उसे तो थोड़े में भी बहुत (गुरुता) मानने में आ जाती है।

८. समता :- सभी जीवों को शुद्धस्वभावपने से समान देखना उसका नाम समता है; परिणाम को चैतन्य में एकाग्र करने पर समभाव प्रगट होता है। जैसे महापुरुषों के समीप में क्रोधादि विषमभाव उत्पन्न होते नहीं है - ऐसी उस प्रकार की भक्ति है, वैसे चैतन्य के साधक जीव को क्रोधादि उपशांत होकर अपूर्व समता प्रगट हुई है।

९. एकता :- एक आत्मा को ही अपना मानना, शरीरादि को पर जानना; रागादि भावों को भी स्वरूप से पर जानना, और अन्तर्मुख होकर स्वरूप के साथ एकता करना - ऐसी एकता का नाम अभेद भक्ति है, और वह मुक्ति का कारण है, स्व में एकतारूप भक्ति सम्यग्दृष्टि को ही होती है।

वाह ! देखो यह सम्यग्दृष्टि की नवधा भक्ति। शुद्ध आत्मस्वरूप का श्रवण, कीर्तन, चिंतवन, सेवन, वंदन, ध्यान, लघुता, समता और एकता ऐसी नवधा

भक्ति द्वारा वह मोक्षमार्ग को साधता है।

प्रश्न :- ज्ञानी नवधा भक्ति करते हैं यह तो बताया, परन्तु क्या ज्ञानी तप करते हैं ?

उत्तर :- हाँ ज्ञानी तप करते हैं, - परन्तु किस प्रकार ? कि अपने शुद्ध स्वरूप के सन्मुख होकर वे तप इत्यादि किया करते हैं। - यह ज्ञानी का आचार है। ज्ञानी के ऐसे अन्तरंग-आचार को अज्ञानी पहिचानता नहीं है, वह तो मात्र दैहिक क्रिया को ही देखता है। शुद्ध स्वरूप की सन्मुखतापूर्वक जितनी शुद्ध परिणति हुई उतना तप है - ऐसा धर्मी जानता है। ऐसा तप अज्ञानी को होता नहीं है, एवम् उसको वह पहिचानता भी नहीं है। तप इत्यादि का शुभराग है वह बाह्य निमित् है, और देह की क्रिया तो आत्मा से बिलकुल भिन्न चीज़ है - इसके बजाय, अज्ञानी तो उसे ही मूल वस्तु मानकर बैठ जाता है, और जो सही मूल वस्तु है उसे भूल जाता है। शुभराग तथा साथ में भूमिकायोग्य शुद्ध परिणति यह ज्ञानी का आचार है, उसका नाम मिश्र व्यवहार है। मिश्र अर्थात् कुछ अशुदद्धता और कुछ शुद्धता; उसमें जो अशुद्ध अंश है वह धर्मी को आस्रव-बंध का कारण है और जो शुद्धअंश है वह संवर-निर्जरा का कारण है। - इस प्रकार आस्रव-बंध और संवर-निर्जरा ये चारों भाव धर्मी को एक साथ वर्तते हैं। अज्ञानी को मिश्रभाव नहीं है, उसे तो सिर्फ अशुद्धता है; सर्वज्ञ को मिश्रभाव नहीं है, उनको केवल शुद्धता है। मिश्रमभाव साधकदशा में है। उसमें शुद्धपरिणति अनुसार वह मोक्षमार्ग को साधता है - ऐसा जानना।

अहा, धर्मात्मा की यह अध्यात्मकला... अलौकिक है... ऐसी अध्यात्मकला सीखने योग्य है, और उसका प्रचार करना चाहिए। सच्चा सुख इस अध्यात्मकला से ही प्राप्त होता है। अध्यात्मविद्या के सिवा अन्य लौकिक विद्याओं की कींमत धर्म में कुछ नहीं है। सा विद्या या विमुक्तये - आत्मा को मोक्ष का कारण न बने ऐसी विद्या को तो कौन विद्या कहे ? - (जो स्वयं) विद्याहीन हो वही कहे !

जिसने अध्यात्मविद्या जानी है ऐसी ज्ञानी को मिश्रव्यवहार कहा, अतः शुद्धता एवं अशुद्धता दोनों एकसाथ उसको है, परन्तु इससे कोई शुद्धता तथा अशुद्धता एक-दूसरे में मिल नहीं जाती। जो शुद्धता है वह कोई अशुद्धतारूप हो नहीं जाती, और जो अशुद्धता (रागादि) है वह कोई शुद्धतारूप हो नहीं जाते। एकसाथ होने के बावजूद दोनों की धारा भिन्न-भिन्न है। इस प्रकार 'मिश्र' यह दोनों की भिन्नता दर्शित करता है, एकपना नहीं। इसमें जो शुद्धता है उसके द्वारा धर्मी जीव मोक्षमार्ग को साधता है, और जो अशुद्धता है उसको वह हेय समझता है। हेय-ज्ञेय तथा उपादेय का स्वरूपज्ञानी किस प्रकार जानता है यह अब कहते हैं।

सुवाक्य

हे जीव ! तीन लोक में सबसे उत्तम, महिमावंत अपना आत्मा है, उसको तू उपादेय जान; वह महासुन्दर तथा सुखरूप है। जगत में जो सर्वोत्कृष्ट है ऐसे आत्मा को तू अनुभवगम्य कर। तेरा आत्मा ही तुझे आनन्दरूप है, कोई परवस्तु तुझे आनन्दरुप नहीं है। आत्मा को आनन्द का जिसने अनुभव किया है ऐसे धर्मात्मा का चित्त अन्यत्र कहीं जमता नहीं है, पुनः पुनः आत्मा की तरफ ही ढलता है। आत्मा का अस्तित्व जिसमें नहीं है, आत्मा का जीवन जिसमें नहीं है ऐसे परद्रव्यों में धर्मी का चित्त कैसे चिपके (लगे) ? आनन्द का समुद्र जहाँ देखा है वहाँ ही उसका चित्त चिपका हुआ है।

प्रकरण - १६

हेय-ज्ञेय - उपादेयरूप ज्ञाता की चालका विचार गुणस्थान-अनुसार
हेय-ज्ञेय उपादेयशक्ति बढती जाती है परसत्ता के अवलम्बन से
ज्ञानी कभी मोक्षमार्ग मानते नहीं है।

'हेय अर्थात् त्यागरूप तो अपने द्रव्य की अशुद्धता; ज्ञेय अर्थात् विचाररूप अन्य षट्‌द्रव्य का स्वरूप; उपादेय अर्थात् आचरणरूप अपने द्रव्य की शुद्धता। इसका विवेचन : ज्ञाता को गुणस्थानप्रमाण हेय-ज्ञेय-उपादेयशक्ति होती है। जैसे जैसे ज्ञाता की हेय-ज्ञेय-उपादेयशक्ति वर्धमान होती जाती है वैसे वैसे गुणस्थान की वृद्धि कही है। गुणस्थानप्रमाण (गुणस्थान के अनुसार) ज्ञान तथा गुणस्थानप्रमाण क्रिया। इसमें विशेष इतना कि एक गुणस्थानवर्ती अनेक जीव हो उनको अनेकरूप का ज्ञान कहा जाता है तथा अनेकरूप की क्रिया कही जाती है। भिन्न-भिन्न सत्ता के प्रमाण से एकता नहीं मिलती; प्रत्येक जीवद्रव्य में औदयिकभाव अन्य-अन्यरूप (भिन्न-भिन्न) होते हैं; उन औदयिकभाव-अनुसार ज्ञान की अन्य-अन्यता जानना। परन्तु विशेष इतना कि किसी जाति का ज्ञान ऐसा नहीं होता कि परसत्तावलंबनशील होकर मोक्षमार्ग साक्षात् कहे। - क्यों ? कि अवस्था-प्रमाण परसत्तावलंबक है परन्तु उस परसत्तावलंबी ज्ञान को परमार्थ नहीं कहते। जो ज्ञान हो वह स्स्वसत्ता वलंबनशील होता है, उसका नाम ज्ञान।'

देखो, यह धर्मी की विचारधारा ! धर्मात्मा परद्रव्य को तो अपने से भिन्न जानते हैं, वे तो भिन्न है ही, इसलिये उसमें कुछ छोड़ना या ग्रहण करने का आत्मा को है नहीं। वे समस्त परद्रव्य तो ज्ञेयरूप है।

अब जो कुछ ग्रहण करने लायक या छोड़ने लायक है, वह अपने में ही है। अपनी अवस्था में जो अशुद्धता है, वह हेय है; अशुभराग हो या शुभराग हो, वह अशुद्ध है इसलिये हेय है। उसके किसी भी अंश को धर्मीजीव उपादेय नहीं मानते।

अपने द्रव्य की शुद्धता ही उपादेय है। शुद्ध द्रव्य को दृष्टि में लेकर उसमें एकाग्रता करने पर पर्याय भी शुद्ध होती चली जाती है। पर्यायअपेक्षा से पूर्ण शुद्धतारूप मोक्ष उपादेय है, सम्यग्दर्शनादि शुद्धपर्याय भी उपादेय है। शुद्ध द्रव्य को श्रद्धा-ज्ञान में लिया उसने शुद्ध द्रव्य को उपादेय किया कहा जायेगा। इस प्रकार अपने द्रव्य की जो शुद्धता है वह ही उपादेय है। इसके सिवाय समस्त परद्रव्य तो मात्र ज्ञेय है - वे न तो हेय है, या न तो उपादेय है।

प्रश्न :- परद्रव्य हेय या उपादेय नहीं है, तो क्या सिद्ध भगवान इत्यादि पंच-परमेष्ठी भी उपादेय नहीं ?

उत्तर :- धैर्यवान होकर यहबात समझनी चाहिए, भाई ! क्या सिद्धभगवान का या पंचपरमेष्ठी में से किसी का एक अंश भी तेरे में आता है ? उसका कोई अंश तो तेरे में आता नहीं है, तो तू उसको उपादेय किस प्रकार करेगा? हाँ, तुझे यदि पंचपरमेष्ठीपद वास्तव में प्रिय और उपादेय लग रहा है तो तेरे द्रव्य की शुद्धता की तरफ जा और उसमें से शुद्ध पर्यायरूप परमेष्ठीपद प्रगट कर; इस प्रकार तू स्वयं ही पंचपरमेष्ठी में मिल जा। अतः कहा है कि 'पंचपद व्यवहार से, निश्चय से तो आत्मा में ही।' - अर्थात् आत्मसन्मुख होना वही पंचपरमेष्ठी को उपादेय करने की रीति है।

तथा सिद्ध इत्यादि को यहाँ ज्ञेय कहा है; अब उनके स्वरूप का विचार करते यदि उनको वास्तव में ज्ञेय बनाया जाय, तो उस ज्ञान में अपना शुद्धात्मा उपादेय हो ही जाय - ऐसा नियम है। अपने शुद्धात्मा को जो ज्ञान उपादेय

नहीं करता है वह ज्ञान सिद्ध इत्यादि पंचपरमेष्ठी का वास्तविक स्वरूप भी पहिचान सकता नहीं है, अतः उनको वास्तव में ज्ञेय बनाया जाय, तो उस ज्ञान में अपना शुद्धात्मा उपादेय हो ही जाय - ऐसा नियम है। अपने शुद्धात्मा को जो ज्ञान उपादेय नहीं करता है वह ज्ञान सिद्ध इत्यादि पंचपरमेष्ठी का वास्तविक स्वरूप भी पहिचान सकता नहीं है, अतः उनको वास्तव में ज्ञेय बना पाता नहीं है, एवं परभावों को वह हेय भी बना सकता नहीं है। इस प्रकार जहाँ शुद्धात्मा का उपादेयपना है वहाँ पर ही सिद्ध इत्यादि का ज्ञेयपना तथा परभावों का हेयपना है। हेय-ज्ञेय और उपादेय की ऐसी पद्धति धर्मात्मा के ही होती है। अज्ञानी को उसमें विपरीतता होती है।

शुद्धात्मा को उपादेय करके जैसे जैसे स्वसन्मुखता बढ़ती जाती है वैसे वैसे परभाव छूटते जाते हैं, और ज्ञानशक्ति बढ़ती जाती है; शुद्धता बढने पर गुणस्थान भी बढता है। ज्ञानी को जैसे जैसे गुणस्थान बढता जाता है वैसे वैसे हेय-उपादेयशक्ति बढती जाती है।

प्रश्न :- ज्ञानी को ज्यों ज्यों गुणस्थान बढे त्यों त्यों अशुद्धता छूटती जाती है और शुद्धता बढती जाती है, - इसलिये हेय और उपादेय शक्ति तो बढती जाती है, परन्तु गुणस्थान अनुसार ज्ञान भी बढ़ता है - सो कैसे ? किसी को चौथा गुणस्थान होने के बावजूद अवधिज्ञान होता है, और किसी को बारहवाँ गुणस्थान होने के बावजूद अवधिज्ञान होता है, और किसी को बारहवाँ गुणस्थान होते हुए भी अवधिज्ञान नहीं होता, तो गुणस्थान बढ़ने पर ज्ञानशक्ति बढ़ी - यह नियम कहाँ रहा ?

उत्तर :- यहाँ स्वज्ञेय को जानने की प्रधानता है, क्योंकि मोक्षमार्ग साधने का प्रकरण चल रहा है। मोक्षमार्ग कोई अवधिज्ञान द्वारा नहीं साधा जाता, मोक्षमार्ग तो सम्यक् मति-श्रुतज्ञान द्वारा स्वज्ञेय को पकड़ने से सधता है, और स्वज्ञेय को पकड़ने की ऐसी ज्ञानशक्ति तो गुणस्थान बढ़ने पर नियमपूर्वक बढ़ती ही है। चौथे गुणस्थानवाले अवधिज्ञानी के मुकाबले, अवधिज्ञान बगेर के बारहवें गुणस्थानवर्ती जीव की, ज्ञान में स्वज्ञेय को पकड़ने की शक्ति बहुत बढ़ गई

है। स्वज्ञेय की तरफ ढल रहा ज्ञान ही मोक्षमार्गरूप प्रयोजन को साधता है।

अब, गुणस्थान अनुसार ज्ञानशक्ति बढ़ती जाती है यह तो ठीक, किन्तु एक गुणस्थान में बहुत जीव होते हैं उन सभी को कोई एकसमान ज्ञान नहीं होता, तथा उन सब की क्रिया भी समान नहीं होती। एक गुणस्थानवर्ती अनेक जीवों को ज्ञानादि में तारतम्यता होती है, परन्तु उसमें जाति विरुद्ध नहीं होती। चौथे गुणस्थान में असंख्य जीव हैं, उनका उदयभाव अलग, परन्तु उन सभी ज्ञानी के ज्ञान की जाति तो एक ही। सभी ही ज्ञानी का ज्ञान स्वाश्रय से (स्व के आश्रय से) ही मोक्षमार्ग को जानता है; पराश्रय से मोक्षमार्ग माने ऐसा किसी ज्ञानी का ज्ञान नहीं होता। उदयभाव तथा ज्ञान का क्षयोपशमभाव एक गुणस्थान में सबी ज्ञानी का भिन्न भिन्न प्रकार का होता है, फिर भी उस उदयभाव के आदार से कोई ज्ञान नहीं है, ज्ञान तो स्वज्ञेयानुसार है। स्वज्ञेय का ज्ञान सभी ज्ञानी को होने का नियम है, परन्तु खास यह उदयभाव होना चाहिए या खास यह बाहर का जानपना होना चाहिए - ऐसा कोई नियम नहीं है। क्योंकि आत्मानुभव है वह मोक्ष का मार्ग है। इसके सम्बन्ध में `कलशटीका' में सुन्दर बात की है। वहाँ कहते हैं कि -

`आत्मानुभव परद्रव्य सहायता से रहित है। इस कारण अपने ही में अपने से आत्मा शुद्ध होता है।... जीव वस्तु का जो प्रत्यक्षरूप से आस्वाद, उसको नाम से आत्मानुभव ऐसा कहा जाय अथवा ज्ञानानुभव ऐसा कहा जाय। नामभेद है, वस्तुभेद नहीं है। ऐसा जानना कि आत्मानुभव मोक्षमार्ग है। इस प्रसंग में ओर भी संशय होता है कि, कोई जानेगा कि द्वादशांगज्ञान कुछ अपूर्व लब्धि है। उसके प्रति समाधान इस प्रकार है कि द्वादशांगज्ञान भी विकल्प है। उसमें भी ऐसै है कि शुद्धात्मानुभूति मोक्षमार्ग है। इसलिये शुद्धात्मानुभूति के होने पर शास्त्र पढ़ने की कुछ अटक नहीं है।'

(देखिये कलश १३)

बारह अंग भी यही कहते हैं कि शुद्धात्मा में प्रवेश करके जो शुद्धात्मानुभूति हुई वही मोक्षमार्ग है। जहाँ शुद्धात्मानुभूति हुई वहाँ फिर कोई ऐसा नियम या

सिद्धांत नहीं है कि इतने शास्त्र जानने ही चाहिए, अथवा इतने शास्त्र जाने तो ही मोक्षमार्ग होता है; विशेष शास्त्रज्ञान हो या न हो, परन्तु जहाँ शुद्धात्मानुभूति हुई वहाँ मोक्षमार्ग हो ही गया।

साधक के ज्ञान में कुछ परावलम्बन भी है, परन्तु इसके कारण कोई उसका ज्ञान मिथ्याज्ञान नहीं है, एवं उस परावलम्बन द्वारा ज्ञानी मोक्षमार्ग मानते नहीं है। शुद्धात्मानुभूतिरूप ज्ञान ही मोक्षमार्ग का साधक है। बारह अंग में भी शुद्धात्मानुभूति ही करने का उपदेश है, और उसे ही बिनशासन कहा है। जिसने शुद्धात्मा की अनुभूति की उसने बारह अंग का सार प्राप्त कर लिया, फिर किसी शास्त्रों की पढ़ाई पढ़नी पड़े ऐसा कोई प्रतिबन्ध नहीं है उसको। बारह अंग का ज्ञान हो तो हो, न हो तो भी स्वसत्ता के अवलम्बनपूर्वक स्वानुभुति से ज्ञाता मोक्षमार्ग कोसाधता है। उदयभाव हो उसका अवलम्बन ज्ञानी को नहीं है; उदयभाव अवस्था के अनुसार होता है परन्तु ज्ञान उसके अवलम्बन से नहीं है। ज्ञान तो स्वानुभव प्रमाण है। परसत्तावलम्बनशील ज्ञान परमार्थ नहीं है, मोक्षमार्ग नहीं है, स्वानुभूतिरूप स्वसत्तावलम्बनशील ज्ञान ही परमार्थ है, वही मोक्षमार्ग है।

अहो ! स्वानुभूति की ही महिमा है ! वही सच्ची विद्या है। उसके सिवा बाहर की विद्या या शास्त्र पढ़ाईकी विद्या भी मोक्ष की साधक नहीं है। स्वसन्मुख झुके वही विद्या मोक्ष की साधक होती है। अरे, ज्ञानी का भी परावलम्बी ज्ञान मोक्षसाधक नहीं है, तो अज्ञानी के परावलम्बी ज्ञान की तो क्या कीमत ? पराश्रयभाव के पहाड़ जैसे ढेर के ढेर लगा दे तो भी उसमें से मोक्षमार्ग नहीं निकलता। स्वावलम्बन की कणिका जागे उसमें से मोक्षमार्ग निकलता है।

इस प्रकार ज्ञानी स्वसत्ता-अवलम्बनशील ज्ञान को ही मोक्षमार्ग समझता है, उदय के या बाहर के जानपने के अवलम्बन से वे मोक्षमार्ग मानते नहीं है; अतः उदयभाव से या बाहर के जानपने के आदार से गुणस्थान का माप निकलता नहीं है परन्तु अन्दर की शुद्धता पर से तथा स्वसत्ता का अवलम्बन कैसा है इसके आधार से माप निकलता है। चौथे गुणस्थान में असंख्यात जीव, सामान्यरूप से उन सभी का गुणस्थान समान कहा जाय, दृष्टि सभी की समान, परन्तु

ज्ञान का क्षयोपशमभाव सर्वथा एकसमान नहींहोता, क्षयोपशमभाव का तथा उदयभाव का ऐसा स्वभाव है कि उसमें भिन्न भिन्न जीवों को तारतम्यता होती है। क्षायिक भाव में तारतम्यता नहीं होती उसमें तो एक ही प्रकार होता है। लाखों केवली भगवंत तेरहवें गुणस्थान में विराजते हैं, उनको क्षायिकभाव समान है परन्तु उदयभाव में फर्क है। चौथे गुणस्थान में असंख्यात जीवों में उदयभाव में किसी को मनुष्यगति का उदय, किसी को नर्कगति का उदय, किसी को हजार योजन की बड़ी अवगाहना का उदय, किसी को एक हाथ बराबर अल्प अवगाहना, किसी को अल्पायु का उदय, किसी को असंख्यात वर्षों का आयुष्य, किसी को अशाता, किसीको शाता, - ऐसे बहुत प्रकार की विचित्रता होती है। उसी प्रकार ज्ञान में भी उघाड़ की विचित्रता अनेक प्रकार की होती है। साधक को अभी ज्ञानअवस्था में कुछ परावलम्बीपना भी है, क्योंकि जब तक इन्द्रियज्ञान है तब तक परावलम्बीपना है, परन्तु उस परावलम्बीपने में ज्ञानी मोक्षमार्ग नहीं मानते। किसी ज्ञानी का ज्ञान ऐसा नहीं होता कि पराश्रय से मोक्षमार्ग मान ले। पराश्रितभाव से मोक्षमार्ग माने तो वह `ज्ञान' नहीं परन्तु अज्ञान। ज्ञानी को ज्ञान में कुछ परावलम्बीपना होने के बावजूद मिथ्यात्व नहीं है; परावलम्बीपने को वे उपादेयरूप या मोक्षमार्ग नहीं मानते। मोक्षमार्ग तो स्वाश्रित ही है, - ऐसा वे निःशंकरूप से जानते हैं; अतः हेय-ज्ञेय-उपादेय का स्वरूप वे ठीक प्रकार से जानते हैं।

उपादेयरूप अपनी शुद्धता, हेयरूप अपनी अशुद्धता, और ज्ञेयरुप अन्य छह द्रव्य। यहाँ ज्ञेयरूप `अन्य छह द्रव्य' कहे उसमें हालाँ कि स्वद्रव्य भी ज्ञेयरूप तो है परन्तु वह उपादेय में आ गया, क्योंकि शुद्धद्रव्य को जाने तो ही उपादेय करेगा न ? जाने बिना कौन आदर (ग्रहण) करेगा ? इस प्रकार उपादेय कहने पर `ज्ञेयपना' तो आ ही गया, अतः ज्ञेय में उसकी बात अलग से नहीं करी है। जब कि अन्य जीवादि छह द्रव्य तो मात्र ज्ञेयरूप ही है।

अब नवतत्त्व में लें तो -

ज्ञेयरूप तो सारे ही तत्त्व है;

उपादेयरूप शुद्धजीव तथा संवर-निर्जरा-मोक्ष है;

हेयरूप पुण्य-पाप-आस्रव और बन्ध है।

अजीवतत्त्व हेय नहीं है, उपादेय नहीं है, मात्र ज्ञेय है; जडकर्म भी वास्तव में उपादेय नहीं है, वे मात्र ज्ञेय है; फिर भी उसके आश्रय से हो रहे परभावों को छुडाने के लिये (तथा स्वद्रव्य का आश्रय कराने के लिये) उपचार से उस अजीवकर्म को किसी 'हेय' भी कहा जाता है; वहाँ वास्तव में तो परद्रव्य के आश्रय से हो रही अशुद्धता का ही हेयपना दिखाना है।

अज्ञानी स्वद्रव्य को भूलकर, परद्रव्य का ग्रहण-त्याग करना चाहता है यह विपरीत बुद्धि है; ज्ञानी को परमें ग्रहण-त्याग की बुद्धि नहीं है। मेरे को छोड़ने योग्य कुछ है तो वह मेरी अशुद्धता है, और ग्रहण करने योग्य कुछ है तो मेरी शुद्धता; - अहा ! ऐसी बुद्धि में किसी के ऊपर राग या द्वेष नहीं रहा कहीं भी पराश्रयबुद्धि नहीं रही, अपने में ही देखने का रह गया। भाई ! तू दूसरे अजीव को या पर को छोड़ना चाहता है, परन्तु - एक तो वे तेरे से भिन्न है ही और दूसरी बात, क आकाश में एकक्षेत्र में रहvनेरूप उसका संयोग तो सिद्ध को भी नहीं छूटता। जगत में छहों द्रव्य सदाकाल एकक्षेत्रावगाह में स्थित है।अतः पर को छोड़ने की तेरी बुद्धि मिथ्या है। उसी प्रकार, पर का एक अंश भी कभी तेरे स्वरूप में आता नहीं है, अतः पर का ग्रहण करने की बुद्धि भी मिथ्या है। ज्ञानी को पर के ग्रहण-त्याग की ऐसी मिथ्याबुद्धि होती नहीं है। ज्ञानी की चाल अनोखी है। उसकी परिणति अन्तर में जो ग्रहण-त्याग का कार्य प्रत्येक क्षण में कर रही है वह बाहर से पहिचान में आ सके ऐसा नहीं है; वे प्रतिपल शुद्धस्वभाव का ग्रहण करते हैं और परभावों को प्र।तिपल छोड़ते हैं। स्वभाव का ग्रहण और परभाव का त्याग - ऐसे ग्रहण-त्याग द्वारा वे मोक्ष को साधते हैं।

परद्रव्य मुझे अशुद्धता कराता है ऐसा जो माने वह परद्रव्य को हेय मानकर द्वेष करे, परन्तु अफनी अशुद्धता को छोड़ने का उपाय करे नहीं।

पर के आश्रय से मुझे शुद्धता होती है ऐसा जो माने वह परद्रव्य को

उपादेय मानकर उसके राग में रुका रहे परन्तु स्वद्रव्य का आश्रय करके शुद्धता को वह साधता नहीं है।

इस प्रकार निमित्ताधीन दृष्टि में रुके हुए जीव ्वभाव का ग्रहण या परभाव का त्याग कर सकते नहीं है इसलिये मोक्ष को साध सकते नहीं है।

अहो ! एकबार यह समझे तो कितनी वीतरागता हो जाय ! परिणति स्वाश्रय की तरफ झुककर मोक्ष की ओर चलने लगे। - यह धर्म की चाल है। (चाल अर्थात् पद्धति, रीति, परिणति, मार्ग।)

इस `पंडित बनारसीदासजी' ने उपादान-निमित्त के दोहरों की रचना भी की है, दोहे तो सिर्फ ७ है, परन्तु उसमें स्पष्टता बहुत है। उसमें कहते हैं कि -

`सधे वस्तु असहाय जहाँ तहाँ निमित्त है कोन ?' जहाँ सभी वस्तु असहायरूप से (अन्य की सहायता के बिना) सधती है वहाँ निमित्त उसमें क्या करता है? - कुछ भी नही; निमित्तने कुछ सहायता की है ऐसा बनता नहीं है। इसलिये जैसे बाह्यनिमित्त सहायकारी नहीं है वैसे मोक्षमार्ग में शुभरागरूप निमित्त भी सहायकारी नहीं है, वह भी मोक्षमार्ग में अकिंचित्कर है - यह बात समझना खास जरूरी है।

प्रश्न :- जीव को शुद्धता-अशुद्धता में परद्रव्य निमित्त है या नहीं ?

- है।

वह निमित्त हेय है ?

- नहीं।

तो क्या निमित्त उपादेय है ?

- नहीं।

निमित्त हेय नहीं है एवं उपादेय नहीं है, निमित्त तो ज्ञेय है।

परद्रव्यरूप जो निमित्त है वह तो हेय-उपादेय नहीं है; इसके अलावा यहाँ तो रागादिरूप अशुद्ध व्यवहार को भी निमित्त मेंडाला है, तता शुद्ध सद्भूत व्यवहार को ही धर्मी के व्यवहार में गिना है। इसलिये यहाँ शुभरागरूप जो

निमित्त कहा है वह हेय है; क्योंकि वह अपना अशुद्धभाव है इसलिये वह हेय है। उसके द्वारा मोक्षमार्ग सधता नहीं है। शुद्धता की वृद्धि अनुसार मोक्षमार्ग सधता है।

अज्ञानी हेय-ज्ञेय उपादेय को ठीक प्रकार से पहिचानता नहीं है इसलिये हेय-ज्ञेय-उपादेय की शक्ति उसमें नहीं है; धर्मी जीव हेयरूप परभावों को हेय जानता है, उपादेयरूप अपने शुद्ध द्रव्य-पर्यायों को उपादेय जानता है और ज्ञेयरूप समस्त पदार्थों को ज्ञेयरूप जानता है, अतः हेय-ज्ञेय-उपादेय की शक्ति उन्हें प्रगट हुई है। ज्ञाता की यह शक्ति गुणस्थान अनुसार बढ़ती जाती है। जैसे कि -

चौथे गुणस्थान में अनंतानुबंधी कषाय का त्याग है और सम्यक्त्व तथा स्वरुपाचरण शुद्धि प्रगट हुई है, तथा स्वज्ञेय को जाना है।

पाँचवें गुणस्थान में उसे अनंतानुबंधी एवं अप्रत्याख्यानी इन दो कषाय का त्याग हुआ है तथा स्वरूपाचरण के अतिरिक्त देशसंयमचारित्र की शुद्धि प्रगट हुई है, उसकी हेय-उपादेयशक्ति बढ़ी है, और स्वज्ञेय को पकड़ने की शक्ति भी बढ़ी है।

छठे-सातवें गुणस्थान में तीन कषायों के त्याग के समुचित शक्ति प्रगट हुई है औरसंयम दशा के योग्य शुद्धता बढी है। इस प्रकार वहाँ हेय-उपादेयशक्ति बढ़ी है, और स्वज्ञेय को पकड़ने की शक्ति भी बहुत बढ़ी है।

इस प्रकार गुणस्थानअनुसार अशुद्धता हेय होती जाती है (- छूटती जाती है), शुद्धता उपादेय होती जाती है, इसलिये हेय-उपादेयशक्ति बढ़ती जाती है, ज्ञान की ताकत भी बढ़ती जाती है; और क्रिया (शुभराग तथा बाह्यक्रिया) उस-उस गुणस्थान के अनुरूप होती है। एक ही गुणस्थानवर्ती भिन्न-भिन्न अनेक जीवों की क्रिया अलग अलग होती है - परन्तु उस गुणस्थान के योग्य हो ऐसी ही क्रिया होती है, उससे विरुद्ध नहीं होती। जैसे कि करोड़ों मुनि छठे गुणस्थान में होते हैं उसमें कोई स्वाध्याय क्रिया, कोई ध्यान, कोई आहार, कोई विहार, कोई आलोचना, कोई प्रायश्चित, कोई उपदेश। कोई तीर्थवंदना, कोई जिनस्तवन,

कोई दिव्यध्वनिश्रवण - ऐसी भिन्न भिन्न क्रिया में प्रवर्तते हो, - परन्तु वहाँ पर कोई वस्त्र पहन रहे हो या बर्तन में भोजन कर रहे हो या सदोष आहार ले रहे हो - ऐसी क्रिया छठे गुणस्थान में सम्भव नहीं है। इस प्रकार चौथे गुणस्थान में जिनप्रभु की पूजा, मुनिवर इत्यादि को आहारदान, स्वाध्याय, श्रवण इत्यादि शुभ, एवं व्यापार, गृहकार्य इत्यादि अशुभ तथा कभी स्वरूप का ध्यान इत्यादि क्रियाएँ होती हैं, परन्तु सुदेव-कुगुर का सेवन सीधी त्रसहिंसा या मांसभक्षण इत्यादि क्रियाएँ वहाँ सम्भवित नहीं है। इस प्रकार राग तथा बाह्यक्रिया - ये हालाँकि निमित्त है परन्तु वह गुणस्थान अनुसार होती uहै। तेरहवें गुणस्थान में केवलज्ञानी प्रभु को योग का कम्पन, दिव्यध्वनि या गगन में मंगलविहार जैसी क्रियाएँ होतीहै, परन्तु वहाँ रोग, आहार या जमीन पर गमन इत्यादि क्रियाएँ नहीं होती। जिस भूमिका में जिस प्रकार की क्रिया तथा जिस प्रकार का राग सम्भवित न हो वैसी क्रिया तथा वैसा राग वहाँ माने तो उसे उस भूमिका के स्वरूप की खबर नहीं है, और उस भूमिका योग्य निमित्त कैसे होते हैं उसे भी वह पहिचानता नहीं है।

अब हेय विषयक : जिस भूमिका में जिस प्रकार की अशुद्धता बची हुई हो उसे वहाँ हेयरूप जानता है; परन्तु उस भूमिका में जिस प्रकार की अशुद्धता का अबाव ही हो वहाँ हेय किसे करना ? जैसे छठे गुणस्थान में मिथ्यात्व-अव्रतादि भाव छूटे हुए ही होते हैं अतः वहाँ अब उसको छोडने रूप क्रिया बाकी नहीं है, अतः वहाँ हेयरूप में वे अव्रतादि नहीं लिये जाते; परन्तु उस भूमिका में महाव्रतादि से सम्बन्धित जो शुभराग वर्तता है वह राग ही वहाँ हेयरूप है। क्योंकि छोड़ने योग्य तो जो अपने में हो वह अशुद्धता है, पर्तु अपने में जो अशुद्धता हो ही नहीं उसे क्या छोड़ना ? अतः हेयपना भी गुणस्थानअनुसार जानना। केवली भगवन्त को अब कोई मिथ्यात्व या रागादि को हेय करनेरूप कुछ रहा ही नहीं है, उनको तो वे भाव छूट ही गये हैं। जिसका अभाव है उसे छोड़ना क्या ? इस प्रकार सभी गुणस्थान में, जो अशुद्धता विद्यमान हो उसका ही हेयपना समझना। जैसे जैसे गुणस्थान बढ़ता जाता है

वैसे वैसे हेयरूप भाव कम होते जाते हैं, और उपादेयरूप भाव बढ़ते जाते है; अन्त में हेयरूप समस्त भाव छूटकर सर्वथा उपादेय ऐसी सिद्धदशा प्रगट होती है। फिर वहाँ पर हेय - उपादेयपने की कोई प्रवृत्ति शेष नहीं रहती, वे कृतकृत्य है।

देखो, इसमें जैसे-जैसे हेय-उपादेयशक्ति बढ़े वैसे वैसे गुणस्थान बढता है - ऐसा कहा, और हेय-उपादेय तो अपने अशुद्ध-शुद्ध भावों को ही कहा; परन्तु परद्रव्य के ग्रहण-त्याग अनुसार गुणस्थान बढ़ता है ऐसा नहीं कहा। वस्त्रादि छोड़े इसलिये गुणस्थान बढ़ जाय ऐसा नियम नहीं है परन्तु मिथ्यात्वादि परभाव छोड़े उसके अनुपात में गुणस्थान बढ़े। और गुणस्थान बढ़ने पर उस-उस गुणस्थान अनुसार बाहर का त्याग (जैसे छठवे में वस्त्रादि का त्याग) तो सहजरूप से स्वयमेव होता है। परन्तु उस त्याग का कर्तापना आत्मा को नहीं है, आत्मा को तो उसका ज्ञातापना है। आत्मा को वह ज्ञेयरूप है, उपादेयरूप नहीं है।

हेय-ज्ञेय-उपादेय से सम्बन्धित ज्ञाता के विचार तो ऐसे होते हैं; इससे विरुद्ध विचार हो तो वे अज्ञानी के विचार हैं। मोक्षमार्ग कोई दो प्रकार के नहीं हैं, मोक्षमार्ग का एक ही प्रकार है; स्वाश्रितभावरूप एक ही प्रकार का मोक्षमार्ग है, और पराश्रितभाव है वह मोक्षमार्ग नहीं है। पराश्रित भाव को जो मोक्षमार्ग माने उसकी चाल मोक्षमार्ग से विपरीत है। स्वाश्रित मोक्षमार्ग का वर्णन करते हुए 'समयसार' गाथा २७६-२७७ में कहा है कि - आचारांग आदि का ज्ञान, नवतत्त्व की भेदरूप श्रद्धा या छह जीव-निकायकी दया के शुभपरिणामरूप व्यवहार चारित्र - ऐसे जो पराश्रित भाव हैं उनके आश्रय से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग मानने में दोष आता है क्योंकि अज्ञानी को भी वैसे पराश्रित ज्ञानादि होते हुए भी उसे मोक्षमार्ग नहीं होता, और ज्ञानी को ऊपर की दशा मं वैसे पराश्रितभव नहीं होने पर भी मोक्षमार्ग होता है। अतः पराश्रितभावों में मोक्षमार्ग नहीं है। शुद्धात्मा ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का आश्रय है - यह एकान्त (अबाधित) नियम हैं। जहाँ शुद्धात्मा का आश्रय है वहाँ जरूर मोक्षमार्ग है; जहाँ शुद्धात्मा का आश्रय नहीं है वहाँ मोक्षमार्ग नहीं है। इस प्रकार मोक्षमार्ग स्वाश्रित है।

और मोक्षमार्ग पराश्रित नहीं है अतः पराश्रित ऐसा व्यवहार निषेध करने योग्य है - हेय है। स्वसत्ता के अवलम्बन से ही धर्मी जीव मोक्षमार्ग को साधता है। परावलम्बी ज्ञानादि को धर्मीजीव मोक्षमार्ग नहीं मानता।

अरे जीव ! तेरी ज्ञानधारा में भी जीतना परावलम्बीपना है वह मोक्ष का कारण नहीं है, तो फिर सर्वथा परावलम्बी ऐसा राग तो मोक्ष का कारण कहाँ से होगा ? तथा बाहर के निमित्त तो बाहर कितनी दूर रह गये !! अरे, ऐसा दुर्लभ अवसर पाकर भी है जीव ! यदि तूने अपने स्वज्ञेय को नहीं जाना और स्वाश्रय से मोक्षमार्ग नहीं साधा तो तेरा जीवन व्यर्थ है। यह अवसर चला जायेगा तो तू पछतायेगा।

प्रश्न :- हमारे निमित्त को तथा व्यवहार को आप भले महत्त्व नहीं दे रहे हो, और अध्यात्म को ही महत्त्व देते हो, परन्तु जगत में आपकी ऐसी अध्यात्म की बातों को तो कौन वजूद देता है ? हमारी व्यवहार की तथा निमित्त की बात को तो सब जानते हैं ! -

'निमित्त कहे मोकों सबै जानत है जग लोय,
तेरो नाम न जानही, उपादान को होय ?'

उत्तर :- भाई ! जगत के अज्ञानी लोग मोक्षमार्ग की ऐसी अध्यात्म बात को भले ही न जाने परन्तु जगत के सारे ही ज्ञानी तथा सर्वज्ञ तो यह बात एकदम ठीक प्रकार से जानते हैं। इसलिये -

'उपादान कहे रे निमित्त ! तु कहाँ करे गूमान,
मोकों जानें जीव वे, जो हैं सम्यक्वान।'

जो इस अध्यात्म का स्वरूप जानते हैं वे ही मुक्ति को प्राप्त करते हैं; अज्ञानी को तो निश्चय-व्यवहार इत्यादि की कुछ खबर ही नहीं है, अतः वह इस बात को जानता नहीं और मानता भी नहीं। और जो जीव इस बात को जाने वह अज्ञानी रहता नहीं। यह तो आत्महित की अपूर्व अलौकिक बात है। ऐसे स्वावलम्बी मोक्षमार्ग का स्वरूप तो समझता है उसे मोक्षमार्ग प्रगट हुए बिना रहता नहीं।

प्रकरण - १७

अध्यात्मपद्धतिरूप स्व-आश्रित मोक्षमार्ग है; उदयभाव के आश्रय से मोक्षमार्ग नहीं है

किसी को प्रश्न होता है कि ज्ञानी को भी साधकदशामें अनेक परावलम्बी उदयभाव तो होते हैं तो वह मोक्षमार्ग क्यों नहीं है ? - तो इसके समाधान में कहते हैं कि -

'ज्ञानी को अवस्थाप्रमाण परसत्तावलम्बन है, परन्तु वह परसत्तावलम्बी ज्ञान को परमार्थता कहते नहीं है। स्वसत्तावलम्बनशील हो उसका नाम ज्ञान। उस ज्ञान को सहकारभूत-निमित्तरूप अनेक प्रकार के औदयिकभाव होते हैं; ज्ञानी उन औदयिकभावों का तमाशगीर है, लेकिन उसका कर्ता नहीं है, भोक्ता नहीं है या अवलम्बी नहीं है। अतः कोई ऐसा कहे कि 'इस प्रकार का औदयिकभाव सर्वथा हो तो ही फलाना गुणस्थान कहें' तो वह झूठा है; उसने द्रव्य के स्वरूप को सर्व प्रकार से जाना नहीं है। क्यों ? क्योंकि, अन्य गुणस्थानों को तो बात क्या कहनी, केवली भगवन्तो को भी औदयिकभाव की विविधता-अनेकता जानना। केवलियों के औदयिकभाव भी एकसमान होते नहीं है; किसी केवली को दण्ड-कपाटरूप (समुद्घातरूप) क्रिया का उदय होता है, किसी केवली को वह नहीं होता। इस प्रकार केवलियों में भी उदय की अनेकरूपता है। तो अन्य गुणस्थानों की तो बात ही क्या करनी ? अतः औदयिकभावों के भरो से ज्ञान नहीं है; ज्ञान स्वशक्तिप्रमाण है। स्वपरप्रकाशक ज्ञान की शक्ति ज्ञायकप्रमाण ज्ञान तथा यथानुभवप्रमाण स्वरूपाचरणचारित्र, - यह ज्ञाता का सामर्थ्य है।'

भूमिकानुसार पराश्रितभाव हो वह अलग बात है, और उस पराश्रितभाव को मोक्षमार्ग मान लेना यह अलग बात है। पराश्रितभाव तो ज्ञानी को भी होता है किन्तु वे उसको मोक्षमार्ग नहीं मान लेते, शुद्ध स्वभाव के आश्रय से मोक्षमार्ग साधते चले जाते हैं और पराश्रितभावों को तोड़ते जाते हैं; कुछ बाकी बच जाता है उसके तमाशगीर रहते हैं। इक्कीस प्रकार के उदयभाव हैं; उनमें से मिथ्यात्वादिरूप उदयभाव तो ज्ञानी को होते नहीं है। औरबाकी के जो उदयभाव वर्तते हैं, ज्ञानी उसके कर्ता नहीं है, उसके भोक्ता नहीं है, और ज्ञान में उसका अवलम्बन भी नहीं है। अन्तर में स्वभाव का अवलम्बन लेनेवाला ज्ञान ही मोक्षमार्ग है। बाहर का अन्य जानपना कम हो तो ज्ञानी को उसका कुछ खेद नहीं है और बाहर का जानपना (क्षयोपशम ज्ञान) विशेष हो तो उसकी कोई महत्ता नहीं है। क्योंकि बाहर के जानपने के आधार से मोक्षमार्ग का माप नहीं निकलता। अवधि-मनःपर्ययज्ञान हो, तो जल्दी मोक्ष सधे, और वह न हो, तो मोक्ष साधने में देर लगे - ऐसा, कोई नियम नहीं है। स्वानुभूति की उग्रता अनुसार मोक्ष सधता है। तथा ज्ञान के साथ (एकत्वरूप से नहीं, परन्तु सहकारीरूप से) जो जो उदयभाव वर्तते हैं उनको ज्ञानी जानता है, लेकिन उसका आग्रह या पकड़ नहीं है; ऐसा ही राग और ऐसी ही क्रिया हो तो ठीक - ऐसी परावलम्बन की बुद्धि नहींहै। एक ही गुणस्थान में भिन्न भिन्न विकल्प एवं भिन्न-भिन्न क्रियाएँ होती है, एक जीवको भी एक ही प्रकार का विकल्प सदैव रहता नहीं है, अनेक प्रकार के विकल्प होते हैं। कुन्दकुन्दस्वामी, वीरसेनस्वामी, जिनसेनस्वामी या समन्तभद्रस्वामी - ये सारे ही मुनिवर छठी-सातवीं भूमिका में मोक्षमार्ग में वर्तते थे, उनमें से एक को `समयसार' जैसे अध्यात्मशास्त्र की रचना का विकल्प आया, दूसरे को `षट्खंडागम' की धवलटीका जैसे करणानुयोग की वृत्ति उठी, तीसरे को तीर्थंकरो के पुराण की रचनारूप कथानुयोग का भाव आया और चौथे को `रत्नकरंड श्रावकाचार' जैसे चरणानुयोग के उपदेश की वृत्ति उठी। - भिन्न भिन्न विकल्प होते हुए भी वृत्ति सभी की समान, कोई खास विकल्प हो तो ही उससे सम्बन्धित विशिष्ट गुणस्थान हो - ऐसा विकल्प का प्रतिबन्ध

नहीं है। परन्तु जो विकल्प हो वह भूमिका का उल्लंघन करे ऐसा (जैसे छठे गुणस्थान में वस्त्र का) नहीं होता। इससे सम्बन्धित विस्तारपूर्वक का विवेचन पहले आ चुका है।

(देखो पृष्ठ .... से ....)

साधकभाव की एक ही धारा है कि अन्तर में चैतन्य की स्वसत्ता का जितना अवलम्बन उतना साधकभाव। ऐसे स्वाश्रयभाव का एक कण भी जिसे जागा नहीं है वह पराश्रयभाव के चाहे जितने पहाड़ खोद डाले (चाहे जितना परिश्रम करे) तो भी `खोदा पहाड़ और निकली चुहिया' इस कहावत के अनुसार उसके हाथ में भी कुछ आनेवाला नहीं है, उसमें तो `खोदा पराश्रयभाव का पहाड और निकाली संसाररुपी चुहिया।'

कोई स्वच्छंदी कहे कि - हमें संसार से सम्बन्धित अशुभविकल्प खाने-पीने के इत्यादि आते हैं, परन्तु धर्म से सम्बन्धित शुभविकल्प भक्ति-पूजन-स्वाध्याय इत्यादि के नहीं आते; विकल्प तो भूमिका अनुसार आयेंगे ऐसा आपने ही कहा है !

इसका उत्तर : हाँ भाई ! तेरी भूमिका के लिये वह विकल्प योग्य है, स्वच्छंद की भूमिका में तो ऐसे औछे ही विकल्प होंगे न ! धर्म की रुचिवाले जीव की भूमिका में धत्म से सम्बन्धित विचार आते हैं और संसार की रुचिवाले जीव की भूमिका में संसार तरफ के पापविचार आयेंगे। जिसे संसार के पापभावों का तीव्र रस हो उसे धर्म के विचार आयेंगे ही कहाँ से ? ऐसों की तो यहाँ बात ही कहाँ है ? यहाँ तो साधकजीव मोक्षमार्ग को कैसे साधता है, और उस मोक्षमार्ग को साधते साधते बीच में उसे कैसे कैसे भाव होते हैं - उसकी बात है। मोक्षमार्ग के साधक को जो शुभभाव होते हैं वे बी ऊँची जाति के होते हैं, पाप की तीव्रता के भाव तो उसे कभी होते ही नहीं। भूमिका से अविरुद्ध जो शुभ या अशुभ होता है उसका भी धर्मी ज्ञाता रहता है - साक्षी रहता है - तटस्थ रहता है, उस उदयभाव के प्रवाह में स्वयं वह नहीं जाता। दो जीव क्षायिक सम्यग्दृष्टि हो, एक ध्यान में बैठा हो और दूसरा

युद्ध में खड़ा हो, वहाँ युद्ध में खड़े होनेवाले को ऐसी शंका नहीं उठती कि अरे, यह ध्यान में और मैं युद्ध में ! तो मेरा सम्यग्दर्शन कुछ ढीला होगा ! या मेरे ज्ञान में कोई दोष होगा !

ऐसी शंका समकिती को कभी उठती नहीं है। वह निःशंक है कि मेरा सम्यग्दर्शन मेरे स्वभाव के अवलम्बन से है, वह कोई इस उदयभाव में ;चला नहीं जाता। राग के समय राग से भिन्न एक चैतन्यधारा ज्ञानी को वर्त रही है - उस धारा का नाम अध्यात्मपद्धति है, वह आखिर में केवलज्ञान में जाकर मिलती है।

वाह ! मोक्षमार्ग स्वाश्रित है, पराश्रित नहीं है - यह सिद्धांत पंडितजीने कितना स्पष्ट किया है ! जीव का पराश्रित-क्षयोपशमभाव भी मोक्ष का कारण नहीं है तो फिर पराश्रित-उदयभाव तो मोक्ष का कारण कैसे होगा ? बाहर की बात तो निकाल दी, राग भी निकाल दिया और अन्दर का क्षयोपशमभाव भी जो पराश्रित है उसे मोक्षमार्ग में से निकाल दिया। स्वाश्रितभाव ही मोक्षमार्ग है। मोक्षमार्ग मेंसाथ में उदयभाव हो अतवा रागादिरूप अशुद्ध व्यवहार हो, परन्तु क्या उसके अवलम्बन से मोक्षमार्ग है ? - नहीं। सम्यग्दृष्टि को तो उस व्यवहार से 'मुक्त' कहा है, अतः उसे उसका अवलम्बन नहीं है। जैसे केवली प्रभु उदय के ज्ञाता है वैसे छद्मस्थज्ञानी भी उदय के ज्ञाता है, उसकी परिणति उदयभाव को तोड़ती हुई अध्यात्मधारा में आगे बढ़ रही है।

देखो तो सही, गृहस्थ श्रावकों को भी अध्यात्म का कैसा प्रेम है ! औ- कैसी रससभर बात की है ! इस 'पंडित बनारसीदासजी'ने उपादान-निमित्त के भी सात दोहरे करके, उपादान की एकदम स्वतंत्रता सिद्ध कर दी है। कोई कहता है कि वह तो उन्हों ने उपादान की भावुक्तावश लिखा है ! परन्तु भाई ! तू निमित्त की भावुक्तावश उसका इन्कार कर रहा है ! उपादान की स्वतंत्रता का सिद्धांत तुझे नहीं बैठता है इसलिये 'भावुक्ता' कहकर तुझे उसको उड़ाना है। परन्तु उन्होंने तो सत्यसिद्धांत प्रसिद्ध किया है। और सत्य सिद्धांत के पक्ष में भावुक्ता हो तो उसमें दोष क्या है ? तुझे तो अभी बाहर की

क्रिया का (जड़ की क्रिया का) अकर्तापना भी नहीं बैठता है तो फिर, समकिती उदयभाव का भी अकर्ता है यहबात कहाँ से बैठेगी ? और बाहर की तरफ जानेवाला ज्ञान भी मोक्ष का साधक नहीं है - यह बात तुझे कैसे समझ में आयेगी ?

- धर्मीजीव ज्ञान की स्वसंवेदनाधारा से मोक्ष लेगा।
- बाह के ज्ञान की धारा कोई मोक्ष नहीं देगी।
- तो फिर, राग और जड़ की क्रिया तो मोक्ष कहाँ से देंगे ?

ऐसा जाने वहाँ बाहर के जानपने का अधिक क्षयोपशम हो या पुण्योदय विशेष हो तो भी उसका गर्व ज्ञानी को होता नहीं है। अरे, जो मेरे मोक्ष का कारण नहीं उसका गर्व क्या ? स्वानुभव में मुझे जो काम न आये उसकी महिमा क्या ? बाहर अंग जानते न हो फिर भी ज्ञानी को कभी ऐसी लब्धि खिल जाती है कि श्रुतकेवली जैसा ही निःशंक जवाब चाहे जैसे सूक्ष्मतत्त्वों में भी देवे। फिर भी उस उघाड का गर्व या महत्ता ज्ञानी को नहीं है। ज्ञानी की सच्ची शक्ति स्वसंवेदनमें है। स्वसंवेदन को पहिचाने उसे ज्ञानी के सच्चे महिमा का पता लगता है। किसी को बारह अंग का ज्ञान न हो तो भी स्वानुभव के जोर से मोक्षमार्ग को साधकर ज्ञाता केवलज्ञान को लेगा।

पराश्रित राग या पराश्रित ज्ञान मोक्षमार्ग नहीं है। स्वानुभूति का सामर्थ्य यही मोक्षमार्ग है। पराश्रय बगैर का ऐसा मोक्षमार्ग ज्ञाता ही साध सकता है, अज्ञानी तो उसे जान भी नहीं सकता। अहो, यह तो अर्हन्तों का - शूरवीरों का मार्ग है; यह कोई कायरों का मार्ग नहीं है। समस्त परभावों को हेय करके तथा शुद्धता को उपादेय करके खडा हो जाय ऐसा हरिका मार्ग है वह शूरवीरों का अर्थात् स्व का आश्रय करनेवालों का मार्ग है, उसमें कायरों का अरथात् पर का आश्रय करनेवालों का काम नहीं है। वीतरागी मोक्षमार्ग के लिये चुनौती देते हुए संत लोग कहते है कि अरे, राग को धर्म माननेवाले कायरजनो ! तुम लोग चैतन्य के वीतराग मार्ग पर चढ़ नहीं पाओगे... चैतन्य को साधने का स्वाधीन-पुरुषार्थ आप नहीं प्रगट कर पाओगे। स्वाधीन चैतन्य का तुम्हारा

पुरुषार्थ कहाँ गया ? तुम धर्म करने के लिये चल पड़े हो - तो चैतन्यशक्ति की वीरता अपने में प्रगट करो; उस वीतरागी वीरता द्वारा ही मोक्षमार्ग सधेगा। व्यवहार के राग की रुचि की मारे जीव को अन्तरस्वभाव में जाने का उमंग नहीं आता। अतः राग का रस छोंकर चैतन्यस्वभाव का उत्साह करो, - जिससे स्वसत्ता के अवलम्बन की तरफ ज्ञान झुके और मोक्षमार्ग को साध सके। अहो ! ऐसे स्वानुभवज्ञान से मोक्षमार्ग को साधनेवाले ज्ञानी महिमा की क्या बात !! उसकी दशा को पहिचाननेवाले जीव न्याल हो गये हैं !!

सुवाक्य

आनन्द का मार्ग भी आनन्दरूप है। मोक्ष परम आनन्दधाम है तथा उसका मार्ग भी आनन्दधाम में ही है। राग तो आकुलता का धाम है, वह कोई आनन्द का धाम नहीं है, अतः उसमें मोक्षमार्ग नहीं है। जैसे मोक्ष आनन्दस्वरूप है वैसे उसका मार्ग भी आनन्दस्वरूप है, उसमें आकुलता का स्थान नहीं है, उसमें राग का स्थान नहीं है। राग राग में है, परन्तु मोक्षमार्ग में नहीं है। जो भाव मोक्षमार्गरूप है उसमें राग का अभाव है। राग आनन्ददाता नहीं है, परन्तु दुःखदाता है; मोक्षमार्ग तो आनन्ददाता है, वह दुःखदाता नहीं है।

प्रकरण - १८

उपसंहार

देखो, ये पंडित बनारसीदासजीने इस वचनिका में ज्ञानी की चाल अर्थात् ज्ञानी की दशा कैसी है, वह किस तरह मोक्षमार्ग को साधता है, इस सम्बन्ध में बहुत कहा; ज्ञानी की अद्यात्मपद्धति की महिमा बहुत प्रकार से समझाकर मोक्षमार्ग को स्पष्ट किया। अब अन्त में उपसंहार करते हुए कहते हैं कि -

'इन वस्तुओं का विवेचन कहाँ तक लिखें ? कहाँ तक कहें ? - यह तो वचनातीत, इन्द्रियातीत, ज्ञानातीत (इन्द्रियज्ञान से पार) है, अतः इन विचारों को बहुत क्या लिखें ? जो ज्ञाता होगा, वह थोड़े लिखे को भी बहुत करके समझ लेगा। जो अज्ञानी होगा वह इस चिट्ठी को सुनेगा तो सही, परन्तु समझेगा नहीं। यह वचनिका यथायोग्य सुमतिप्रमाण, केवलीवचनानुसार है। जो जीव इसे सुनेगा, समझेगा, श्रद्धेगा उसे भाग्यानुसार (अर्थात् उसकी योग्यतानुसार) कल्याणकारी है।'

अहो ! ज्ञाता के सामर्थ्य की महिमा कोई अचिंत्य है; अध्यात्मपद्धतिरूप जो मोक्षमार्ग, अर्थात् अन्तर की शुद्धपरिणति, वह वचन से या विकल्प से पकड़ में आ सके ऐसी नहीं है। 'स्वभावः अतर्कगोचरः' तर्क से स्वभाव का पार पाया नहीं जा सकता, वह तो स्वानुभवगम्य है। अतः कहते हैं कि कितना लिखें ? अन्तर में बहुत महिमा भासित हुआ है, वह सारा शब्दों में आ नहीं सकता है। परन्तु जो जीव ज्ञाता होगा, पात्र होगा वह तो थोड़े शब्दों से ही अन्तर का रहस्य पकड़ लेगा। और जो अज्ञानी है - विपरीत रुचिवाला

है वह तो चाहे जितना कहने पर भी समझेगा नहीं, अन्तरदृष्टि की यह बात उसके हृदय में उतरेगी नहीं। इस चिट्ठी में परमार्थ का रहस्य भरा है इसलिये यह 'परमार्थ वचनिका' उतरेगी नहीं। इस चिट्ठी में परमार्थ का रहस्य भरा है इसलिये यह 'परमार्थ वचनिका' है। यह परमार्थ वचनिका केवली के वचनअनुसार है; तथायथायोग्य मेरी सुमतिपूर्वक लिखी है। इस चिट्ठी में कहे अध्यात्मभावों को जो समझेगा, उसका जरूर कल्याण होगा। मोक्षमार्ग क्या और बन्धमार्ग क्या, ये दोनों मार्ग की इसमें स्पष्ट भिन्न पहिचान कराई है. उसके अनुसार समझने से सम्यग्दर्शन हो तथा स्वाश्रित अद्यात्मपद्धति प्रगट हो, अर्थात् मोक्षमार्ग शुरु हो, यही अपूर्व कल्याण है.

इस वचनिका के परमार्थभावों को समझकर सब जीव अपूर्व कल्याण को प्राप्त करों।

इस प्रकार पंडित श्री बनारसीदासजी द्वारा लिखित अध्यात्मरसभरपूर परमार्थ वचनिका के ऊपर करीब ४०० वर्ष बाद पूज्य श्री कानजीस्वामी के मोक्षमार्ग-प्रदर्शक प्रवचन पूर्ण हुए... वे मुमुक्षु जीवों की स्वाश्रित-मोक्षमार्ग की भावना को पूर्ण करो।

अध्यात्मपद्धतिरूप परिणमित सन्तों को नमस्कार हो।

अध्यात्म सन्देश

[२]

स्वाधीन परिणमन और मोक्षमार्ग

श्रीमान पंडित श्री बनारसीदासजी-लिखित
उपादान-निमित्त की चिट्ठी के ऊपर
पूज्य श्री कानजीस्वामी के प्रवचन

सुवाक्य

भाई ! संतोने स्वयं ने आत्मा में जो किया वही तुझ को बता रहे हैं। अहा ! आत्मा के स्वानुभव से मोक्ष को साधने का ऐसा अवसर तुझे हाथ में आया है.... इसलिये है जीव ! तू जाग... और तेरे उपादान की सुध है। शुभ से आगे जाकर शुद्धता की अपूर्व धारा उल्लसित कर। संतो के प्रताप से सब अवसर आ चुका है।

प्रकरण - १

उपादान-निमित्त की व्याख्या तथा उसके प्रकार

पंडित श्री बनारसीदासजी ने दो चिट्ठी लिखी है - एक तो परमार्थ वचनिका और दूसरी उपादान-निमित्त की चिट्ठी। परमार्थ-वचनिका में संसारी जीव की तीन अवस्थाएँ - अज्ञानदशा, साधकदशा और केवलज्ञानदशा तथा उसके निश्चयव्यवहार; आगमपद्धति तथा अध्यात्मपद्धति अर्थात् संसारमार्ग और मोक्षमार्ग; सम्यग्दृष्टि-ज्ञाता के विचार तथा वह किस तरह मोक्षमार्ग साधता है उसका वर्णन; मिथ्यादृष्टि क्यों मोक्षमार्ग को साध नहीं सकता है उसका वर्णन; हेय-ज्ञेय-उपादेय का स्वरूप; ज्ञान का एवं मोक्षमार्ग का स्वावलम्बीपना - इन सब का बहुत स्पष्टीकरण किया है। यह `परमार्थ वचनिका' पढ़ ली गई है। अब दूसरी चिट्ठी उपादान-निमित्त की है, वह पढ़ी जा रही है।

`प्रथम ही कोई पूछे कि निमित्त क्या ? उपादान क्या ? उसका विवरणः निमित्त तो संयोगरूप कारण, उपादान वस्तु की सहज शक्ति।'

देखो, यह उपादान-निमित्त की परिभाषा। बिल्कुल संक्षिप्त में स्पष्टता कर दी है। वस्तु की जो सहज शक्ति है वह उपादान है। और वह उपादान अपनी सहजशक्ति द्वारा जब कार्य कर रहा हो तब जो संयोगरूप कारण होते हैं वह निमित्त है। उपादान माने वस्तु की सहजशक्ति - ऐसा कहा उसमें सिर्फ त्रिकालीशक्ति न समझना परन्तु द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों की शक्ति सो उपादान है। और पर संयोग वह निमित्त है।

उपादान क्या, निमित्त क्या, इस तरह दोनों का स्वरूप जानने की जिज्ञासा जिसे जगी है, और उसका स्वरूप पूछ रहा है उसे यह बात समझाते हैं। उपादान व निमित्त दोनों वस्तु भिन्न; एग स्वभावरूप दूसरी संयोगरूप। उपादान-

निमित्त के सात दोहरे में भी 'पंडित बनारसीदासजी' कहते हैं कि -

उपादान निजगुण जहां तहां निमित्त पर होय;
भेदज्ञान परवानविधि विरला बूझे कोय।।४।।

भैया भगवतीदासजी भी उपादान-निमित्त के दोहरे में कहते हैं कि -

उपादान निजशक्ति है जीव को मूल स्वभाव;
है निमित्त परयोग तें बन्यो अनादि बनाव।।३।।

यहाँ निमित्त को संयोगरूप कहा; इसके अतिरिक्त दूसरे प्रकार में अपने ही अपने में गुणभेदकल्पना करके गुणों में परस्पर निमित्तपना कहेंगे, अर्थात् एक ही द्रव्य के भावों में उपादान व निमित्त दोनों बतायेंगे। जैसे कि जीव में ज्ञान और चारित्र दोनों गुणों का परिणमन सहकारीरूप में एक साथ वर्त रहा है उसमें चारित्र का उपादान के रूप में तथा ज्ञान का निमित्त के रूप में वर्णन करेंगे, और उस में शुद्ध-अशुद्धपने की चौभंगी उतारेंगे।

यहाँ पहले उपादान-निमित्त की परिभाषा करके दो द्रव्य की भिन्नता बता रहे हैं। जो वस्तु अपनी सहज शक्ति द्वारा कार्यरूप परिणमन करती है वह उपादान है। और जो वस्तु स्वयं कार्यरूप परिणमन नहीं करती परन्तु संयोगरूपहोती है वह निमित्त है। जैसे मोक्षमार्ग का उपादान शुद्धात्मा स्वयं, और बाहर में देव-शास्त्र-गुरु इत्यादि संयोग वह निमित्त; घड़ा बनने की सहजशक्ति मिट्टी की और कुम्हार-चक्र इत्यादि संयोग वे निमित्त। इस प्रकार उपादान व निमित्त दोनों भिन्न भिन्न हैं, और भिन्न वस्तुएँ एक दूसरे में कुछ करती नहीं है, एक-दूसरे को परिणमित नहीं करती - यह सिद्धांत समझ लेना।

- उपादान माने क्या ?

- वस्तु की सहजशक्ति वह उपादान; उसमें अपने द्रव्य-गुण-पर्याया तीनों आ गये।

- निमित्त माने क्या ?

- संयोगरूप कारण वह निमित्त; वह अपने से भिन्न परवस्तु है।

अपने द्रव्य-गुण-पर्याय वह निश्चयकारण; संयोगरूपकारण वह व्यवहारकारण; व्यवहार कहो या निमित्त कहो।

- संयोगीकारण कार्य में कुछ करते हैं ?

- - नहीं करते।

- यदि कुछ करते नहीं तो फिर उनको कारण क्यों कहा ? कारण तो उसे कहा जाता है कि जो कार्य में कुछ करे ?

- संयोग को उपचार से कारण कहा है,वह वास्तव में कारण नहीं है। कौन से कार्य के समय कैसा संयोग होता है यह बताने के लिये संयोग को भी आरोप लगाकर कारण कहा है, वास्तव में कार्य में वह कुछ करता नहीं है। कार्य तो उपादान अकेला अपनी सहजशक्ति से करता है।

- यदि अकेले उपादान से कार्य होता है तो फिर निमित्त की क्या जरूरत रह गई ?

- कार्य होने के काल में उसका अस्तित्व है यह बताया, उसमें जरूरत की बात कार्य है ? इसको (उपादान को) उसकी सहायता की जरूरत न हो इससे क्या जगत में से उसका अस्तित्व मिट जाये क्या ? कार्य की विशेषता अनुसार संयोग में कैसी विशेषता होती है यह बताने के लिये निमित्तों का वर्णन किया है; लेकिन कार्य में उसका कर्तृत्व बताने के लिये कोई उसे `निमित्तकारण' नहीं कहा। निमित्त तो `धर्मास्तिकायवत्' है। - जैसे अपनी सहजशक्ति से गति कर रहे पदार्थों को निमित्तकारण धर्मास्तिकाय है, परन्तु वह पदार्थों को निमित्तकारण धर्मास्तिकाय है, परन्तु वह पदार्थों को कोई गतिकार्य करवाता नहीं है। सभी निमित्तों में भी उस प्रकार अकर्तापना समझ लेना।

जीव सम्यग्दर्शनादि निर्मल पर्याय प्रगट करे वह अपनी सहज शक्ति से प्रगट करता है, और देव-गुरु-शास्त्र इत्यादि का बाह्य संयोग उसमें निमित्त है, एवं रागादि विकार भी स्वयं करता है तब कर्म इत्यादि दूसरी चीजों का संयोग निमित्त है। पर्याय अशुद्ध हो या शुद्ध हो - उसके अन्दर उसकी स्वयं की

कार्यशक्ति है। किसी को ऐसा लगे कि द्रव्य में ही शक्ति होती है और पर्याय में शक्ति नहीं होती, तो वह ठीक नहीं है। पर्याय में भी उस समयपर्यंत कार्य करने की शक्ति है।

अब उपादान - निमित्त के दो प्रकार कह रहे हैं -

(१) द्रव्यार्थिक निमित्त - उपादान

(२) पर्यायार्थिक निमित्त - उपादान

'द्रव्यार्थिक निमित्त-उपादान यह गुणभेद कल्पानारूप है; पर्यायार्थिक निमित्त-उपादान यह परसंयोग कल्पनारूप है।'

(इन दोनों में यौभंगी कहेंगे)

देखो, यह उपादान-निमित्त की दो शैली।

(१) एक ही द्रव्य में गुणभेद करके उसमें उपादान-निमित्त लागू करना वह द्रव्यार्थिक निमित्त-उपादान है; उसमें उपादान और निमित्त दोनों अपने ही अपने में हैं।

(२) भिन्न-भिन्न द्रव्य में लागू हो वह पर्यायार्थिक निमित्त-उपादान है; उस में उपादान स्व है और निमित्त परसंयोग है।

यहाँ पर द्रव्यार्थिक माने द्रव्य, और पर्यायार्थिक माने पर्याय, ऐसा अर्थ नहीं है, परन्तु उपादान-निमित्त दोनों एक ही द्रव्य के आश्रय से हो उसे यहाँ द्रव्यार्थिक कहा है, और भिन्न भिन्न द्रव्य के आश्रय से हो उसे यहाँ पर्यायार्थिक कहा है।

अब उस में गुणभेद कल्पनारूप जो द्रव्यार्थिक उपादान-निमित्त है उसमें चौभंगी कह रहे हैं, तो सुनो।

जिसे स्वभाव का रंग लगा उसे परभाव की बात रूचती नहीं है। आत्मा के स्वभाव का जिसे रंग लगा उसे स्वभाव की बात ही अपनी लगती है और परभाव की बात परायी लगती है; इसलिये स्वभाव की तरफ ही उसे उल्लास आता है और परभावों में उसे उल्लास नहीं आता। ऐसा जीव परभावों से भिन्न होकर शुद्ध स्वभाव का अनुभव करता ही है, क्योंकि उसे रंग लगा है स्वभाव का।

प्रकरण - २

एक ही द्रव्य में उपादान व निमित्त; उस सम्बन्ध में चारित्र व ज्ञान का दृष्टान्त

'जीवद्रव्य उसके अनन्तगुण, सभी गुण असहाय, सदाकाल स्वाधीन; उसमें दो गुणों को प्रधानरूप में स्थापित किये; उसके ऊपर चौभंगी का विचार। एक तो जीव का ज्ञानगुण, और दूसरा जीव का चारित्रगुण। ये दोनों गुण शुद्धरूप जानना, अशुद्धरूप भी जानना; यथायोग्य स्थानक मानना।... इन दोनों की गति न्यारी न्यारी, शक्ति न्यारी न्यारी, जाति न्यारी न्यारी, सत्ता न्यारी न्यारी।'

जगत में अनन्त जीव हैं, प्रत्येक जीव में अनन्त गुण है; वे सभी ही गुण असहाय है, उनके परिणमन में पर की तो सहाय नहीं है, तथा अपने गुणों में भी परस्पर एक दूसरे की सहायता नहीं है। दूसरे की सहायता के बिना प्रत्येक गुण सदाकाल स्वाधीनरूप से परिणतमित हो रहा है, ऐसी उसकी सहज शक्ति है। जीव के अनन्ते गुणोंमें से, यहाँ चौभंगी समझाने के लिये ज्ञान और चारित्र ये दो गुण मुख्यतापूर्वक लिये हैं। और वे दोनों गुण शुद्ध तथा अशुद्ध पर्यायरूप जानना। इस प्रकार कुल चार भंग हुए :

(१) ज्ञान की शुद्धपर्याय (२) ज्ञान की अशुद्धपर्याय

(३) चारित्र की शुद्धपर्याय (४) चारित्र अशुद्ध पर्याय।

इन में से चारित्र को उपादानरूप तथा ज्ञान को निमित्तरुप गिनकर चौभंगी

कहेंगे। परन्तु इससे पहले इन दोनों गुणों में भिन्नत्व किस प्रकार से है यह बता रहे हैं।

वस्तुपने से अनन्त गुण अभेद होने के बावजूद यहाँ उसमें गुणभेद-कल्पना से उपादान-निमित्तपना बताना है। इसलिये कहते हैं कि ज्ञान और चारित्र इन दोनों की गति अलग है। इसलिये दोनों का परिणमन भिन्न भिन्न प्रकार का है, दोनों की शक्ति भिन्न है अर्थात् दोनों का कार्य भिन्न है, दोनों की जाति भिन्न है और दोनों की सत्ता भिन्न है; द्रव्य अपेक्षा से एक सत्ता है परन्तु गुणअपेक्षा से भिन्न भिन्न सत्ता है। इस तरह दोनों में भिन्नता है। देखो, पर से तो अत्यंत भिन्नता है और अपने में भी एक गुण को दूसरे गुण से भिन्नता है; प्रदेशभेद नहीं है परन्तु गुणभेद है। अब ज्ञान तथा चारित्र की भिन्नता के प्रकारों का विवेचन करते हैं -

`ज्ञानगुण की तो -

ज्ञान अज्ञानरूप गति,
स्वपर प्रकाशक शक्ति।
ज्ञान (सम्यक्)रूप तथा मिथ्यात्वरूप जाति,
द्रव्यप्रमाण सत्ता।

परन्तु एक विशेषता इतनी कि ज्ञानरूप जाति का नाश नहीं होता, जब कि मिथ्यात्वरूप जाति का नाश सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति होने पर हो जाता है। यह तो ज्ञानगुण का निर्णय हुआ।

चारित्रगुण का विवेचन कहते हैं -

संकलेश विशुद्धरूप गति,
स्थिरता-अस्थिरता शक्ति,
मंद-तीव्ररूप जाति,
द्रव्यप्रमाण सत्ता।

परन्तु इसमें एक विशेषता किक मन्दता की स्थिति चौदहवें गुणस्थानपर्यन्त

होती है और तीव्रता की स्थिति पाँचवें गुणस्थान तक होती है। यह तो दोनों के गुणभेद न्यारे न्यारे कहें।'

१. गति :- गति अर्थात् परिणति, पर्याय; ज्ञान की गति माने ज्ञान का परिणमन दो दो प्रकार से - एक ज्ञानरूप, दूसरा अज्ञानरूप। ज्ञानरूप से या अज्ञानरूप से ज्ञानगुण अपने कारण से ही परिणमता है। तथा चारित्रगुण की गति संकलेशरूप अथवा विशुद्धरूप है। यहाँ संकलेश माने अशुभ, तथा विशुद्ध अर्थात् शुभ तथा शुद्ध दोनों (जो गालु पड़े सो) समझना। इस प्रकार संकलेश अथवा विशुद्ध परिणामरूप परिणमित होने की शक्ति चारित्रगुण की है।

देखो, ज्ञान के परिणाम ज्ञानरूप या अज्ञानरूप और चारित्र के परिणाम संकलेशरूप या विशुद्धरूप - इसमें जगत के सभी जीवों के परिणाम समा गये। जगत के अनंतानंत जीवों के ज्ञान-चारित्र से संबंधित जितने परिणाम है वे सारे ही इस चार बोल में समा गये।

२. शक्ति :- ज्ञान की शक्ति तो स्व-पर प्रकाशक है; स्व-पर को जाने ऐसी ज्ञान की शक्ति है, परन्तु दूसरे का कुछ कर दे - ऐसी शक्ति आत्मा के एक भी गुण में या पर्याय में नहीं है। 'स्वपरप्रकाशक शक्ति हमारी...' ज्ञान अपनी सहज शक्ति से स्व-पर को जानता है, उसमें दूसरे की मदद नहीं है। और स्थिरता या अस्थिरतारूप भाव वह चारित्र की शक्ति है। शक्ति अर्थात् गुण का कार्य। ज्ञान का कार्य क्या ? कि स्व-पर को जानना; चारित्रगुणका कार्य क्या ? कि स्थिरतारूप या अस्थिरतारूप परिणमन करना। चारित्रगुण अस्थिरपरिणतिरूप भी अपने उपादान भाव से परिममित होता है, और स्थिरतारूप भी अपने से ही परिणमित होता है। वह उसकी शक्ति है। इस प्रकार ज्ञान और चारि्तर दोनों की भिन्न भिन्न शक्ति है।

३. जाति :- ज्ञान के परिणमन का प्रकार सम्यक्‌रूप अथवा मिथ्यात्वरूप ऐसे दो जाति का है, अतः ज्ञान की सम्यक् और मिथ्या ऐसे दो जाति है। उसमें सम्यग्दर्शन होते ही मिथ्याज्ञान की जाति का नाश हो जाता है, किन्तु ज्ञानजाति का कभी नाश नहीं होता, इसलिये सम्यग्ज्ञान का नाश नहीं होता,

अथवा तो ज्ञान की जाति पलटकर कभी जड़ नहीं हो जाती, ज्ञान की जाति हमेशा ज्ञानरूप ही रहती है। सम्यग्दर्शन से पूर्व वह मिथ्याज्ञानरूप है, और सम्यग्दर्शन होने पर वह सम्यग्ज्ञानरूप है। इस प्रकार सम्यक् व मिथ्या ये दो जाति है. और, चारित्रगुण के परिणमन में तीव्ररूप अथवा मन्दरूप ये दो जाति हैं। यहाँ पर तीव्रता तथा मन्दता दोष की अपेक्षा से समझना, शुद्धता की अपेक्षा से तीव्रता या मन्दता मत समझना, क्योंकि तीव्रता पाँचवे गुणस्थान तक कही है और मन्दता चौदहवे गुणस्थान तक कही है। पाँचवें गुणस्थान तक तीव्रता कही इसलिये वहाँ अकेली तीव्रता मत समझना, मन्दता भी वहाँ होती है। पाँचवे से ऊपर तीव्रता नहीं होती; मन्दता १ से १४ गुणस्थान तक और तीव्रता १ से ५ गुणस्थान तक होती है। द्रव्य के सभी गुण अभी शुद्ध नहीं हुए उस अपेक्षा से १४ वें गुणस्थान तक चारित्र की अपूर्णता गिनी गई है; और इसलिये वहाँ तक संसार है; सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र इन तीनों की पूर्णता होने पर उस समय मोक्ष कहा है। चारित्र का ऐसा परिणमन अपनी ही शक्ति से होता है, दूसरे गुण के कारण भी वह नहीं है तो फिर कर्म इत्यादि दूसरे द्रव्य के कारण चारित्र में दोष होता है - यह बात कहाँ रही? वस्तु का परिणमन सदाकाल स्वाधीन है, वह दूसरे के कारण मानना यह मूढता है। निगोददशा से लेकर चौदहवें गुणस्थान के अन्तिम समय तक चारित्र के परिणमन के जितने प्रकार हैं वे सभी ही पर से असहायतापूर्वक चारित्रगुण के अपने कारण से ही है; चारित्रगुण स्वयं उसका उपादान है।

४. सत्ता :- ज्ञान की सत्ता आत्मद्रव्यप्रमाण है, और चारित्र की सत्ता भी आत्मद्रव्यप्रमाण है। एक ही द्रव्य के ये दोनों गुण हैं अतः दोनों की सत्ता द्रव्यप्रमाण है, द्रव्यअपेक्षा से दोनों की सत्ता एक है, परन्तु गुणअपेक्षा से दोनों की सत्ता भिन्न-भिन्न है। प्रदेश दोनों के कोई भिन्न भिन्न नहीं है, किन्तु भावअपेक्षासे भिन्नता है। इस प्रकार ज्ञान तथा चारित्र के गुणभेद जानना। गति, शक्ति, जाति और सत्ता ये चार प्रकार बताकर ज्ञान तथा चारित्र की भिन्नता का वर्णन किया। अब उसकी व्यवस्था अर्थात् मर्यादा बता रहे हैं।

प्रकरण - ३

उपादान-निमित्त की स्वाधीनता का विस्तृत विवेचन

`ज्ञान चारित्र के अधीन नहीं है, और चारित्र ज्ञान के अदीन नहीं है। दोनों असहयारूप है। यह तो मर्यादा बांधी।'

देखो, यहाँ विषय क्या है ? एक ही वस्तु में उपादान और निमित्त दोनों किस प्रकार लागू होते हैं, यह बात ज्ञान तथा चारित्र का दृष्टान्त देकर यहाँ समझायी है। परन्तु इससे पहले उन दोनों गुण की स्वतंत्रता की मर्यादा बांधते हैं। स्वतंत्रता स्थापित करके फिर दोनों में उपादान-निमित्तत्व किस प्रकार है यह कहेंगे। इस तरह सर्वत्र उपादान-निमित्त इन दोनों की स्वतंत्रता समझ लेना। दोनों की स्वतंत्रता को स्वीकार किये बिना उपादान-निमित्त का सच्चा ज्ञान होता नहीं। ऐसी वस्तुव्यवस्था है, वस्तु की स्थिति है, वस्तु की मर्यादा है।

ज्ञान चारित्र के अधीन नहीं है, चारित्र ज्ञान के अदीन नहीं; सर्व गुण असहाय है। देखो, यह वस्तुस्वरूप की मर्यादा ! एक द्रव्य में त्रिकाल साथ में रहनेवाले जो गुण वे भी एकदूसरे की सहाय बगैर के स्वाधीन है, तो फिर तीनों काल भिन्न रहनेवाले पदार्थ एक-दूसरे को सहाय करे - वह बात कहाँ रही ? - अतः एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ करे यह बात वस्तुस्वरूप की मर्यादा से बाहर है। वस्तु स्वाधीनतापूर्वक परिणमती है यह वस्तुस्वरूप की व्यवस्था है, और जिसने ऐसा वस्तुस्वरूप निश्चित किया उसकी ही मति व्यवस्थित है। सभी ही तीर्थंकर भगवंतो का अनुभव किया हुआ तथा बताया हुआ मोक्षमार्ग कैसा है उसका दृढ़ निर्णय करके तथा स्वयं वैसे मोक्षमार्गरूप परिणमित होकर `प्रवचनसार' में आचार्यदेव कहते हैं कि मेरी मति व्यवस्थित हुई है। मोक्षमार्ग

आधारित किया है... कृत्य (करने लायक) किया जा रहा है। मार्ग के निर्णय में जिसकी भूल है, वस्तुस्वरूप में जिसकी भूल है उसकी मति व्यवस्थित नहीं है, किन्तु डावांडोल है, अर्थात् मिथ्या है।

यहाँ एक ही द्रव्य के आश्रित उपादान-निमित्त बताने के लिये ज्ञान और चारित्र ये दो गुण दृष्टांतरूप लिये हैं। उन दोनों को असहाय कहा।

प्रश्न :- दोनों गुणों को असहाय कहा, परन्तु सम्यग्ज्ञान बिना तो सम्यक्चारित्र कभी होता नहीं है, तो चारित्र का परिणमन ज्ञान के अधीन हुआ या नहीं?

उत्तर :- सम्यग्ज्ञान के बगैर सम्यक्चारित्र नहीं होता - यह तो ठीक है, परन्तु वह तो कौन-सा गुण कब परिणमता है इसका ज्ञान किया; इस वज़ह से चारित्र का पररिणमन कोई ज्ञान के अधीन हो गया - ऐसा नहीं है। डूज के बाद ही पूनम उगती है इसलिये क्या पूनम दूज के अधीन हो गई ? वैसे सम्यक्चारित्रपर्याय सम्यग्दर्शन-ज्ञान के बाद ही खिलती है, इस वज़ह से कोई वह चारित्रपर्याय दर्शन-ज्ञान के अदीन हो नहीं गई है; उसका स्वतंत्र परिणाम वैसा है। किसी को सम्यग्दर्शन-ज्ञान के बाद तुरन्त ही चारित्रपर्याय खिल जाती है और किसी को सम्यग्दर्शन-ज्ञान होने के बावजूद चारित्र-पर्याय के खिलने में असंख्यात् वर्ष बीत जाय। - चारित्र का उस प्रकार का परिणमन स्वाधीन है। रविवार के बाद ही सोमवार आये, इसको लेकर सोमवार कोई रविवार के अधीन हो गया ? - नहीं; वह तो सात वार है उनके क्रम की पहिचान कराने के लिये बात है। वैसे सम्यग्दर्शन के बिना सम्यक्चारित्र नहीं होता, सम्यग्दर्शनपूर्वक ही सम्यक्चारित्र होता है - ऐसा बताने के लिये चारित्र भी सम्यग्दर्शन के अधीन है - ऐसा कभी कहा जाता है, परन्तु वह तो गुणों के परिणमन का क्रम बताने के लिये बात है। कोई सम्यग्दर्शन के बिना चारित्र लेना चाहे तो वह गुणों के परिणमन के क्रम को समझा नहीं है, एवं गुणों के स्वाधीन परिणमन की भी उसे खबर नहीं है।

वस्तु के अनन्त गुणोंमें से जिसकी मुख्यतापूर्वक कथन करना हो, उसे उपादान कहा जाता है तथा दूसरे को निमित्त कहा जाता है। जैसे सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान

दोनों की उत्पत्ति तो एक साथ ही है, फिर भी उसमें सम्यग्दर्शन को मुख्य करके उसे कारण कहा और सम्यग्ज्ञान को कार्य कहा; वैसे वस्तु में अनन्त गुण एकसाथ कार्य कर रहे हैं परन्तु उसमें जब जिस गुण की मुख्यता से बात करनी हो उसे उपादान कहा जाता है तथा दूसरे को निमित्त कहा जाता है, - ऐसी अन्दरुनी शैली है।

जैसे बाह्यनिमित्त तो संयोगरूप परवस्तु है, वैसे अन्तर के गुणों में परस्पर निमितत्त्व, वह कोई परवस्तु के माफिक संयोगरूप नहीं है, वह तो स्ववस्तुरूप है, परन्तु गुणभेदकल्पना से मुख्य-गौण करके उसमें उपादान-निमित्तत्व उतारते हैं (लागु करते हैं)। मुख्य सो उपादान और निमित्त सो गौण; जैसे मोक्षमार्ग में मुख्य वह निश्चय, अर्थात् वह ही सच्चा मोक्षमार्ग, और गौण सो व्यवहार अर्थात् वह सच्चा मोक्षमार्ग नहीं; वैसे यहाँ कारण में उपादान सो मुख्य अर्थात् वह ही सच्चा कारण, और निमित्त सो गौण अर्थात् वह सच्चा कारण नहीं, - ऐसे सिद्धांत समझना।

अभी यहाँ पर बाहर के उपादान-निमित्त की बात नहीं चल रही; अपने में ही उपादान-निमित्त बताने हैं, उसकी भूमिकारूप सर्व गुणों की स्वाधीनता, असहायता बताकर मर्यादा बाँधते हैं। एक वस्तु में अनन्त गुण हैं परन्तु उसमें कोई किसी के अधीन नहीं है। ज्ञान है इसलिये श्रद्धा है, या श्रद्धा है इसलिये चारित्र है, ऐसा नहीं है। ज्ञान का कार्य ज्ञान करता है, श्रद्धान करने का कार्य श्रद्धा करती है, आचरण का कार्य चारित्र करता है, सभी गुण परस्पर असहाय है। ऐसे जगत में अनन्त द्रव्य है उसमें; कोई किसी (अन्य) के कारण से नहीं है; जीव है इसलिये पुद्गल है, या पुद्गल है इसलिये धर्मास्तिकाय इत्यादि है, ऐसा नहीं है। प्रत्येक द्रव्य अपने द्रव्य-गुण-पर्याय से है, जीव जीव के द्रव्य-गुण-पर्याय से है; अजीव अजीव के द्रव्य-गुण-पर्याय से है; सभी द्रव्य परस्पर असहाय है; प्रत्येक द्रव्य स्वसहायी है और वह पर से असहाय है। कोई द्रव्य परसे सहाय लेता नहीं है या पर को सहाय देता नहीं है। 'परस्पर अनुग्रह' इत्यादि कथन उपचार से है, उस-उस प्रकार के निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध का

ज्ञान कराने के लिये है; परन्तु वस्तुस्वरूप की मर्यादा समझे तो ही उस उपचार का सच्चा ज्ञान हो सकता है। पर से निरपेक्ष तथा स्वयं से सापेक्ष- यह वस्तुस्वरूप की मर्यादा है।

निगोद का जीव ऊपर उठकर मोक्षमार्ग के योग्य होने तक आया वह किस रीति से ? निमित्ताधीन दृष्टिवाला कहेगा कि कर्म का जोर मंद पड़ा इसलिये वह ऊपर उठा। यहाँ कहते हैं कि उसका चारित्रगुण ही अपनी उपादान शक्ति से मन्दकषायरूप परिणमित होकर ऊपर आया है।

जीव निगोद में क्यों रहा ? - कि स्वयं के भावकलंक की प्रचुरता की वज़ह से।

जीव निगोद में से ऊपर कैसे उठा ? - कि स्वयं के चारित्रगुण की वैसी शुभगति की वज़ह से।

दोनों में स्वयं का ही स्वतंत्र उपादान है। स्वयं की पर्याय के दोष को नहीं देखकर, निमित्त के सिर पर दोष थोप देना, यह अज्ञानी की अनीति है। एवं निमित्त के अधीन अपने गुण मानना वह भी अनीति है; अनेकान्त नीति से (अर्थात् जैनसिद्धांत से) वह विरुद्ध है। अनेकान्त जैननीति तो ऐसा कहती है कि तेरे द्रव्य-गुण-पर्याय की अस्ति में पर की नास्ति है, अतः निमित्त कोई तेरे गुणदोष का कर्ता नहीं है। - तीनों काल का तथा सारे ही पदार्थों को उत्पन्न करे। निमित्त तो एक तरफ खड़ा है, वह कोई किसी के कार्य में दखल नहीं देता। निमित्त तेरा न शत्रु है, न मित्र है, तू ही ओंधे भाव करके तेरा शत्रु और सुल्टे भाव करके तेरा मित्र है। उल्टे भाव द्वारा तेरे आत्मा को संसार में डूबानेवाला शत्रु भी तू, और सुल्टे भाव करके तेरे आत्मा को तारनेवाला मित्र भी तू। वाह ! कैसी स्वाधीनता ! वस्तुस्वरूप की जो स्वाधीनता है वही सर्वज्ञदेवने जानी है और प्रसिद्ध की है, उसे ही सन्तोंने जाहिर किया है। सर्वज्ञदेव की जानी हुई और कही हुई वस्तुस्वरूप की यह मर्यादा। किसी के द्वारा भेदी जा सकती नहीं है। सीमंधरनाथ की दिव्य वाणी को झीलकर (उठाकर, ग्रहण करके) `समयसार' में `कुन्दकुन्दाचार्यदेव' फरमाते हैं कि... स

खलु अचलितस्य वस्तुस्थितिसीम्जो भेतुमशक्यत्वात् तस्मिन्नेव वर्तेत... अर्थात् वास्तव में अचलित वस्तुस्थिति की मर्यादा को तोड़ना अशक्य होने की वज़ह से वस्तु अपने द्रव्य-गुण में ही वर्तती है, अन्य द्रव्य या गुणरूप होती नहीं है, अतः वह अन्यवस्तु में या उसके गुणपर्याय में कुछ नहीं कर सकती। - यह वस्तु की अचल मर्यादा है। (देखो `समयसार' गाथा १०३ और टीका) निगोद से लेकर सिद्ध तक, प्रत्येक जीव की प्रत्येक पर्याय स्वतंत्र, उसमें कही भी यह मर्यादा टूटती नहीं है।

एक वस्तु के अनेक गुण जिनको प्रदेशभेद नहीं है, वे भी परस्पर एक-दूसरे के कार्य को करते नहीं है, तो फिर भिन्नवस्तु कि जिनको अत्यंत प्रदेशभेद है वे एक-दूसरे का कार्य करे यह बात तो कहाँ रही ? अरे जीव ! एकबार अपनी स्वाधीनता को देख। तुझे अपनी स्वाधीनपरिणमन की बात बैठे तो शाबाशी! अर्थात् यदि ऐसे स्वाधीनपरिणमन की बात बैठी तो तेरा परिणमन अंतर्लक्ष की तरफ झुका; और अपूर्व सम्यक्‌दशारूप मोक्षमार्ग प्रगट हुआ, अतः तेरे को शाबाशी ! अपनी स्वतंत्रता भी जिसे नहीं पसन्द उससे तो क्या कहें ? उसका तो अनादि से उस प्रकार का परिणमन चल ही रहा है। स्वरूप की अंतर्दृष्टि से अपूर्वदशा प्रगट करे उसकी बलिहारी है।

यहाँ तो गुणभेद द्वारा स्वद्रव्य में ही उपादान-निमित्त की बात करके, पर के साथ का सम्बन्ध तो तोड़ डाला है, पर से अत्यंत भिन्नता समझा करके स्व का लक्ष कराया है। एक ही द्रव्य के आश्रय से दो गुण, फिर भी एक जानने का काम करे, एक जमने का काम करे; एवं एक गुण की अनेक पर्यायें - उसमें कोई अशुद्ध, कोई शुद्ध - ऐसा ही विचित्र वस्तुस्वरूप है; उसमें दूसरे का कारणत्व नहीं है। द्रव्यगुणप्रयाय स्वरूप वस्तु पर से निरपेक्ष है असहाय है। अभी तो पर की सहाय से काम करना है - उसे अन्दर का यह असहायपना कैसे जचेगा ? भाई ! तेरे में भी तेरे एक गुण कों दूसरे गुण की मदद नहीं है, तो फिर पर की mसहायता तो तुझे कैसी ? पराधीनता के भाव में तो तुने अनन्तकाल दुःख में गवाया, स्वाधीनता को तो एकबार देख। एक

क्षण तो स्वाधीनता की हवा ले ! तेरी स्वाधीनता की अचिंत्य महिमा को तूने जानी नहीं है, इसलिये निमित्ताधीन बुद्धि से तेरा उपयोग जहाँ तहाँ भटकता रहता है। उस भ्रमण को मिटाने की तथा स्वरूप में स्थिर होने की विधि संतजन बता रहे हैं।

शंका :- आप निमित्त से कार्य होना नहीं मानते हो, अर्थात् उसे अकिंचित्कर मानते हो, अतः आप निमित्त को ही नहीं मानते !

समाधान :- भाई ! निमित्त को पर में अकिंचित्कर मानना उसमें ही निमित्त का निमित्त के रूप में सच्चा स्वीकार है। वस्तु जिस प्रकार से हो वैसे उसे माननी चाहिए या चाहे जैसे अन्यथा भी मान ली जाय ? निमित्त को अकिंचित्कर नहीं मानकर उसे उपादान में किंचित् भी कार्यकारी माने उसने ही वास्तव में निमित्त को माना नहीं है। जैसे कुगुरुओं को मुनिरूप में न माने, इससे कोई अज्ञानी ऐसा कहे कि तुम मुनि को नहीं मानते हो - तो उसकी बात गलत है। मुनि का शुद्ध निर्ग्रंथ रत्नत्रयमय स्वरुप जैसा हो वैसा जानना और उससे विरुद्ध कुलिंगी को मुनि नहीं मानना इसमें ही मुनि की सच्ची मान्यता है। कुलिंगी को भी जो मुनि मान ले वह वास्तव में मुनि को मानता नहीं है। उसी प्रकार उपादान-निमित्त दोनों को स्वरूप जैसा हो वैसा जाने उसने ही उन दोनों को माना कहा जायेगा।

निमित्त की प्रधानता से कथन होता है, परन्तु कार्य कभी निमित्त द्वारा होता नहीं है। यदि निमित्त ही उपादान का कार्य करने लग जाय तो वह निमित्त स्वयं उपादान बन गया, अतः निमित्त निमित्त के रूप में रहा ही नहीं; और उपादान का स्थान निमित् ने ले लिया अतः निमित् से भिन्न उपादान भी नहीं रहा; इस प्रकार निमित्त से उपादान का कार्य मानने पर उपादान दोनों का लोप होता है। (इसी न्याय से, उपादान-निमित्त की भाँति निश्चय-व्यवहार में भी समझ लेना।) अतः कहते हैं कि उपादान तो कार्यरूप होनेवाली वस्तु की निजशक्ति है, और निमित्त परसंयोग है। ये उपादान-निमित्त दोनों स्वतंत्र है; प्रमाणअनुसार अर्थात् सम्यग्ज्ञान द्वारा उपादान-निमित्त की ऐसी स्वतंत्रता को कोई विरले ही

जानते हैं। जगत के ज्यादातर लोग तो इससे यह होता है और यह इसका करता है - ऐसे पराधीन निमित्तदृष्टि में रुक गया है, वह उपादान-निमित्त की स्वतंत्रता को जानता नहीं है; ज्ञानीलोग ही उसकी स्वतंत्रता को जानकर स्वाश्रितपने से मोक्षमार्ग को साधते हैं। लेकिन ऐसे जीव जगत में विरले ही होते हैं, ३५० वर्ष पूर्व `पंडित बनारसीदासजी'ने ही कहा है कि -

उपादान निजबल जहाँ तहाँ निमित्त पर होय।
भेदज्ञान परमाणविधि बिरला बूझे कोय।।

देखो, यह कौन कहता है ? `गोमट्टसार' सिद्धांत के अभ्यासी कहते हैं। `पंडितजी बनारसीदासजी' को `समयसार-गोमट्टसार' इत्यादि का अभ्यास था, उनका यह कथन है। उपादान-निमित्त दोनों को स्वतंत्र जाने तो ही उपादान-निमित्त का झगड़ा मिटे और स्वाश्रय से वीतरागता तथा केवलज्ञान हो। अज्ञानी तो सिद्ध को भी पराधीन करता है। शास्त्र में तो निमित्त का ज्ञान करने के लिये कहा कि, सिद्ध अलोक में क्यों नहीं जाते हैं ? - कि `धर्मास्तिकाय अभावात्' - वहाँ अज्ञानी तो सिद्ध को पराधीन ही मान बैठा, जैसे कि सिद्ध में अलोक में जाने की शक्ति पर्याय में थी वह धर्मास्तिकाय के अभाव के कारण रुक गई ! लेकिन सिद्ध की बात तो दूर रही, यहाँ तो निगोद तक के जीव का उदाहरण देकर जीव की पर्याय की स्वतंत्रता बता रहे हैं। सिद्ध की तो बात ही क्या ? वे तो परम स्वाधीन है। अरे, सिद्ध को भी पराधीन माने वह जीव स्वयं स्वाधीन किस दिन होगा ? उसे तो पराधीनदृष्टि की अत्यंत तीव्रता है। अन्दर के एक सूक्ष्म विकल्प की अधीनता भी मोक्षमार्ग में नहीं फसाती वहाँ सिद्ध को पराधीन माननेवाले को मोक्षमार्ग कैसा ? मोक्षमार्ग तो परम स्वाधीन है, पर से अत्यंत निरपेक्ष है। ऐसे मोक्षमार्ग को अज्ञानी जानता नहीं है।

मोटर के परमाणु पेट्रोल के बिना नहीं चलते - ऐसे अनेक स्थूल दृष्टांत निमित्ताधीन दृष्टिवाले देते हैं, परन्तु भाई ! मोटर के उन परमाणुओं में गमनशक्ति है या नहीं ? क्या उसे गमनशक्ति पेट्रोल के परमाणुओं ने दी है ? - नहीं;

एक परमाणु लोक के नीचे के सिरे से बिल्कुल ऊपर के सिरे तक एक समय में १४ राजू (अर्थात् करोड़ों अरबों नहीं परन्तु असंख्यात् योजन) तक पहुँच जाता है; वह गति उतनी त्वरित है कि छद्मस्थ को उसकी कल्पना तक में नहीं आ सकता, तो उन परमाणु को कौनसा पेट्रोल चलाता है ? वे परमाणु पेट्रोल के बिना चल रहे हैं या नहीं ? यजि चल रहे हैं तो उसके माफिक ये मोटर के परमाणु भी अपनी गमनशक्ति से तथा पेट्रोल के बगैर ही गति कर रहे हैं - ऐसा समझ। (गुरुता-लघुता-गमनता ये अजीव के खेल।) पर इस स्वतंत्रता की बात 'विरला बुझे कोय' अर्थात् अज्ञानियों को कठिन लगे ऐसी है, क्यों कि सर्वज्ञ का कहा हुआ द्रव्य-गुण-पर्यायरूप वस्तुस्वरूप उसने जाना नहीं है।

यहाँ अभी जीव के उपादान-निमित्त का प्रकरण है; परन्तु पुद्गल में भी उपादान की स्वतंत्रता समझ लेना। एक पुद्गल में वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शादि अनन्तगुण सभी में स्पर्शगुण समान, फिर भी किसी में रुखांश, किसी में चिकास, किसी में दो अंश, किसी में अनन्त अंश - ऐसे अनन्त प्रकार की विविधतारूप उसका स्वतंत्र परिणमन है; चार अंशवाला और दो अंशवाला - ऐसे दो परमाणु जहाँ स्कंधरूप हो वहाँ दोनो चारअंशरूप समान हो जाते हैं; वहाँ चार अंशवाले परमाणु ने कोई दो अंशवाले को चार अंशरूप परिणमन करवाया नहीं है। चार अंशवाला परिणामक और दो अंशवाला परिणम्य - ऐसा कहा तो जाता है परन्तु वास्तव में स्कंध होने के समय में तो दोनों परमाणु चार अंशरूप परिणमित हुए ही है, तब ही स्कंध हुआ है। एख चार अंशरूप और दूसरा दो अंशरूप रहे तब तक उनका स्कंध बनता नहीं। अतः स्कंध होने में भी दोनों परमाणुओं का अपना स्वतंत्र परिणमन है। ऐसी स्वतंत्रता जगत के सभी द्रव्यों में है।

दो द्रव्यों के बीच उपादान-निमित्त लागू करना वह पर्यायार्थिक दृष्टि का उपादान-निमित्त है, और एक ही द्रव्य के आश्रित उपादान-निमित्त हो वह द्रव्यार्थिक उपादान-निमित्त है। उसमें से अभी द्रव्यार्थिक उपादान-निमित्त की बात समझाने के लिये आत्मा के ज्ञान व चारित्र इन दो गुणों का दृष्टान्त लिया है। एक

द्रव्य में अनन्तगुण सहवर्ती है, वे सारे ही असहाय हैं, एकदूसरे के अधीन नहीं है।

प्रश्न :- जाने हुए का ही श्रद्धान होता है, बिना जानी चीज़ का श्रद्धान खरगोश के सींग के समान असत् है - ऐसा कहा है, - तो वहाँ श्रद्धागुण का परिणमन ज्ञान के अधीन हुआ या नहीं ?

उत्तर :- नहीं, आत्मा के स्वसंवेदन ज्ञान के बगैर कोई कहे कि मुझे सम्यग्दर्शन हुआ है तो वह सही बात नहीं है, इसलिये कहा है कि जाने हुए का ही श्रद्धान होता है। परन्तु इससे कोई श्रद्धा करने का काम ज्ञानगुण नहीं कर देता, ज्ञान तो जानने का ही काम करता है, और श्रद्धा करने का काम श्रद्धागुण करता है। दोनों गुण अपने अपने भिन्न भिन्न कार्य को करते हैं; कोई किसी के अधीन नहीं है। दो गुण का निर्मल कार्य एक साथ हो इससे कहीं एक-दूसरे के अधीन नहीं कहे जाते।

प्रश्न :- ज्ञायिक सम्यक्त्व तो केवली-श्रुतकेवली की समीपता के बिना प्राप्त नहीं होता, तो उसे असहाय कैसे कहा ?

उत्तर :- केवली-श्रुतकेवली के समीप में भी जिसे क्षायिकसम्यक्त्व होता है उसे स्वसहाय से ही होता है, उसमें पर की सहाय नहीं; पुनःश्च केवली-श्रुतकेवली के समीप में तो बहुत सारे समकिती जीव होते हैं उन सभी को तो कोई क्षायिक समकित हो नहीं जाता। क्यों ? कि उनकी श्रद्धा में वैसा उपादान जागा नहीं है। और जिसे क्षायिकसम्यक्त्व होता है उसे पर की सहाय के बिना ही अपने उस प्रकार के उपादान का अवलम्बन लेकर ही होता है; उसका अपना श्रद्धागुण ही वैसे क्षायिकभावरूप परिणमित होता है। पुनःश्च तीर्थंकर इत्यादि के जीव अन्य केवली श्रुतकेवली की समीपता के बिना भी क्षायिक सम्यक्त्वरूप परिणमन करते हैं; अतः उसमें पर की सहाय नहीं है। केवली-श्रुतकेवली की समीपता का नियम कहा वह तो जहाँ केवलज्ञान की या श्रुतकेवलज्ञान की उत्पत्ति की योग्यता नहीं है वहाँ क्षायिक समकित की उत्पत्ति की भी योग्यता होती नहीं है - ऐसा बताने के लिये कहा है। भरतक्षेत्र में जहाँ केवलज्ञान

का तथा श्रुतकेवलज्ञान का विच्छेद हुआ वहाँ क्षायिक सम्यक्त्व का भी विच्छेद हुआ। मनुष्य के सिवा अन्य जीव देव इत्यादि, केवली के समीप हो तो भी क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त कर सकते नहीं है, क्योंकि उनका उपादान ही उस प्रकार का नहीं है। उन तीनों गति में केवलज्ञान, श्रुतकेवलज्ञान या क्षायिक सम्यक्त्व की उत्पत्ति होती नहीं है, क्योंकि वैसी योग्यतावाले परिणाम का उनको अभाव है। इस प्रकार सर्वत्र उपादान का स्वसहायपने से ही कार्य की उत्पत्ति का अबाधित नियम है।

अभी तो भिन्न-भिन्न द्रव्य के उपादान-निमित्त की स्वतंत्रता भी लोगों को बैठना कठिन हो जाता है; यहाँ तो अन्दर ही अन्दर के उपादान-निमित्त की स्वतंत्रता की सूक्ष्म बात है। अतीन्द्रिय ज्ञान हो वहाँ ही अतीन्द्रियसुख हो, अतीन्द्रियज्ञान के बगैर अतीन्द्रिय सुख नहीं होता - यह नियम, फिर भी दोनों स्वतंत्र; वहाँ कोई सुखगुण का कार्य ज्ञानगुण ने नहीं किया है, सुखगुण ने ही किया है। बाहर के पदार्थों में उपादान-निमित्त की भिन्नता की बात तो कई बार बहुत सारे दृष्टांतो द्वारा कही जा चुकी है, अतः यहाँ उसके विशेष दृष्टांत लिये नहीं है। यहाँ एक ही वस्तु में गुणभेद की कल्पना द्वारा उपादान-निमित्त किस प्रकार है उसकी चौभंगी चारित्र तथा ज्ञान के दृष्टांत द्वारा समझा रहे हैं। उसमें प्रथम तो यह मर्यादा बांधी कि वे दोनों गुण असहाय, कोई किसी के अधीन नहीं।

प्रकरण - ४

उपादान-निमित्त से सम्बन्धित चौभंगी
उसमें प्रत्येक बोल की स्वतंत्रता

`अब उसमें चौभंगी का विचार : यहाँ ज्ञानगुण निमित्त और चारित्रगुण उपादान यह विवक्षा लेना। उसके चार प्रकार इस तरह से है -

१ अशुद्ध निमित्त, अशुद्ध उपादान।
२ अशुद्ध निमित्त, शुद्ध उपादान।
३ शुद्ध निमित्त, अशुद्ध उपादान।
४ शुद्ध निमित्त, शुद्ध उपादान।

यहाँ सूक्ष्मदृष्टि देकर द्रव्य की एक समय की अवस्था लेना; समुच्चयरुप मिथ्यात्व-सम्यक्त्व की बात नहीं लेना। अब इन चार प्रकार का विवेचन कर रहे हैं। किसी समय जीव की अवस्था इस प्रकार की होती है कि -

(१) अजानरुप ज्ञान और संकलेशरूप चारित्र।
(२) किसी समय अजानरुप ज्ञान और विशुद्धचारित्र।
(३) किसी समय जानरुप ज्ञान और संकलेशरुप चारित्र।
(४) किसी समय जानरुप ज्ञान और विशुद्धचारित्र

(१) जिस प्रकार समय ज्ञान की अज्ञानरुप गति और चारित्र

की संकलेशरुप गति, उस समय निमित्त और उपादान दोनों अशुद्ध।
(२) किसी समय अज्ञानरुप ज्ञान और विशुद्धरुप चारित्र, उस समय अशुद्ध निमित्त और शुद्ध उपादान।
(३) किसी समय जानरुप ज्ञान और संकलेशरुप चारित्र, उस समय शुद्ध निमित्त और अशुद्ध उपादान।
(४) किसी समय जानरुप ज्ञान और विशुद्ध चारित्र, उस समय निमित्त और उपादान दोनों शुद्ध।
इस प्रकार जीव की अन्य दशा सदाकाल अनादि से है।'

यहाँ जो चार प्रकार कहे वे चारों प्रकार अज्ञानी को भी हो सकते हैं। यहाँ ज्ञान का जानपना कहा वह कोई सम्यग्ज्ञान नहीं है किन्तु ज्ञान में तत्त्वविचार के योग्य उघाड (क्षयोपशम) हुआ है उसकी बात है; और चारित्र में विशुद्धि कही वह कोई मोक्षमार्ग के शुद्धपरिणाम की बात नहीं है परन्तु मन्दकषाय की बात है। तत्त्वविचार के योग्य ज्ञान का उघाड़ (विकास) और कषाय की मन्दतारुप विशुद्धि - वहाँ तक जो जीव बहुतबार आ गया, परन्तु वहाँ से आगे बढ़कर यदि ग्रन्थिभेद करे (अर्थात् सम्यग्दर्शन करे) तो ही उसे मोक्षमार्ग प्रगट हो।

(१) निगोद इत्यादि के जीवों को तो ज्ञान इतना आवरणयुक्त हो गया है कि तत्त्वविचार की शक्ति ही नहीं है, ज्ञान का जानपने का उतना उघाड़ नहीं है इसलिये उसे निमित्त अशुद्ध है; - कौन-सा निमित्त ? ज्ञान की पर्याय; और उपादानरुप चारित्र की पर्याय में भी तीव्र संकलेशपरिणामरुप अशुद्धता है। ऐसी उपादान की अशुद्धता के कारण वह जीव निगोदादिमें से ऊपर उठकर नहीं आता। भावकलंक सुपहरा निगोयवासं ण मुंचदि अर्थात् अपने भावकलंक की प्रचुरता के कारण वे जीव निगोदवास को छोड़ते नहीं है। ऐसे जीवों को

उपादान अशुद्ध है और निमित्त भी अशुद्ध है; चारित्र तथा ज्ञान दोनों अशुद्ध है।

(२) निगोद में स्थित जीव-की जिसे तत्त्वविचार के योग्य ज्ञान का उघाड़ नहीं है वह भी कभी अपने उपादान से चारित्र में मन्दकषायरुप विशुद्धि के बल से वहाँ से निकलकर मनुष्य हो - ऐसा परिणाम करता है। ऐसे जीव को ज्ञान की गति अशुद्ध कही जाती है, और चारित्र में मन्दकषायरुप विशुद्धता कहलाती है। अतः निमित्त अशुद्ध और उपादान शुद्ध - ऐसा दूसरा प्रकार उसे लागु होता है। इस दृष्टांत के अनुसार अन्य भी जिन जिन जीवों को यह प्रकार लागू होता है वह समझ लेना।

देखो तो सही, जीव के परिणाम की स्वतंत्रता ! अनादि से निगोद में स्थित जीव, जिसे बाहर का कोई साधन नहीं है, ठीक-ठीक शरीर भी नहीं है, पाँच इन्द्रिय भी नहीं है, ज्ञान में विचारशक्ति भी नहीं है, फिर भी अपने चारित्रगुण के उपादान के बल से मन्दकषाय करके, शुभपरिणाम द्वारा वहाँ से क्षणमात्र में मनुष्य होता है।

(३) अब तीसरे प्रकार के जीव ऐसे हैं कि जिन्हें तत्त्वविचार की शक्ति के योग्य ज्ञान का उघाड़ तो हुआ है, परन्तु परिणाम संकलेशरुप ही वर्तते हैं, पापविचार में ही पड़े हैं, आत्महित का विचार करनेलायक विशुद्धपरिणाम करते नहीं है; तो उसे निमित्त शुद्ध व उपादान अशुद्ध है।

(४) जिसे ज्ञान में तत्त्वविचार की शक्ति खिली है, एवं परिणाम को भी विशुद्ध करके तत्त्वविचार में जुड़े हैं, उसे ज्ञान, उसे ज्ञान व चारित्र दोनों विशुद्ध हैं, अर्थात् निमित्त व उपादान दोनों शुद्ध हैं। यह विशुद्धि भी अभी कोई मोक्षमार्ग नहीं है। इतनी विशुद्धि तक आने के बाद भी क्या करे तो मोक्षमार्ग बनेगा यह बाद में कहेंगे। `सम्यग्ज्ञान और स्वरूपाचरण की कणिका जागे तब मोक्षमार्ग सच्चा' - ऐसा पर्यायवचनिका में कहा था वही सिद्धांत यहाँ समझायेंगे।

जानपनेरुप उघाड को ज्ञान की शुद्धता कहा; विशुद्ध परिणाम (उसमें मन्दकषायरूप तथा अकषायरुप दोनों प्रकार लेना) उसे चारित्र की शुद्धता कही जाती है; अज्ञानरुप परिणाम वह ज्ञान की असुद्धता कही जाती है; संकलेशरुप

परिणाम वह चारित्र की अशुद्धता कही जाती है। यहाँ चारित्र परिणाम सो उपादान, और ज्ञान परिणाम सो निमित्त - इस तरप स्थापित करके, उपादान-निमित्त की शुद्धता-अशुद्धता से सम्बन्धित चार भंग बताये। ये चारों ही प्रकार आत्मा में और आत्मा में ही समाते हैं; अब उससे सम्बन्धित विशेष विचार कहते हैं।

अनुभव

अनुभव चिन्तामणिरत्न है, अनुभव शांतरस का कुआ है, अनुभव मुक्ति का मार्ग है और अनुभव मोक्षस्वरूप है। अनुभवरस को जगत के ज्ञानी लोग रसायन कहते हैं, अनुभव का अभ्यास तीर्थधाम है; अनुभव की भूमि ही सकल इष्ट पदार्थों को पैदा करनेवाला खेत है, अनुभव नरकादि गति से बाहर निकालकर स्वर्ग-मोक्षरुप उर्ध्वगति में ले जाता है; अनुभव की केलि कामधेनु और चित्रावेलीसमान है, अनुभव कास्वाद पंचामृत के भोजन समान है, अनुभव कर्मों को तोड़ता है और परमपद के साथ प्रीति जोड़ता है, अनुभव समान दूसरध कोई धर्म नहीं है। (यहाँ पंचामृत, रसायन, कामधेनु, चित्रावेली, चिंतामणिरत्न इत्यादि पदार्थ जगत में सुखदायक के रुप में प्रसिद्ध होने की वज़ह से उनका दृष्टांत दिया है, बाकी अनुभव तो इन सभी से ही निराला, कोई अनुपन है।

- पंडित बनारसीदासजी

प्रकरण - ५

ज्ञान व चारित्र में गर्भित शुद्धता, परन्तु ग्रंथिभेद के बिना उसकि निष्फलता

`मिथ्यात्व अवस्था में किसी समय जीव का ज्ञानगुण जानरुप होता है। तब वह क्या जानता है ? ऐसा जानता है वह कि लक्ष्मी-पुत्र-स्त्री इत्यादि प्रत्यक्षप्रमाणरुप मुझ से न्यारे हैं; मैं मरुँगा और ये सब यहाँ ही पड़े रहेंगे, अथवा वे सब जायेंगे और मैं पड़ा रहूँगा; किसी समय इन सभी से मेरा एक दिन वियोग है। - ऐसा जानपना मिथ्यादृष्टि को होता है वह तो शुद्धता कही जाती है, परन्तु वह सम्यक् शुद्धता नहीं है, गर्भितशुद्धता है। जब वस्तु का स्वरूप जाने तब सम्यक्शुद्धता है, वह ग्रंथिभेद के बिना नहीं होती। परन्तु गर्भितशुद्धता से भी अकामनिर्जरा है।'

पहले ज्ञान के परिणाम में शुद्ध व अशुद्ध - ये दो प्रकार बता रहे हैं, और फिर चारित्र के दो प्रकार बतायेंगे। तथा मोक्षमार्ग कब होगा - यह तत्पश्चात् बतायेंगे।

यहाँ तत्त्व का विचार करने योग्य ज्ञानशक्ति जिनकी खिली है ऐसे संज्ञीपंचेन्द्रिय जीव की बात है। ज्ञान में सामान्य जानपना तो एकेन्द्रियादि सर्व जीवों को होता है, परन्तु यहाँ पर जो जानपना लेना है वह तत्त्वविचार के योग्य जानपना लेना है। उससे पहले का जो जानपना है वह तो जीव को हित के कोई

साधनरुप नहीं बन सकता। जिस जानपने द्वारा तत्त्वविचार में आगे बढ़ने पर हित का साधन हो - उसकी यहाँ बात है। ऐसी ज्ञानशक्ति जिसकी खिली है वह जीव कभी देहादि से अपनी भिन्नता का विचार करता है; यह देह-स्त्री-पुत्र-लक्ष्मी इत्यादि तो मेरे से भिन्न है और एकबार उनका वियोग हो जायेगा, - ऐसी भिन्नता के विचार के समय परिणाम में भी उस प्रकार की विशुद्धता होती है; संकलेशपरिणाम के समय ऐसे वैराग्य के या तत्त्व के विचार चलते नहीं है। ज्ञान में ऐसी विचारशक्ति जगी उसे ज्ञान की शुद्धता कही जाती है, परन्तु यह कोई अभी मोक्षमार्ग नहीं है। आगे बढ़कर स्वानुभव द्वारा यदि ग्रंथिभेद करे अर्थात् सम्यग्ज्ञान की कणिका जगाये तो मोक्षमार्ग होता है। तब तक ज्ञान में गर्भितशुद्धता होने के बावजूद उसे मोक्षमार्ग नहीं कहा जाता। गर्भितशुद्धता वह सच्ची शुद्धता नहीं है, स्वानुभव द्वारा प्रगट हो वह ही सच्ची शुद्धता है और वह ही मोक्षमार्ग है। गर्भितशुद्धता में इतनी विशेषता हुई कि पहले (निगोदादि में) जो मोक्षमार्ग प्राप्ति का अवकाश ही नहीं था, वह अब यदि तत्त्वविचारादि में आगे बढ़े तो ग्रंथिभेद होकर मोक्षमार्ग प्राप्ति का अवकाश है। परन्तु जिसे गर्भितशुद्धता हुई उसे ऐसी (सच्ची) शुद्धता होगी ही ऐसा नियम नहीं है, जो ग्रंथिभेद करे उसे ऐसी सम्यक्शुद्धता होती है, जो नहीं करता उसे नहीं होती। जैसे बाँझ स्त्री के तो पुत्र का अवकाश नहीं है परन्तु जिसे गर्भ में बच्चा है उसे पुत्र जन्म का अवकाश है - लेकिन वह जन्मे तब सही, गर्भकाल में ही आयु पूर्ण हो जाय तो न जन्मे; वैसै गर्भितशुद्धता के बारे में समझना; जिसे गर्भितशुद्धता नहीं है ऐसे असंज्ञी तक के जीवों को तो मोक्षमार्ग का अवकाश ही नहीं है; जिसे ज्ञान का उगाड हुआ और तत्त्वविचार तक पहुँचा उसे गर्भितशुद्धता होने से मोक्षमार्ग का अवकाश हुआ - परन्तु वह ग्रंथिभेद करके मोक्षमार्ग प्रगट करे तब तो सही; यदि वहाँ (मन्दकषाय में) रुक जाय और ग्रंथिभेद न करे, तो कुछ काल में गर्भित शुद्धता भी छूटकर अशुद्धतावश पुनः निगोद में ही भटकेगा। इस प्रकार ग्रंथिभेद यह मोक्षमार्ग की मूलवस्तु है। है जीव ! विशुद्ध परिणाम द्वारा तु ऊपर उठा है, तत्त्व विचार के योग्य

ज्ञानशक्ति तेरे को खिली है, ग्रंथिभेद करके मोक्षमार्ग को साधने का यह अवसर तुझे प्राप्त हुआ है, अतः तू उसका उद्यम कर। ग्रंथिभेद द्वारा सम्यग्ज्ञान व स्वरूपाचरण चारित्र की कणिकाएँ प्रगट कर। - उसमें अपूर्वता है। इसके बगैर की गर्भित शुद्धता यह कोई अपूर्व नहीं है, उसके द्वारा मोक्षमार्ग का प्रयोजन सधता नहीं है।

ज्ञान में जानपनारूप जो गर्भितशुद्धता है वह हालाँ कि मिथ्यात्वअवस्था में मोक्षमार्गरुप नहीं है, फिर भी उसमें जो जानपना है वह सामान्यरुप से ज्ञान की जाति है, और उसके द्वारा थोड़ी अकामनिर्जरा भी होती है; उसी समय मिथ्यात्व के कारण बहुत बन्ध होता है। बन्ध अधिक और निर्जरा अल्प अतः उस अल्प की उपेक्षा कर के मिथ्यात्व अवस्था में अकेला बन्धन ही कहा गया है। परन्तु ज्ञान के जो अंश उघाड़रुप है वे स्वयं कोई बन्ध का कारण नहीं है। यदि ग्रंथिभेद करके आगे बढ़े तो वे ज्ञानांश केवलज्ञान में जाकर मिलेंगे। ज्ञान का उघाड़ और शुभराग इतने आँगन तक आखर जीव अनन्तबार रुक गया है, इसका मतलब यह कि ऐसे उघाड़ तक और तत्त्वविचार तक आया परन्तु राग से पार चैतन्यवस्तु के स्वानुभव द्वारा मिथ्यात्व की ग्रन्थि का भेदन नहीं किया, अतः वह मोक्षमार्ग में नहीं आया, संसार में ही रहा। ऐसा उघाड़ (अर्थात् गर्भित शुद्धता) तो मिथ्यादृष्टि के भी होता है, इसकी कोई अपूर्वता नहीं है। सम्यग्दर्शन द्वारा सम्यक्शुद्धता करके मोक्षमार्ग प्रगट करे उसकी अपूर्णता है।

निगोद में से ऊपर उठकर जीव गर्भितशुद्धता तक आया वह भी स्वयं के ज्ञान-चारित्रगुण के परिणाम की शक्ति से स्वतंत्रतापूर्वक ऊपर उठा है। कर्म का जोर मन्द हुआ इसलिये ऊपर उठा - इस तरह बात नहीं ली है, अपने उस प्रकार के स्वतंत्र परिणमन द्वारा ही वह जीव उपर उठा है - ऐसा जानना। और अब यदि ग्रन्थिभेद के जोर से स्वाश्रय से ज्ञान-चारित्र के परिणाम की धारा आगे बढ़े तो केवलज्ञान और यथाख्यातचारित्र प्रगट हो। वहाँ ज्ञानगुण का परिणमन बढ़कर केवलज्ञान होता है और चारित्रगुण का परिणमन बढ़कर

यथाख्यातचारित्र होता है। - ऐसे दोनों गुण का परिणमन स्वतंत्र है।

यहाँ पहला बोल ज्ञान की शुद्धता का कहा; अब दूसरा बोल ज्ञान की अशुद्धता का अर्थात् ज्ञान की अजानरुपदशा का है : **'उसी जीव को किसी समय ज्ञानगुण अजानरूप है वह गहलरुप सनकीपनारुप होता है, उससे केवल बंध है।'** निगोद से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रियपर्यंत के जीवों को ज़रा भी विचारशक्ति ही नहीं है, उनको अज्ञान की बहुत तीव्रता है, मोह में वे मुर्छित हो गये हैं। पंचेन्द्रिय होकर जिस जीव को हिताहित का ज़रा भी विचार नहीं है उसकी ज्ञानअवस्था भी अजानरुप समझना।

इस प्रकार ज्ञान के दो बोल कहे; अब चारित्र के दो बोल कहते हैं :

'इसी प्रकार मिथ्यात्वअवस्था में किसी समय चारित्रगुण विशुद्धरुप होता है; इसलिये चारित्रवरणकर्म मन्द होता है, उस मंदता की वज़ह से निर्जरा है। तथा किसी समय चारित्रगुण संकलेशरुप होता है उससे केवल तीव्रबन्ध होता है।'

मिथ्यात्व अवस्था में, निगोद के जीव को भी, चारित्रगुण में कभी शुभ परिणाम होते हैं। वहाँ ज्ञान का तो कोई ऐसा विशेष उघाड़ नहीं है फिर भी चारित्रगुण स्वतंत्ररुप से उस प्रकार की विशुद्धरुप परिणमित होता है। चारित्र का परिणमन ज्ञान के अधीन नहीं है। ज्ञान में जानपनेरुप विशुद्धि न हो उससे कोई चारित्र में शुभपरिणामरुप विशुद्धि न हो सके - ऐसा नहीं है। ज्ञान अजानरुप हो इसलिये चारित्र में भी अशुभपरिणाम ही हो, अतवा जानरुप ज्ञान हो इसलिये चारित्र में विशुद्धपरिणाम ही हो - ऐसा कोई नियम नहीं है। अजानरुप ज्ञान, फिर भी विशुद्धरुपचारित्र और जानरुप ज्ञान फिर भी विशुद्धरुप चारित्र इत्यादि चारों भंग सम्भव है। इस में जीव के परिणाम की स्वतंत्रता है यह सिद्ध होता है। यहाँ चारित्र में शुभभाव को विशुद्धि कही इसलिये उससे धर्म हो गया ऐसा नहीं है। ग्रंथिभेद हो तब ही ज्ञान और चारित्र दोनों में धर्म के अंकुर फूटते हैं और तब ही मोक्षमार्ग शुरु होता है। उसके बिना धर्म के धर्महेतु सब कुछ यह व्यर्थ। - इस मूल बात को रखकर सारी बात समझने की है।

प्रकरण - ६

निगोद के दृष्टान्त से उपादान की स्वतंत्रता;
स्वतंत्रता जानकर स्वाश्रय से स्वकार्य को साध।

अब निगोद के जीव को भी मन्दकषाय द्वारा कुछ निर्जरा होती है यह बता रहे हैं :

`मिथ्यात्व अवस्था में जिस समय जानरूप ज्ञान है और विशुद्धतारुप चारित्र है उस समय निर्जरा है। जिस समय अजानरुप ज्ञान है और संकलेशरुप चारित्र है उस समय बन्ध है। उसमें विशेष इतना कि अल्प निर्जरा और बन्ध बहुत होता है; अतः उस अल्प निर्जरा की उपेक्षा करके मिथ्यात्व अवस्था में केवल बन्ध कहा। - जैसे किसी पुरुष को नफा कम और घाटा बहुत तो वह पुरुष टोटावाला ही कहा जाता है। परन्तु बन्ध और निर्जरा के बिना जीव किसी अवस्था में होता नहीं है। दृष्टांत इस प्रकार - यदि विशुद्धता द्वारा निर्जरा न हो रही हो तो एकेन्द्रिय जीव निगोद अवस्था में से व्यवहारराशिमें किस के बल से आता ? वहाँ ज्ञानगुण तो अजानरुप गहलरुप, अबुद्धिरुप है अतः ज्ञानगुण का बल तो है नहीं; परन्तु विशुद्धरुप चारित्र के बल से जीव व्यवहारराशि में चढ़ता है। जीवद्रव्य में कषाय की मन्दता होती है उससे निर्जरा होती है। उसी मन्दता के प्रमाण में (अनुपात मे) शुद्धता जानना।'

यहाँ निगोद का जीव वहाँ से निकलकर मनुष्य होता है वह कौन से परिणाम

के बल से होता है ? - यह बताकर उसके दृष्टांत से जीव के परिणाम की स्वतंत्रता बतायी है। निगोद के जीव को ज्ञान का तो विशेष बल है नहीं, वहाँ कोई तत्त्वविचार नहीं है, फिर भी चारित्र के परिणाममें उस प्रकार की विशुद्धता के बल से वह जीव ऊपर चढ़ता है। कषाय की मन्दता के बल से उस प्रकार की निर्जरा करके वह अनादि निगोद का जीव व्यवहारराशि में आता है। नित्य निगोद से निकलकर दूसरी पर्याय धारण करे तब वह व्यवहारराशि में आया कहा जाय। सामान्य तथा संसार में कोई जीव बन्ध एवं निर्जरा के बगैर का होता नहीं है। संसार में किसी समय कोई जीव ऐसा नहीं होता कि जिसे अकेला बन्धन ही हो और निर्जरा जरा भी न हो। हाँ, सिर्फ निर्जरा हो और बन्धन न हो - ऐसा जीव होता है, - कौन ? कि चौदहवें गुणस्थान में अयोगी जीव को एक परमाणुमात्र भी नया बन्धन नहीं है, अकेली निर्जरा ही है। यहाँ निगोद के जीव को परिणाम की विशुद्ध के काल में निर्जरा बताई और उसके बल से वह ऊपर उठता है ऐसा कहा, परन्तु वास्तव में तो उस जीव को संकलेश परिणाम के काल में भी कुछ कर्म की तो स्थिति पूरी होकर निर्जरा हो ही रही है, - परन्तु उस निर्जरा के बल से वह ऊपर नहीं उठता है, अतः उसकी बात नहीं की है। तथा मिथ्यादृष्टि को शुभ के समय निर्जरा कही, फिर भी उस समय भी उसेबहुत कर्मों का नया बन्धन भी हुआ ही करता है। मिथ्यादृष्टि को निर्जरा अल्प और बन्धन विशेष है, अतः अल्पनिर्जरा की उपेक्षा करके, उसे गौण करके मिथ्यादृष्टि को केवल बन्ध कहा। क्योंकि जो निर्जरा मोक्षमार्ग हेतु काम में न आये वह निर्जरा किस काम की ? निगोद का कम से कम उघाड़वाला और तीव्र से तीव्र कषायवाला जो जीव है उसे भी प्रतिक्षण कुछ कर्मों की स्थिति पूरी होकर निर्जरा तो होती ही रहती है, परन्तु उसकी कोई गिनती नहीं है, क्योंकि वह निर्जरा कोई परिणाम की विशुद्धता के बल से हुई नहीं है, अतः वह उसे ऊपर उठने का कारण नहीं बनती; शुभ परिणाम के बल से अज्ञानी को जो निर्जरा होती है वह हालाँकि उसे व्यवहार में ऊपर उठने

का (अर्थात् मनुष्यादि पर्याय प्राप्त करने का) कारण होती है, तो भी वह निर्जरा मोक्षमार्गरुप नहीं है। निगोद के जीव को भी ज्ञान में क्षयोपशमभाव है, क्षयोपशमभाव का स्वभाव ऐसा है कि उदय में सर्वथा नहीं जुड़ता, अतः ज्ञान का कोई अंश तो सदैव खुला ही रहता है। यदि ज्ञान का लेशमात्र अंश खुला न रहे तो क्षयोपशमभाव ही न रहे। यहाँ पर ज्ञान का अंश कहने पर कोई सम्यग्ज्ञान की बात नहीं है, परन्तु सामान्यरुप से ज्ञान की अर्थात् जानपने की बात है। निगोद के जीव को भी जानपने का जो अंश खुला है वह बन्ध का कारण नहीं है। परन्तु यह ज्ञान इतना ज्यादा मन्द हो गया है कि तत्त्वविचार में प्रवर्तन कर नहीं सकता अतः वह अजानरूप है, और उसमें ऐसा बल नहीं है कि जीव को ऊँचा उठाये; चारित्र में कषाय की मन्दतारूप विशुद्धि के बल से जीव ऊँचा उठता है। यहाँ कषाय की मन्दता के अनुपात में चारित्र की विशुद्धता समझना। परन्तु वह विशुद्धि मोक्षमार्ग की तरफ कब जाय ? कि ग्रंथिभेद करे तब ही।

देखो, पराधीनदृष्टिवाला कोई कहता है कि सिद्ध भी क्वचित् पराधीन है - क्योंकि धर्मास्तिकायनिमित्त के अभाव में वे अलोक में जा नहीं सकते; अरे ! सिद्धभगवंत तो परम स्वाधीन है, स्वाधीनतापूर्वक ही वे लोकाग्र में स्थिर हुए हैं। उनकी स्वतंत्रता की तो बात ही क्या ! यहाँ तो कहते हैं कि निगोद का जीव भी स्वाधीन है, स्वतंत्ररूप से अपने चारित्र परिणाम की विशुद्धता के बल से वह वहाँ से निकलकर सीधा मनुष्य होता है। अनादिकाल के अनन्त अनन्त भव से सदैव निगोद में ही था, जिसने निगोद के सिवा अन्य कोई गति कभी देखी नहीं थी, वह जीव चारित्र परिणाम में कुछ शुभभाव करके उसके बल से एक क्षण में निगोदमें से निकलकर सीधा मनुष्य हुआ-मनुष्य भी ऐसा कि रोज के लाखों रुपयों की जिसकी पैदावार हो। उपादान के परिणाम की स्वतंत्रता है। 'उपादान निजशक्ति है, जीव को मूल स्वभाव' भाई ! उपादान की ऐसी स्वतंत्रता जानकर स्वाश्रयभाव से तेरे स्वकार्य को साध ले, मोक्षमार्ग की साधना कर। तेरे मोक्षमार्ग को साधने में तुझे जगत में किसी की गरज

करनी पड़े ऐसा नहीं है। तेरे स्वयं के आत्मा के आश्रय से ही तेरा मोक्षमार्ग है; तु अकेला-अकेला अपने ही अपने में स्वयं के मोक्षमार्ग को साध सकता है। वाह ! कैसी स्वतंत्र वस्तुस्थिति !

जीव के परिणाम में कषायादि की मन्दता हो वहाँ कर्म की भी मन्दता हो ही जाय - ऐसा सहज मेल है। जीव के परिणाम में मिथ्यात्वादि दोष छूट जाय और सामने उदय में मिथ्यात्वादि कर्म खड़ा रह जाय - ऐसा बनता नहीं। इस प्रकार जीव को अपने परिणाम सम्हालने हैं। इसके बजाय अज्ञानीलोग ऐसा उल्टा लेते हैं कि 'क्या करे ! कर्म का तीव्र जोर है, कर्म का जोर मन्द पड़े तो हमारे परिणाम में सुधार हो।' परन्तु भाई ! तू अपने परिणाम में सुधार कर, तो सामने कर्म का ज़ोर टूट ही जायेगा। जीव के परिणाम के अनुसार ही जगत में सहज परिणमन होता है। आत्मा को प्राप्त करने के लिये जो जाग गया उसके लिये समस्त जगत अनुकूल ही है।

प्रकरण - ७

मोक्षमार्ग कब खुले ?
हे जीव ! यहाँ तक आया... अब मोक्षमार्गी बन।

यहाँ एक ही द्रव्य के आश्रित उपादान-निमित्त बतानेवनाले दृष्टान्त के रुप में जीव के ज्ञान व चारित्र के स्वतंत्र परिणाम बतायें। उसमें से चारित्र पिरणाम की कुछ विशुद्धि (अर्थात् मन्दकषाय) के बल से जीव वहाँ से ऊपर चढ़कर मनुष्य हुआ - अर्थात् गर्भितशुद्धता तक आया। अभ वहाँ से आगे बढ़कर व्यक्त शुद्धता कैसे हो और वह मोक्षमार्ग की तरफ कैसे जाय - उसकी बात कर रहे हैं :

`जानपना ज्ञान का तथा विशुद्धता चारित्र की। ये दोनों मोक्षमार्गानुसारी है अतः दोनों में विशुद्धता मानना; परन्तु विशेष इतना कि वह गर्भित शुद्धता है। प्रगट शुद्धता नहीं है। उन दोनों गुण की गर्भितशुद्धता जब तक ग्रंथिभेद न हो तब तक मोक्षमार्ग नहीं साधती, परन्तु इन दोनों गुणों की गर्भितशुद्धता उध्धता अवश्य करे। जब ग्रंथिभेद हो तब इन दोनों की शाखा फूटती है और तब ये दोनों गुण धाराप्रवाहरुप मोक्षमार्ग तरफ चलतेहैं। ज्ञानगुण की शुद्धता द्वारा ज्ञानगुण निर्मल होता है तथा चारित्रगुण की शुद्धता द्वारा चारित्रगुण निर्मल होता है। वह (ज्ञान) तो केवलज्ञान का अंकुर है, और चारित्र यथाख्यातचारित्र का अंकुर है।'

देखो, सम्यग्दर्शन से पहले के ज्ञान-चारित्र के विकास में गर्भितशुद्धता कही,

परन्तु वह स्वयं मोक्षमार्गरुप नहीं है, मोक्षमार्ग के अंकुर तो सम्यग्दर्शन होने पर ही फूटते हैं। सम्यदर्शन होने पर ज्ञान-चारित्र दोनों की धारा मोक्षमार्ग की तरफ चलती है। ज्ञान में से तो केवलज्ञान के अंकुर फूटे और चारित्र में से यथाख्यातचारित्र के अंकुर फूटे। - इस तरह ग्रंथिभेद होने पर मोक्षमार्ग शुरु हुआ। पहले विशुद्धता से जो ज्ञान और चारित्र ऊँचे उठे थे (अर्थात् उर्ध्वता की तरफ परिणमित होने लगे थे) तब उसमें गर्भितशुद्धता भी, वह अब स्वानुभव द्वारा ग्रंथिभेद होने पर प्रगट शुद्धतारूप होकर मोक्षमार्गरुप परिणमित होने लगे। ज्ञान के जानपने को तथा चारित्र की विशुद्धि को मोक्षमार्गानुसारी कहा था वह इस अपेक्षा से समझना; वे मोक्षमार्गानुसारी कब ? - कि आगे बढ़कर ग्रंथिभेद द्वारा सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान प्रगट करे तब। - इसके सिवा मोक्षमार्ग नहीं होता। अकेले शुभ में या जानपने में ही धर्म या मोक्षमार्ग मानकर जो रुक जाता है और आगे की शुद्धभूमिका जिसे लक्ष नहीं है उसके ज्ञान-चारित्र में मोक्षमार्गानुसारीपना लागू नही होता। ज्ञानगुण व चारित्रगुणरुपी बीज में से विकाररुपी अंकुर प्रगट हो, उसे ग्रंथिभेदरुप पानी पिलाने से मोक्षमार्गरुप शाखा फूटे और उसमें केवलज्ञान तथा वीतरागतारुपी फल पके, - ऐसी ताकत प्रत्येक जीव में पड़ी है। बीज और अंकुर होने के बावजूद ग्रंथिभेद के बिना मोक्षमार्ग की शाखा फूटती नहीं है। जिसने सम्यग्दर्शन किया उसने अपनी पर्याय में केवलज्ञान के और वीतरागता के आम्रवृक्ष की बोआई कर दी, उसकी शाखा फूट चुकी, अब अन्यकाल में साक्षात् फल आयेगा। अंततः तो सारी बात ग्रंथिभेद पर आखर रुक जाती है; ग्रंथिभेद माने सम्यग्दर्शन, यह मूल वस्तु है। हे जीव ! यहाँ तक आ गया अब सम्यग्दर्शन प्रगट करके मोक्षमार्गी हो जा !

जाननरुप ज्ञान व मन्दकषायरुप चारित्र - उसमें जो गर्भितशुद्धता है उससे भी अकामनिर्जरा है ऐसा पहले कहा है। उससे सम्बन्धित शंका-समाधान द्वारा अधिक स्पष्टता कर रहे हैं -

'यहाँ कोई आशंका करे कि आपने कहा कि ज्ञान का जानपना और चारित्र की विशुद्धता इन दोनों से निर्जरा होती है, वहाँ ज्ञान के जानपने से निर्जरा हो यह तो हमने माना, परन्तु चारित्र की विशुद्धता से निर्जरा किस प्रकार हो ? - यह हम समझ नहीं पाये।

उसका समाधान : सुनो भैया ! विशुद्धता तो स्थिरतारुप परिणम से कहते हैं; वह स्थिरता यथाख्यातचारित्र का अंश है, इसलिये विशुद्धता में शुद्धता आयी। (और उस विशुद्धता से निर्जरा है।)

पुनः शंकाकार बोला - तुमने विशुद्धता से निर्जरा कही परन्तु हम कहते हैं कि विशुद्धता से निर्जरा नहीं है, परन्तु शुभबन्ध है।

उसका समाधान :- सुन भैया ! यह तो तू सच्चा; विशुद्धता से शुभबन्ध और संकलेशता से अशुभबन्ध - वह तो हमने भी माना। परन्तु उसमें और भेद है सो सुन : अशुभपद्धति अधोगति का परिणमन है तथा शुभपद्धति ऊर्ध्वगति का परिणमन है। अब अधोरुप संसार और ऊर्ध्वरूप मोक्षस्थान - ऐसा स्वीकार करके उसमें शुद्धता आयी ऐसा मान, मान, उसमें धोखा (सन्देह) नहीं है। [मानि मानि या में धोखो नाहीं है]'

ज्ञान का जानपना क्षयोपशमभावरुप है, और उससे निर्जरा होती है; चारित्र में तीव्र संकलेशपरिणाम के समय पापबन्धन होता है और उससे अधोगतिरुप

परिणमन होता है अर्थात् मोक्षमार्ग से दूर होता जाता है; और मन्दकषायरुप विशुद्ध परिणाम को समय शुभबन्ध होता है, और ऊर्ध्वगतिरुप परिणमन होता है। तदुपरांत यहाँ ऐसा कहना है कि संकलेश के समय चारित्र में जो तीव्र अशुद्धता थी, मन्दकषाय-शुभराग के समय वह अशुद्धता कुछ मन्द हुई, उतनी विशुद्धि गिनी, और उस विशुद्धि के बल से निर्जरा करके, जीव ऊँचा उठता है ऐसा कहा। यद्यपि यह निर्जरा कोई मोक्षमार्ग नहीं है, परन्तु उसके द्वारा भी जीव कुछ ऊपर उठा - और यदि आगे बढ़े तो तो मोक्षमार्ग भी पा ले ऐसा अवकाश बना यह यहाँ बताना है। संपूर्ण ऊर्ध्वता वह मोक्ष है। निगोद है सो एकदम अधोगति है। अब चारित्त्र के विशुद्धपरिणाम के बल से जीवने कुछ ऊर्ध्वता प्राप्त की, और ऊर्ध्वता में आगे बढ़कर यदि ग्रंथिभेद द्वारा शुद्धता प्रगट करे तो मोक्षमार्ग भी प्राप्त कर ले - इस अपेक्षा से विशुद्धता में ऊर्ध्वता गिनकर उससे निर्जरा भी गिनी। विशुद्धता में जो ऊर्ध्वता अथवा गर्भितशुद्धता कही वह तो वहाँ से आगे बढ़कर व्यक्त शुद्धता प्रगट करने के लिये है, कोई उसी में रुक जाने के लिये नहीं है। विशुद्धता में (अर्थात् मन्दकषाय में) ही रुक जाय तो मोक्षमार्ग होगा नहीं। ग्रन्थिभेद के बिना विशुद्धता का जोर चलता नहीं है - मोक्षमार्ग बनता नहीं है।

पहले संकलेशपरिणाम के समय तो चारित्रपरिणाम तीव्र डावाँडोल व अस्थिर थे, तत्त्वविचार करने योग्य स्थिरता भी उनमें नहीं थी; शुभ के समय कषाय मन्द पडने पर चारित्रपरिणाम कुछ स्थिर हुए, विचारशक्ति जागी; अब आगे बढ़कर ग्रन्थिभेद द्वारा शुद्धस्वरूपाचरण प्रगट करे तो यथाख्यातचारित्र का अंश व मोक्षमार्ग हो। इस तरह परिणाम की ऐसी ऊर्ध्व ता करने के लिये विशुद्धता में शुद्धता मानना; इसमें कोई धोखा नहीं है। इसको लेकर कोई शुभराग स्वयं मोक्षमार्ग हो जाता है - ऐसा नहीं है। शुभराग से पुण्यबन्ध होता है। इस बात को तो पहले स्वीकार किया ही है।

`विशुद्धता में गर्भितशुद्धता है' ऐसा माना उसका अर्थ क्या हुआ ? - कि विशुद्धता (शुभ) स्वयं शुद्धता नहीं है, अतः शुभ से आगे जाकर - उससे ऊर्ध्व

शुद्धता कोई अलग चीज़ है - ऐसा लक्ष में लिया है; तो वह शुभ में ही नहीं रुककर आगे बढ़कर शुद्धता प्रगट करेगा। - अतः उसको शाबाशी ! शुभ में रुका रहे तो शाबाश नहीं कह रहे, परन्तु उससे ऊर्ध्व जरुर शुद्धता प्रगट करने का जिसने लक्ष में लिया उसे शाबाशी कही है। अतः कहेंगे कि विशुद्धता की जो ऊर्ध्वता वही उसकी शुद्धता है।

अध्यात्मतत्त्व के जिज्ञासु को अन्तर में वैराग्य और कषाय की मन्दता तो होती ही है। जिसे कषाय की मन्दता और वैराग्य हो उसे ही आत्मस्वरूप समझने की जिज्ञासा जगती है। भाई ! अनन्तकाल में अब तत्त्व समझने का अवसर आया, देह कब छुटेगा उसका कोई भरोसा नहीं है, - ऐसे काल में यदि कषाय को छोड़कर आत्मस्वरूप नहीं समझेगा तो फिर कब समझेगा ? यदि स्वभाव की परिणति प्रगट करके साथ नहीं ले जायेगा तो तूने इस जीवन में क्या किया ?

प्रकरण - ८

ग्रन्थिभेद हो तब ही मोक्षमार्ग होता है;
शुभ में ऐसा जोर नहीं है कि मोक्ष को साधे, संतो के प्रताप से सब अवसर आ चुका है; है जीव ! तु जाग !

`विशुद्धता सदा काल मोक्ष का मार्ग है, परन्तु ग्रन्थिभेद के बिना विशुद्धता का जोर चलता नहीं नहीं न ? जैसे कोई पुरुष नदी में डूबकी लगाय फिर जब उछले तब दैवयोग से उस पुरुष के ऊपर नौका आ जाय तो यद्यपि वह तैराक पुरुष है तथापि किस भाँति निकले ? उसको जोर नहीं चलता; बहुत कलबल करे परन्तु उसका बस नहीं चलता। उसी प्रकार विशुद्धता की ऊर्ध्वता जाननी, इसलिये उसे गर्भितशुद्धता कही। वह गर्भितशुद्धता ग्रन्थिभेद होने पर मोक्षमार्ग की तरफ चली, अपने स्वभाव द्वारा वर्धमानरुप हुई तब पूर्ण यथाख्यात प्रगट कहा गया। विशुद्धता की जो ऊर्ध्वता वही उसकी शुद्धता है।'

निगोदरुपी महासमुद्र में से शुभ परिणाम के बल से जीव ऊपर तो आया, परन्तु यदि सम्यग्दर्शन द्वारा मोह की गाँठ को तोड़ डाले तो ही मोक्षमार्ग प्राप्त करके संसार के पार उतर जाय; अतः उसकी गर्भितशुद्धता प्रगट शुद्धतारुप होकर मोक्षमार्ग की तरफ चल। ग्रन्थिभेद के बिना अकेली गर्भितशुद्धता में मोक्षमार्ग तरफ जाने की ताकात नहीं है। निगोद में अनंतानंत जीव है, और निगोद के बाहर तो अनन्तवे भाग के जीव है। अनादि से संसारसमुद्र में डूबा हुआ

जीव चारित्र का कुछ उपादान जागने पर बड़ी मुश्किल से कुछ ऊपर उठा और यदि भेदज्ञान करे तो तिर जाय ऐसा अवसर आया, तब यदि वह भेदज्ञान का उद्यम न करे और राग में ही लीन होकर रुक जाय तो वह संसार से बाहर किस प्रकार निकले ? विशुद्धता तक वह आया परन्तु ग्रन्थिभेद के बिना उसका कोई जोर चल नहीं पाता। देखो, कर्म के पास जोर नहीं जला इसलिये भटका ऐसा नहीं कह रहे, परन्तु ग्रन्थिभेद के बिना उसका जोर नहीं चलता इसलिये पुनः भटकता है, अर्थात् उसका मोहगाँठ ही उसे संसार से तिरने नहीं देती। मोहगाँठ का भेदन हुए बिना अकेला शुभभाव क्या करे ? भाई ! अकेले शुभभाव का कोई जोर नहीं चलता। स्वसत्ता से अवलम्बन से सम्यक्त्वादिरुप शुद्धता प्रगट कर तो उस शुद्धता का ऐसा जोर है कि अल्पकाल में मोक्ष प्राप्त करा दे। शुभ तक आखर रुक जाय उससे कुछ बी हाँसिल नहीं होता, परन्तु आगे बढ़कर स्वभावधारा प्रगट करे तो सम्यक्चारित्र की तथा सम्यग्ज्ञान की कणिकाएँ प्रगट होवे, अतः विशुद्धता की ऊर्ध्वता होकर व्यक्त शुद्धता हो; वही धारा आगे बढ़कर वीतराग ता और केवलज्ञान हो जाय।

भाई ! तेरे उपादान में जो सामर्थ्य भरा है और तेरे से जो हो सके ऐसा है उसकी ही यह बात है। सन्तों ने स्वयं ने आत्मा में जो किया वही तेरे को बता रहे है। अहा, आत्मा के स्वानुभवसे मोक्ष को साधने का ऐसा अवसर तुझे हाथ में आया है... अतः हे जीव ! जाग... और अपने उपादान की सम्हाल कर... शुभ से आगे जाकर शुद्धता की अपूर्व धारा उल्लसित कर। सन्तो के प्रताप से सब अवसर आ चुका है।

`पंडित टोडरमलजी' ने जो रहस्यपूर्ण चिट्ठी लिखी है वह साधर्मियों के ऊपर प्रश्न के जवाब के रुप में लिखी है; `पंडित बनारसीदासजी'ने जो परमार्थ वचनिका तथा उपादान-निमित्त की चिट्ठी लिखी है वह दोनों वचनिका किसी व्यक्ति के ऊपर नहीं लिखी परन्तु अपने अन्तर के विचार वचनिका के रुप में लिखे हैं। [- श्रीमद् राजचंद्रजी की हाथनोंध (अपनी व्यक्तिगत डायरी) के माफिक]। `पंडित बनारसीदासजी' पहे तो श्वेताम्बर थे और शृंगाररस की रचनाओं में चढ़

गये थे, श्रृंगाररस का साहित्य लिखा था, पर्तु बाद में धर्मविचार जागृत होने पर उस साहित्य की पोथी गोमती नदी में बहा दी... और दिगम्बर शास्त्रों का अब्यास होने पर अध्यात्मरस की अद्‌भुत खुमारी चढ़ गई, अध्यात्मशास्त्रों का उनको बहुत अभ्यास था; उन्होंने 'कलशटीका' पढ़कर उस पर से 'समयसार-नाटक' (काव्यरुप) बनाया है। देखो, ये गृहस्थ थे, गृहस्थपने में रहकर उन्होंने अध्यात्म का ऐसा काम किया है। इस चिट्ठी में भी कितने रसभरपूर भाव भरे हैं !

परमार्थ वचनिका में आगमपद्धति और अद्यात्मपद्धति का वर्णन करके मोक्षमार्ग की बहुत स्पष्टता की है; अध्यात्मरुप शुद्ध चेतनापद्धति स्वद्रव्याश्रित है और वही मोक्षमार्ग है, ऐसा वहाँ बताया। इस उपादान-निमित्त की चिट्ठी में भी जीव के ज्ञान-चारित्र इत्यादि गुणों के स्वतंत्र परिणमन की रससभर बात की है।

निगोद का जीव वहाँ से निकलकर एक क्षण में बड़ा राजकुमार बन जाय - यह किसके जोर से ? वहाँ ज्ञान तो गहलरुप-अजानरुप है, विचारशक्ति भी नहीं है, परन्तु चारित्र में कषाय की मन्दता भर के वह मनुष्य होता है। चारित्र की उस प्रकार की विशुद्धि से वह इतना ऊँचा उठता है, परन्तु वह विशुद्धि भेदज्ञान के बिना मोक्षमार्ग में प्रयाण करती नहीं है। भेदज्ञान होने के बाद ही विशुद्धता की गति आगे चले और मोक्षमार्ग के योग्य शुद्धता हो। भेदज्ञान के बिना मोक्षमार्गरुप शुद्धता नहीं होती। कोई जीव अशुभपरिणाममें से सीधा मोक्षमार्ग में नहीं आ जाता, बीच में शुभ में आकर फिर आगे बढ़े तो ही मोक्षमार्ग में आता है; अतः शुभ को विशुद्धरुप गिनकर उसमें गर्भितशुद्धता कही, किन्तु भेदज्ञान के बगैर तो वह गर्भितशुद्धता निरर्थक है, उसका कुछ बस नहीं चलता, निगोदमें से राग की मन्दतारुप अपने उपादान द्वारा जीव ऊँचा उठा, किन्तु जब राग एवं ज्ञान की एकता तोड़कर वर्तेगा तब मोक्षमार्ग होगा, और तब ही उसका ऊँचे उठकर आना सार्थक होगा। अहा, एक ज्ञान की अनुभूति में सबकुछ समा जाता है, पूरा मार्ग ज्ञान के अनुभव में समाजाता है। जहाँ ज्ञायक की अनुभूति हुई वहाँ कहा कि उसे 'सब आगम भेद सु

उर बसे।'

जगत में अनन्त द्रव्य, वे परस्पर असहाय।

एक द्रव्य के अनन्त गुण, वे परस्पर असहाय।

एक एक गुण की अनन्ती पर्यायें, वे परस्पर असहाय।

भाई ! तेरे गुणपर्यायों में भी एक-दूसरे की सहाय नहीं है, तो फिर तुझे बाहर में अन्य किस की सहायता लेनी है ? मेरे कार्य में अन्य की सहाय, मेरे गुण-पर्याय में अन्य की सहाय, उसका अर्थ यह हुआ कि मेरे गुण-पर्याय पर के अधीन; ऐसी पराश्रित बुद्धिवाले जीव की परिणति स्वतरफ कैसे मुड़ेगी ? भगवान सर्वज्ञदेव ने वस्तु को स्वभाव से ही द्रव्य-गुण-पर्यायस्वरूप और उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरुप प्रत्यक्ष देखी है, वस्तु के द्रव्य-गुण-पर्याय या उत्पाद-व्यय-ध्रुव अन्य द्वारा होने का भगवानने देखा नहीं है। समन्तभद्रस्वामी बगवान की स्तुति करते हुए `स्वयंभूस्तोत्र' में कहते हैं कि है नाथ ! जगत के पदार्थ प्रत्येक समय उत्पाद-व्यय-ध्रुवरुप आफने देखे वह आपकी सर्वज्ञता का चिह्न है; आप द्वारा कथित ऐसे वस्तुस्वरूप को, तथा उसके द्वारा आपकी सर्वज्ञता को पहिचानकर हम आपकी स्थुति करते हैं। सर्वज्ञ के अलावा ऐसे सूक्ष्म वस्तुस्वरूप को कोई प्रत्यक्ष जान नहीं सकता; ऐसी वस्तुस्थिति के ज्ञान के बगैर सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान कारण है; अतः आप पूज्य हो।

सीमंधरनाथ भगवान इस समय महाविदेह में विराजमान है, वे भी ऐसा ही वस्तुस्वरूप कह रहे हैं, और गणधर-इन्द्र-चक्रवर्ती सहीखे श्रोताजन आदारपूर्वक उसे सुन रहे हैं। `कुन्दकुन्दाचार्यदेव'ने भी भगवान की वाणी को झीलकर के (ग्रहण करके) `समयसार' - `प्रवचनसार' इत्यादि में अलौकिक वस्तुस्वरूप बताया है। वस्तुस्वरूप का सिद्धांत त्रिकाल एकरुप है।

द्रव्य-गुण-पर्यायरुप वस्तु सत् है; उत्पाद भी सत् का अंश है, वह अपने से ही है। विभावपर्याय का उत्पाद भी है तो अपने उपादान से, कोई पर से नहीं है, परन्तु उसमें विभाव है वह स्व के आश्रय से हुआ नहीं है परन्तु पराश्रय से हुआ है, अतः उसे निमित्ताधीन कहा। परन्तु `निमित्ताधीन' का अर्थ

कोई आसा नहीं है कि निमित्त द्वारा कराया हुआ हो। निमित्त कोई उस-रुप परिणमित नहीं हुआ है, एवं निमित्त ने कोई उस परिणमन को कराया नहीं है। स्वभावपर्यायरुप या विभाव पर्यायरुप वस्तु स्वयं अपने उस प्रकार के उपादान से, और पर की सहाय के बगैर ही परिणमती है। - ऐसा वस्तुस्वरूप सदाकाल है।

छओं द्रव्य सदैव असहायरुप से अर्थात् दूसरे की सहाय के बगैर अपने आश्रय से परिणमन करते हैं - उससे सम्बन्धित `समयसारनाटक' में भी `पंडित बनारसीदासजी'ने सुन्दर बात की है; वहाँ शिष्य प्रश्न करता है, कि हे स्वामी ! राग-द्वेष परिणाम का मूल कारण कौन है ? अकली कारण कौन है ? क्या पुद्गलकर्म उसका कारण है ? या इन्द्रियविषय, धन, परिवार, मकान ये कोई कारण है ? यह आप बताईये। तब श्रीगुरु समाधान करते हुए कहते हैं कि -

गुरु कहे छहों दर्व अपने अपने रुप,
सबनिको सदा असहाई परिनौन है।
कोऊ दर्व काहू को न प्रेरक कदाचि तातें,
राग दोष मोह मृषा मदिरा अचौन है।।६२।।

छओं द्रव्य अपनेअपने स्वरूप में निजाश्रित परिणमन करते हैं, असहाय परिणमन है, कोई द्रव्य दूसरे द्रव्य की परिणति के लिये कदापि प्रेरक होता नहीं है; अतः मिथ्यात्वमोह का मदिरापान यह ही राग-द्वेष का मूल कारण है, अन्य कोई नहीं। इसके बावजूद, आत्मा को पुद्गल की जबरदस्ती के कारण राग-द्वेष परिणाम होना जो मानता है उसे `मूरख' कहा है; और ऐसे विपरीत पक्षवाला जीव राग-द्वेष-मोह से कभी छूट नहीं सकता। भाई ! तू चैतन्यराजा, तु ही तेरे चैतन्यभाव को उत्पन्न करने के लिये समर्थ है। यह चैतन्यराजा मिथ्यात्वदशा में राग-द्वेषभाव भी स्वयं ही उत्पन्न करता था और सम्यक्त्वदशा में श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र-सुख इत्यादि निर्मलभावों को भी स्वतंत्ररुप से स्वयं ही उत्पन्न करता है। - कितनी स्पष्ट बात की है !

उपादान माने वस्तु की सहजशक्ति;
निमित्त माने परसंयोग, वह असहायी और अकिंचित्कर।

एक-दूसरे को सहायक न हो, मात्र तटस्थ-उदासीन हो उसे ही निमित्त कहा जाता है। अपने अनन्त गुण-पर्याय स्स्वाधीन है उसे पहचाने तो दुःख रहे नहीं। क्षायिक समकित होने में बाहर में श्रुतकेवली की या केवली की सहायता नहीं, अन्दर में राग की सहायता नहीं; अरे ! चारित्रगुण की भी सहायता नहीं। किसी मुनिराज को चारित्रदशा होने के बावजूद क्षायिकसम्यक्त्व नहीं होता, किसी गृहस्थ कों चारित्रदशा नहीं होने पर भी क्षायिक सम्यक्त्व होता है। - इस तरह प्रत्येक गुण का स्वतंत्र परिणमन अपने अपने उपादानअनुसार है।

जितना ज्ञान उतना सुख, पूर्ण ज्ञान वहाँ पूर्ण सुख, - फिर भी दोनों पर्यायें स्वतंत्र; ज्ञानरुप परिणमन ज्ञानगुण का है, सुखरुप परिणमन सुखगुण का है, ज्ञानगुण सुखरुप परिणमित नहीं हुआ है, और सुखगुण ज्ञानरुप परिममित नहीं हुआ, अतः कोई किसी के अदीन नहीं है। ऐसी स्वतंत्रता प्रत्येक आत्मा में है, इस स्वतंत्रता का यह ढिंढोरा है। ऐसी स्वतंत्रता समझे बिना परिणति स्वसन्मुख होकर उधर झुकती नहीं है और परिणति स्वसन्मुख झुके बिना सुख होता नहीं। जहाँ स्वतंत्रता वहाँ सुख।

जीव स्वतंत्र है। अज्ञानभाव से विकार करने में या स्वानुभव से सम्यग्दर्शन आदि धर्म करने में जीव स्वतंत्र है। जीव ऐसा पराधीन नहीं है कि उसकी पर्ाय का कारण कोई अन्य हो जाय। अशुभ, शुभ या शुद्ध परिणतिरुप जीव स्वयं अपने उपादान बल से ही परिणमित होता है; उस समय दूसरा निमित्त हो परन्तु उसके कारण से कोई जीव के परिणाम नहीं है। शुभभाव में निमित्त जिनप्रतिमा, क्षायिकसम्यक्त्व में निमित्त केवली-श्रुतकेवली, ज्ञान में निमित्त जिनवाणी - ये सारे ही निमित्त अकिंचत्कर है। वस्तु अपने उपादान से, निमित्त की सहाय के बगैर परिणमन करती है। ज्ञान, वाणी और इच्छा तीनों स्वतंत्र; इस सिद्धांत के अनुसार उपादान-निमित्त के सारे ही दृष्टांतो में स्वतंत्रता समझ लेना।

यह समझ ले, तो जीव परद्रव्य की क्रिया में कर्तापने से खड़ा नहीं रहे अतः स्व की ओर मुड़े, ज्ञान में सत्यता आये, असत्यता टले, अतः दुःख टले

और स्वाधीनसुख हो। - यह स्वतंत्रता की समझ का फल।

अपने अनन्तगुण अपने में हैं; जो अपने में हैं ऐसा अपना एक गुण भी दूसरे गुण को सहायक होता नहीं है, तो फिर जो अपने में नहीं है ऐसे बाह सो अन्य पदार्थ तो अपने को सहायक कहाँ से हो ? इन्द्र साधकभाव से जब तीर्थंकरदेव के चरणों में नमस्कार करते हैं तब (१) भगवान के समान अपने शुद्धस्वरूप का सम्यक्ज्ञान, (२) भगवान की भक्ति का शुभराग और (३) शरीर की हाथ जोडनेरुप जड़ क्रिया - इस प्रकार ज्ञान, राग औ- जड़ इन तीनों की क्रिया एक साथ हो रही है; फिर भी तीनों स्वतंत्र कारण से कोई नहीं, कोई किसी का कर्ता नहीं।

अरे जीव ! भगवान के आंगन में तू कबी आया नहीं है। भगवान का मार्ग जगत से अलग है, उसके आंगन भी अलग है। देखो न समोसरण की शोभा ! कैसी अचिंत्य !! भगवान के उस दरबार का बाह्य आंगन भी कैसा अचिंत्य !! साधको ने भगवान का आंगन देखा है। तथा भगवान की बैठक भी अलग ही प्रकार की सिहांसर के ऊपर दिव्य गंधकुटि और उसका भी स्पर्श किये बिना भगवान चार अंगुल ऊपर बिराजते हैं; भगवान का आत्मा परभाव से अलिप्त ओर देह भी सिंहासन से अलिप्त - दोनों ही निरावलंबी ! देखो तो सही ! अन्दर आत्मा निरालम्बी हुआष वहाँ बाहर का देह भी निरालम्बी हो गया !

तत्त्वनिर्णय करके जीव भगवान के आंगन में आये तो अन्दर प्रवेश हो, और सम्यग्दर्शन द्वारा अपने में ही साक्षात् भगवान के दर्शन हो। खुद अपने को ही भगवान के रुप में देखे त ब ही वह भगवान के मार्ग में और भगवान के घर में आया कहा जायेगा। वह भगवान का सच्चा युवराज हुआ, जिनेश्वरदेव का नन्दन हुआ। - उसने अनेकान्तरुपी अमृत को पिया।

प्रत्येक वस्तु की पर्यायें तथा गुण अपनी अपनी मर्यादा में स्थित हैं, किसी की मर्यादा कोई तोड़ता नहीं है। भिन्न भिन्न पदार्थों की एक दूसरे में अभावरूप जो मर्यादा है, वह कभी टूटती नहीं है, भिन्न पदार्थ एकदूसरे में मिलते नहीं

है, एक-दूसरे के गुण-पर्याय में कुछ दखल नहीं देते। निगोद के जीव को नहीं है कोई श्रवण, या नहीं है बाहर में अन्य कोई निमित्त फिर भी उपादानशक्ति से शुभभाव करके एक क्षण वहाँ से निकलकर मनुष्य होता है। किसी जीव को सम्यक्त्व परिणाम हो, उसी समय साथ में एक ही पर्याय में अशुभ परिणाम हो, फिर भी सम्यक्त्व को वे कुछ बाधा पहुँचाते नहीं है, अथवा शुभपरिणाम हो, तो सम्यक्त्व को वे कुछ लाभकर्ता नहीं है, शुभ-अशुभ का कर्तृत्व सम्यग्दर्शन में नहीं है। दोनों धारा अलग ही काम करती है। एक ही समय की पर्याय में दोनों एक साथ वर्तते हैं फिर भी दोनों की कार्यधारा बिल्कुल भिन्न है। परिणाम की ऐसी स्वतंत्रता है।

किसी मिथ्यादृष्टि को शुक्ललेश्या हो, फिर भी उसके कारण उसके सम्यक्त्व को कोई लाभ होता नहीं है। किसी समकिती को कृष्णलेश्या हो, फिर भी उसके कारण उसके सम्यक्त्व को कोई नुक्सान हो नहीं जाता। एक ही वस्तु में लेश्या के तथा सम्यक्त्व के ये दोनों परिणाम स्वतंत्र हैं। यहाँ ज्ञान व चारित्र दोनों की स्वतंत्रता और असहायता बताकर उनका निमित्त-उपादान के रुप में वर्णन किया है। एक ही समय की पर्याय में उपादान और निमित्त दोनो वर्तते हैं; - कितनी सूक्ष्म बात ! उपादान-निमित्त दोनों एक ही जाति के हो अर्थात् दोनों अशुद्ध हो या दोनों शुद्ध हो - ऐसा यहाँ नहीं बताना है, यहाँ तो एक पर्याय में ज्ञान-चारित्र के कैसे दो प्रकार एक साथ है और फिर भी दोनों कैसे स्वतंत्र है, यह बताना है। एकेन्द्रियादि को जानरुप ज्ञान कभी होता नहीं है, अजानरुप ज्ञान ही होता है। अतः शुद्धनिमित्त का भंग उसे लागू होता नहीं है, बाकी के तीन बोल लागू होते हैं। चारों भंग तो जिसे तत्त्वविचार जगा हो ऐसे पंचेन्द्रिय को ही लागू होता है।

प्रश्न :- एकेन्द्रिय में लेश्या तो अशुभ ही कही है, तो उसे शुभ परिणाम कैसे होते है ?

उत्तर :- अशुभ लेश्या में भी अनेक प्रकार की तारतम्यता होती है; लेश्या अशुभ हो, फिर भी उसके साथ शुभपरिणाम भी होते हैं; किसी को लेश्या

शुभ हो फिर भी उसके साथ परिणाम अशुभ होते हैं। जैसे-नरक में अशुभ लेश्या ही है फिर भी वहाँ शुभपरिणाम भी कोई जीव करते हैं, देवमें शुभ लेश्या ही है फिर भी वहाँ अशुभपरिणाम भी कोई जीव करते हैं। जीवों के परिणाम में अनेक प्रकार की विचित्रता है।

मोक्षमार्ग के सन्मुख हुए जीव को ज्ञान-चारित्र में गर्भितशुद्धता कही जाय, परन्तु सम्यक् शुद्धता जैसी शुद्धता ग्रन्थिभेद के बिना होती नहीं। ज्ञान की ऐसी गर्भितशुद्धता कोई सभी पंचेन्द्रिय जीवों को होती नहीं है। एकेन्द्रायदि से असंज्ञी पर्यंत तो किसी को नहीं होती। ज्ञान की इस गर्भितशुद्धि से अकामनिर्जरा है; उस समय कदाचित् संकलेशभाव हो तो भी अकामनिर्जरा होती ही रहती है। - फिर भी ज्ञान की इतनी विशुद्धि होने से कोई धर्म या मोक्षमार्ग नहीं हो जाता; सम्यग्ज्ञान नहीं हो जाता; मात्र ज्ञानपरिणाम में उतनी ऊर्ध्वता हुई है - अब यदि ग्रन्थिभेद करेगा तो मोक्षमार्ग होगा। उसी प्रकार चारित्र में जो विशुद्धता कही उसमें भी समझ लेना। उसका काफी स्पष्टीकरण हो चुका है। अशुभ के समय जितनी तीव्र अशुद्धता है उतनी शुभ के समय नहीं है, शुभ के समय अशुद्धता मन्द हुई है उस अपेक्षा से उसमें विशुद्धि का अंश कहा परन्तु वह मोक्षमार्गरुप नहीं है, अतः उसे गर्भितशुद्धता कही, उसे मोक्षमार्ग नहीं कहा। मोक्षमार्ग की सम्यक् शुद्धता और यह गर्भितशुद्धता - इन दोनों की जाति भिन्न है।

आत्मा का मुक्तस्वभाव है, अतः बन्धे हुए कर्म सदैव बन्धे ही नहीं रहते, कर्म सदा छूटते ही रहते हैं, अर्थात् अकामनिर्जरा तो होती ही रहती है। उसे इतना अवकाश रहता है कि, कभी इतनी अशुद्धता नहींहोती कि अकामनिर्जरा भी न हो. उसका ज्ञानांश क्षयोपशमभावरुप में जरा-सा खुला ही रहता है, और संकलेशभाव के समय भी कुछ कर्मों की निर्जरा तो चालू ही है। - आत्मा को छूटने का अवकाश तो सदैव होता ही है। परन्तु यहाँ पर तो सम्यक् पुरुषार्थ के बल से, मिथ्यात्वादि कर्मों का अत्यंत नाश करके, साक्षात् मोक्षमार्ग में कैसे आया जाय - इसकी बात है।

कषाय है वह अशुद्धता है, जितना कषाय कम हुआ उतनी विशुद्धता हुई ऐसा कहा; परन्तु उसमें अभी सम्यक्त्व की शान्ति प्रगट नहीं हुई है अतः वह प्रगट शुद्धता नहीं है। सम्यक्त्व हो, तब प्रगट शान्ति का वेदन हो। कषाय की मन्दता हुई उतनी विशुद्धता कही परन्तु यदि कषाय और ज्ञान की एकता की गाँठ का भेदज्ञान द्वारा भेदन न करे, तो उसे मोक्षमार्ग का कोई लाभ होता नहीं। मोक्षमार्ग का लाभ भेदज्ञान से ही होता है। - 'भेदविज्ञानतः सिद्धा सिद्धा ये किलकेचंन।'

संकलेश में से तो मोक्षमार्ग की और कभी जाया नहीं जाता।

विशुद्धतामें से मोक्षमार्ग की तरफ जाया जाता है - परन्तु कब ? कि ग्रन्थिभेद करे तब।

शुभभावरुप विशुद्धि के बल से जीव अतना ऊँचा आ जाय कि निगोद में से निकलकर मनुष्य हो जाय और समोसरण में जाय, गणधर के पास जाय, सन्तो की सभा में जाकर बैठे, भगवान की देशना जिस प्रकार गणधरदेव सुनते हैं वैसे वे भी उसी सभा में बैठकर सुने, - शुभभाव से इतना ऊँचा आ जाय, किन्तु ग्रन्थिभेद के बगैर मोक्षमार्ग को साध नहीं सकते। ग्रन्थिभेद करे तब विशुद्धता वर्धमानरूप होकर शुद्धता को साधे। विशुद्धता वर्धमान हो इससे कोई राग वर्धमान हो ऐसा मत समझना, किन्तु राग का अभाव बठता जाता है ऐसा समझना। राग की धारा बढ़ते बढ़ते कोई अनुभव नहीं होता, परन्तु विशुद्धता द्वारा जैसे तीव्र राग का अभाव किया वैसे आगे बढ़कर राग का बिल्कुल अभाव करके (राग से भिन्न चैतन्य को अनुभव में लेकर) भेदज्ञान करने से मोक्षमार्गरुप शुद्धता प्रगट होती है। - उसे ही विशुद्धता की ऊर्ध्वता हुई कही जाती है। और वही शुद्धता बढ़ते बढ़ते केवलज्ञान को तथा यथाख्यात चारित्र को साधती है। जैसे कपड़े की बढ़िया जाति के बिना बढ़िया डिझाईन उठती (जात बिना भात पडे नहीं गुजराती मुहावरा) वैसे सम्यग्दर्शन के बगैर शुद्धता का छाप आत्मा में नहीं पडती। सम्यग्दर्शन से पूर्व की जो ऊर्ध्वता कही, उससे मोक्षमार्ग का लाभ नहीं होता।

प्रकरण - ९

मोक्षमार्ग का स्वरुप
मोक्ष तरफ जाती हुई ज्ञानधारा और चारित्रधारा

`और सुन ! जहाँ `मोक्षमार्ग साधा वहाँ कहा कि `सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' और ऐसे भी कहा कि - `ज्ञानक्रियाभ्याम् मोक्षः' इसके सम्बन्ध में विचार - चौथे गुणस्थान से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक मोक्षमार्ग कहा। उसका विवरण : सम्यक्रुप ज्ञानधारा और विशुद्धरुप चारित्रधारा, ये दोनों धाराएँ मोक्षमार्ग की तरफ चली; वहाँ ज्ञान से ज्ञान की शुद्धता और क्रिया द्वारा क्रिया की (-चारित्र की) शुद्धता होने लगी। यदि विशुद्धता में शुद्धता है तो यथाख्यातरुप होती है। यदि विशुद्धता में शुद्धता नहीं होती तो केवली में ज्ञानगुण शुद्ध होता और क्रिया अशुद्ध रहती, परन्तु ऐसा तो होता नहीं है। उसमें शुद्धता थी उससे विशुद्धता हुई है। यहाँ कोई कहे कि ज्ञान की शुद्धता से क्रिया शुद्ध हुई; परन्तु ऐसा है नहीं। कोई गुण अन्य गुण के सहारे नहीं है, सब असहायरूप है। और यदि क्रियापद्धति सर्वथा अशुद्ध होती तो अशुद्धता की इतनी शक्ति नहीं है जो मोक्षमार्ग तरफ चले। इसलिये विशुद्धता में यथाख्यात का अंश है इसलिये वह अंश क्रम-क्रम से पूर्ण हुआ।'

मोक्षमार्ग चौथे गुणस्थान से शुरु होता है। मोक्षमार्ग क्या है ?

`सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' यह प्रसिद्ध सूत्र है; जहाँ ज्ञानक्रियाभ्याम् मोक्षः कहा उसमें भी सम्यग्ज्ञान के भीतर सम्यग्दर्शन समाया ही हुआ है, क्योंकि सम्यग्दर्शन के बिना कभी सम्यग्ज्ञान होता नहीं है, दोनों साथ ही है, और क्रिया कहने पर सम्यक्चारित्र आया; इस तरह `ज्ञानक्रियाभ्याम् मोक्षः' में भी `सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः' आ जाता है।

प्रश्न :- बन्ध के कारण पाँच कहे हैं - मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और योग; अतः मोक्ष के कारण में उन पाँचों का अभाव आना चाहिए; - वह किस प्रकार है ?

उत्तर :- सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररुप मोक्षमार्ग में इन पाँचों ही बन्धकारणों का अबाव आ ही जाता है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान में तो मिथ्यात्व का अभाव है; और सम्यक्चारि्तर में अव्रत का, प्रमाद का, कषाय का तथा योग का अभाव है। इस तरह बन्ध के पाँचों ही कारणों के अभावरुप मोक्षमार्ग है।

प्रश्न :- सम्यक्चारित्र में अव्रतादि का अभाव है - यह तो ठीक, परन्तु उसमें योग का अभाव कहा सो किस तरह ? योग तो बारहवें और तेरहवें गुणस्थान में भी होता है ?

उत्तर :- वीतरागभावरुप चारित्र बारहवें गुणस्थान में पूर्ण हो गया है वह ठीक, परन्तु अभी आत्मद्रव्य के सभी गुण अपने अपने स्वरूप में स्थित हुए नहीं है उस अपेक्षा से आत्मद्रव्य का चारित्र अभी पूरा नहीं हुआ है। आत्मद्रव्य के सभी गुणों की स्वरूपस्थिति चौदहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में गिनी गई है, और तब ही मोक्षमार्ग की पूर्णता गिनी जाती है; उसके अनंतर समय में (दूसरे ही समय में) मोक्ष होता है। यदि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररुप संपूर्ण मोक्षमार्ग बारहवें गुणस्थान में ही पूरा हो गया हो तो तुरन्त ही मोक्ष क्यों न हो जाय ? इसलिये आत्मा के सभी गुणों की विवक्षा से देखने पर मोक्षमार्ग की पूर्णता चौदहवें गुणस्थान के अन्त समयमें होती है। और उसमें बन्ध के कारणरूप योग का भी अभाव हो गया है। इस प्रकार `सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारि्तराणि मोक्षार्गः' यह सूत्र निर्बाध है।

- कभी ऐसा कहे कि, द्रव्यार्थिकनय से आत्मा को बन्ध-मोक्ष नहीं है।
- कभी कहे कि, रत्नत्रपरिणत आत्मा ही मोक्षमार्ग है।
- कभी कहे कि, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र वह मोक्षमार्ग है।
- कभी कहे कि, ज्ञान और क्रिया, वह मोक्षमार्ग है।
- कभी कहे कि, चार प्रकार की आराधना, वह मोक्षमार्ग है।
- कभी कहे कि, उत्तमक्षमादि दसधर्म मोक्ष का कारण है।
- कभी कहे कि, शुद्धआत्मा की अनुभूति वह मोक्षमार्ग है।
- कभी कहे कि निश्चयनयाश्रित मुनिवर प्राप्ति करे निर्वाण की।
- कभी कहे कि, ज्ञान की अनुभूति वही मोक्षमार्ग है।
- कभी कहे कि, वीतरागता - वह ही मोक्षमार्ग है।
- कभी कहे कि, शुद्धोपयोग - वह ही मोक्षमार्ग है।
- कभी कहे कि, स्वद्रव्य का आश्रय वह मोक्षमार्ग है।

- परन्तु इन सभी प्रकार में एक ही तात्पर्य है, कहीं भी परस्पर विरुद्धता नहीं है। भिन्न भिन्न प्रकार से समझाने के लिये अनेक विवक्षापूर्वक कथन किया हो, वहाँ उस विवक्षा को समझकर उसका तात्पर्य समझ लेना चाहिए। वीतरागी शास्त्रों का तात्पर्य ऐसा ही होता है कि जिससे आत्मा को लाभ ही हो... और वीतरागता बढै।

सम्यग्दर्शन से पूर्व के ज्ञान-चारित्र में कुछ विकार देखकर, तथा निर्जरा देखकर, उसमें विशुद्धता भले कही, परन्तु सम्यग्दर्शन के बिना उसका जोर चलता नहीं है अर्थात् मोक्षमार्ग बनता नहीं है अतः सम्यग्दर्शन की ही प्रधानता हुई। सम्यग्दर्शन सहित का ज्ञान और सम्यग्दर्शनसहित की स्वरूपस्थिरतारुप क्रिया - वही मोक्षमार्ग है; इस प्रकार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र वह मोक्षमार्ग है। और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को मोक्षमार्ग कहने पर उससे विरुद्ध ऐसे मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र ये बन्ध के कारण हैं - ऐसा भी आ गया।

यहाँ प्रश्न :- ज्ञान का उघाड बन्ध का कारण नहीं है - ऐसा आपने तो कहा था सो ?

उत्तर :- ज्ञान का क्षयोपशमभाव वह बन्ध का कारण नहीं है - यह ठीक है; यदि उघाड़ ही बन्ध का कारण हो तो तो क्षयोपशम बढ़ने पर बन्धन भी बढ़ता जाय, परन्तु ऐसा नहीं है। परन्तु ज्ञान स्वयं जब मोह के साथ मिलकर वर्तताहै और निजप्रयोजन को साधता नहीं है, स्वतत्त्व को जानने में प्रवर्तता नहीं है तब वह बन्ध का कारण होता है, इसलिये मिथ्याज्ञान को बन्ध का कारण कहा है। और ज्ञान जब स्वतत्त्व को जानने में प्रवर्तता हुआ निजप्रयोजन को साधता है तब उस सम्यग्ज्ञान को मोक्ष का कारण कहा है। 'है महाप्राज्ञ ! ज्ञान पर को जाने उससे तू दुःखी मत होना।' - अर्थात् सम्यग्ज्ञान पर को माने इसलिये कोई वह मिथ्या नहीं हो जाता, जानने का तो उसका स्वभाव है। परन्तु स्व-पर की भिन्नता को जाने नहीं, स्वतत्त्व को पहिचाने नहीं और पर को ही जानने में प्रवर्ते - तो अपने विज्ञानघन स्वभाव से भ्रष्ट हुआ वह अज्ञान बन्ध का कारण होता है। ज्ञानने अपने स्वरूप को नहीं पहिचाना वह उसका अपराध है। इस प्रकार विवक्षा-अनुसार आशय समझने पर शास्त्रों में कहीं भी विरुद्धता नहीं है।

निगोद में से मनुष्य होने पर ज्ञान का उघाड़ बहुत बढ़ा, परन्तु वह ज्ञान स्वसन्मुख होकर जब तक स्वप्रयोजन को न साधे तब तक मोक्षमार्ग में आता नहीं है; स्वतत्त्व को जानकर सम्यक् हो तब ही वह मोक्षमार्ग में आता है। इस अपेक्षा से स्वानुभूतिरुप आत्मज्ञान के पास शास्त्रज्ञान को स्थूल कहा है। ज्ञान सम्यक्रुप से विकसित होकर जब केवलज्ञान की ओर चला तब उसके साथ चारित्र का अंश भी शुद्ध होकर यथाख्यात् की ओर चला। इस तरह दोनों गुण की धारा मोक्षमार्ग में एक साथ है; फिर भी ज्ञान के कारण से ज्ञान है और चारित्र के कारण से चारित्र है। - दोनों के उपादान स्वतंत्र है।

प्रश्न :- पर्याय की शुद्धता तो गुण की शक्ति में से आयेगी ! फिर उघाड़ में और कषाय की मन्दता में गर्भितशुद्धता कहने का क्या प्रयोजन है ? कोई

उसमें से तो शुद्धता आती नहीं।

उत्तर :- गुण परिणमित होकर शुद्धता आती है यह बात तो ठीक है; यहाँ पर्याय की धारा का प्रवाह बताना है। यदि पर्याय में अशुभ का तीव्र संकलेश टलकर शुभ के योग्य विशुद्धता न होवे तो मोक्षमार्ग की शुद्धता कहाँ से होगी? निगोदपर्याय में से निकलकर सिद्धपर्याय की तरफ प्रवाह चला, तो उस प्रवाह में संकलेश टलकर मन्दतारुप विशुद्धि आती है, फिर ग्रन्थिभेद द्वारा मोक्षमार्ग आता है और फिर केवलज्ञान होता है। इस प्रकार शुद्धता की तैयारीवाले जीव को पर्याय में परिणमन की धारा कैसी होती है, यह बताया है।

ग्रन्थिभेद होने पर जहाँ मोक्षमार्ग शुरु हुआ वहाँ ज्ञान व चारित्र दोनों की धारा शुद्ध होती चली जाती है। ज्ञान की वृद्धि होती जाय और चारित्र की शुद्धता न बढ़े ऐसा नहीं है। गुणस्थानअनुसार ज्ञान एवं चारित्र दोनों की शुद्धि बढ़ती ही जाती है। ज्ञान और चारित्र भले एकदूसरे के आश्रय से नहीं है परन्तु जैसे जैसे मोक्षमार्ग में आगे बढ़ता जाता है वैसे वैसे दोनों की शुद्धता की धारा भी बढ़ती जाती है। यदि ऐसा न हो तो तेरहवें गुणस्थानवर्ती जीव को ज्ञान तो पूर्ण हो जाय और चारित्र अशुद्ध रह जाय - ऐसा बने। - किन्तु ऐसा बनता नहीं है। यहाँ पर केवलज्ञानी का दृष्टांत है, वैसे चौथे गुणस्थान से जहाँ मोक्षमार्ग शुरु हुआ वहाँ सम्यग्ज्ञान के साथ स्वरूपाचरणचारित्र भी मिला हुआ ही है। गुणभेद होने के बावजूद, मोक्षमार्ग शुरु होने पर सभी गुणों में शुद्धता की परिणमनधारा शुद्ध हो जाती है - ऐसा समझना। (सर्वगुणांश वह सम्यक्त्व) इससे पहले भी जैसे ज्ञान में जानपना खुला वैसे चारित्त्र में कषाय की मन्दतारुप विशुद्धि विकसित हुई। विचारदशा जागे तब कषाय की मन्दता तता वैराग्यपरिणाम भी साथ में होते ही है। इसके बाद ग्रन्थिभेद होने पर दोनों गुणों की धारा मोक्षमार्ग की तरफ चले। चारित्र और ज्ञान पूर्ण होने पर उससे सम्बन्धित जो पूर्व निर्जरा हो जाती है उसकी शुरुआत तो पहले से (जब से ज्ञान का उघाड़ तत्त्वविचार के योग्य हुआ और चारित्‌र में संकलेशमें से विशुद्धता हुई तब से) ही हो गई है। (यहाँ पर ऐसा ऊर्ध्वगामी जीव लेना

कि जो आगे बढ़कर जरुर मोक्षमार्ग को साधता है)। यदि शुरु से निर्जरा बिल्कुल नहीं हो रही होती तो पूर्ण निर्जरा भी नहीं होती। इसको लेकर कोई शुभराग से निर्जरा नहीं है परन्तु उस समय तीव्रता का जो अभाव हुआ उससे निर्जरा है। अशुभ की धारा आगे बढ़कर कोई शुद्धता तक नहीं पहुँचती, अशुभमें से पहले शुभ में आये, और फिर ग्रन्थिभेद के बल से उससे भी आगे बढ़कर केवलज्ञान को साधे, ऐसा विकास का क्रम है। ज्ञान में अज्ञानपने की धारा बढ़ते बढ़ते कोई केवलज्ञान नहीं होता परन्तु अजानपना (मूर्छितपना) छूटकर पहले तत्त्वविचारयोग्य ज्ञान का जानपना विकसित हो फिर ग्रन्थिभेद के बल से आगे बढ़कर केवलज्ञान को साधे - ऐसा ज्ञान के विकास का क्रम है। इस प्रकार निगोद से शुरु करके केवलज्ञान तक ज्ञान और चारित्र दोनों गुण अपनीअपनी धारा में स्वतंत्ररुप से अपने उपादान से ही विकसित हो रहे हैं। और **इन दो गुण के दृष्टान्त से सब गुण के उपादान असहाय-स्वाधीनपरिणाम समझ लेना यह तात्पर्य है।**

सुवाक्य

परम वितराग जैनधर्म के अनादिनिधन प्रवाह में तीर्थंकरों एवं सन्तों ने आत्महित के हेतुभूत अध्यात्मवाणी का प्रवाह बहाया है; तीर्थंकरो एवं सन्तों के उस अध्यात्मसंदेश को झीलकर के (ग्रहणकरके) जीव पावन होते हैं। श्रावक-धर्मात्माओं भी अध्यात्मरस के उस पुनित प्रवाह को अपनी अध्यात्मरसिकता द्वारा बहता हुआ रखा है। इस अध्यात्मरस के पान से संसार के संतप्त जीव परम तृप्ति का अनुभव करते हैं।

प्रकरण - १०

उपादान-निमित्त की स्वतंत्रता का उपसंहार
इसे समझकर मोक्षमार्ग साधे उसको शाबाशी।

`अब यहाँ पर एकद्रव्याश्रित उपादान-निमित्त की चौभंगी का उपसंहार करते हुए कहते है कि : `एक भइया उटकनावारे ! अर्थात् हे प्रश्नकार भाई ! तूने विशुद्धता में शुद्धता मानी या नहीं ? यदि तूने मानी, तो अन्य कुछ कहने का काम नहीं है। यदि तूने नहीं मानी, तो तेरा द्रव्य इसी प्रकार परिणमित हुआ है, - हम क्या करें ? यदि तूने मानी तो तेरे को शाबाश !"

वस्तु की ऊध्धता की ऐसी धारा तुझे समझ में आ जाय तो तुझे शाबाशी है ! यहाँ तक ऊपर उठकर आया, अब परिणमन की स्वतंत्रता जानकर विशुद्धता में से शुद्धता की तरफ जा... तो तुझे शाबाशी ! जो तीव्र मिथ्यादृष्टि है, जिसे स्वभाव का विचार करने की शक्ति नहीं है उसे तो शुभ के काल में भी पता नहीं है कि मेरी समझ विशुद्धता में शुद्धता पड़ी है (गर्भित है)। किन्तु शुद्ध स्वभाव का जिसे लक्ष है, स्वभाव के विचार की श्रेणी जिसे चल रही है वह जानता है कि इस विशुद्धता में राग का तनिक अभाव हुआ, तो स्वभाव में राग का पूर्ण अभाव है, जिसका आंशिक अभाव हुआ उसका पूर्ण अभाव हो सकता है; अहो ! रागादि का आंशिक अभाव हुआ उतना शुद्धता का गर्भितअंश है - ऐसा शुद्धस्वभाव के लक्ष से कहा, अतः जिसे ऐसा लक्ष है वह तो ऊर्ध्वपरिणामी होकर मोक्षमार्ग की व्यक्तता करता है। - अतः उसको शाबाशी दी। परन्तु केवल शुभराग से या ज्ञान के उघाड़ से कोई मोक्षमार्ग हो नहीं

जाता। उस विशुद्धि में शुद्धता माननेवाले को लक्ष में है कि यह विशुद्धि स्वयं मोक्षमार्ग हो नहीं जाता। उस विशुद्धि में शुद्धता माननेवाले को लक्ष में है कि यह विशुद्ध स्वयं मोक्षमार्ग नहीं है, जब ग्रन्थिभेद से शुद्धताहोगी तब मोक्षमार्ग होगा। - इसलिये कहा कि तूने इस प्रकार जाना तो तुझे शाबाशी ! क्योंकि इसे जानने में साथ में शुद्धस्वभाव का लक्ष काम करता है। सिर्फ राग में खड़ा रहकर, राग को ही मोक्षमार्ग समझ ले उसे शाबाशी नहीं दे रहे; परन्तु उसमें से स्वभाव का लक्ष जिसने कर लिया, जिसने एक अंश राग के अभाव पर से राग के सर्वथा अभाववाला शुद्ध स्वभाव लक्षगत करत लिया, **उसे संत शाबाशी देते हैं.... वह जरुर मोक्षमार्ग प्राप्त करेगा ऐसा सन्तों के आशीर्वाद है।**

[द्रव्यार्थिक-चौभंगी अर्थात् एक ही द्रव्य के आश्रय से उपादान-निमित्त से सम्बन्धित चार प्रकारों का वर्णन यहाँ पूर्ण हुआ; अब पर्यायार्थिक चौभंगी अर्थात् भिन्न भिन्न द्रव्य के आश्रय से उपादान-निमित्त से सम्बन्धित चार प्रकारों का वर्णन करते हैं :]

सुवाक्य

तीर्थंकरों और मुनियों की तो क्या बात ! - उनका तो जीवन स्वानुभव द्वारा अध्यात्मरस से ओतप्रोत हो गया है; तदुपरांत जैन शासन में अनेक धर्मात्मा-श्रावक भी ऐसे पके हैं कि जिनका अध्यात्म-जीवन और अध्यात्मवाणी अनेक जिज्ञासुओं को अध्यात्म की प्रेरणा जगाता है। अध्यात्मरस जगत के सभी रसों से सर्वोत्कृष्ट है।

प्रकरण - ११

वक्ता एवं श्रोता की चौभंगी के दृष्टान्त से उपादान-निमित्त की स्वतंत्रता

शुद्ध-अशुद्ध निमित्त-उपादान का विचार
[उसमें पर्यायार्थिक निमित्त-उपादान की चौभंगी]

'(१) वक्ता अज्ञानी, श्रोता भी अज्ञानी;
वहाँ तो निमित्त भी अशुद्ध और उपादान भी अशुद्ध

(२) वक्ता अज्ञानी, और श्रोता ज्ञानी;
वहाँ निमित्त अशुद्ध और उपादान शुद्ध।

(३) वक्ता ज्ञानी और श्रोता अज्ञानी;
वहाँ निमित्त शुद्ध और उपादान अशुद्ध।

(४) वक्ता ज्ञानी और श्रोता भी ज्ञानी;
वहाँ निमित्त भी शुद्ध और उपादान भी शुद्ध।

इस प्रकार से पर्यायार्थिकनय से उपादान-निमित्त की चौभंगी सिद्ध की।

इति निमित्त-उपादान शुद्धाशुद्धरुप विचार वचनिका।'

द्रव्यार्थिक नय के कथन में उपादान व निमित्त वे देनों एक ही वस्तु में थे, उसे ज्ञान व चारित्र का दृष्टान्त देकर समझाया, और इस पर्यायार्थिक नय के कथन में उपादान व निमित्त ये दोनों भिन्न भिन्न वस्तु में है, उसे यहाँ पर वक्ता और श्रोता का दृष्टांत देकर समझाया है। श्रोता उपादान है, और वक्ता निमित्त है। जो वक्ता-श्रोता ज्ञानी हो उसे शुद्ध कहा जाता है, और

अज्ञानी हो उसे अशुद्ध कहा जाता है।

(१) कभी वक्ता और श्रोता दोनों अज्ञानी होते हैं, वहाँ निमित्त-उपादान दोनों अशुद्ध है। जहeाँ अज्ञानी का विपरीत उपदेश चल रहा हो उसके बावजूद जिसे वह रुच रहा है (पसन्द है, संमत है) वह श्रोता भी अशुद्ध उपादानवाला है; शुद्ध उपादानवाले जीव को ऐसे विपरीत उपदेश में रुचि नहीं होती, श्रोता होकर वह ऐसे उपदेश का स्वीकार नहीं करता। अज्ञानी वक्ता ने गलत उपदेश दिया इसलिये श्रोता को गलत ज्ञान हुआ - ऐसा नहीं है। श्रोता का उपादान ऐसा अशुद्ध था इसलिये उसे ऐसा उपदेश बैठा। निमित्त और उपादान दोनों स्वतंत्र, असहायी है कोई किसी को अधीन नहीं है - इस सिद्धांत को शुरु से कहते चले आ रहे हैं उसे सर्वत्र लागू करना। कभी अज्ञानी शास्त्र अनुसार भी उपदेश दे रहा हो, और अज्ञानी सुन रहा हो, परन्तु स्वानुभव का वास्तविक-सच्चा रहस्य उसमें आये नहीं, और मोक्षमार्ग का प्रसंग वहाँ बने नहीं, क्योंकि उपादान और निमित्त दोनों अशुद्ध है, दोनों अज्ञानी है।

(२) अब कभी ऐसा भी बने कि वक्ता तो अज्ञानी हो और श्रोता ज्ञानी हो। वहाँ निमित्त अशुद्ध है और उपादान शुद्ध है। देखो, निमित्त अशुद्ध है लेकिन वह कोई उपादान को अशुद्ध नहीं कर देता। दोनों स्वतंत्ररुप से अपने अपने बाव में परिणमन कर रहे होते हैं। ज्ञानी कोई चाहे जहाँ अज्ञानी का उपदेश सुनने के लिये चल नहीं देते; परन्तु कोई मुनि आदि हो, बाहर का व्यवहार साफ हो और शास्त्रअनुसार प्ररुपणा कर रहे हो, अन्र कोई सूक्ष्म मिथ्यात्व का प्रकार उन्हें शेष रह गया हो, कदापि अन्य किसी को उसका ख्याल तक न आ पाये; और ज्ञानी उस मुनि की सभा में बैठकर सुन रहे हो, वन्दानिद व्यवहार भी कर रहे हो; वहाँ वक्ता अज्ञानी है और श्रोता ज्ञानी है। शास्त्र अनुसार शुद्धात्मा का अनुभव इत्यादि का कथन कर रहे हो लेकिन स्वयं को वैसा स्वानुभव न हो, और श्रोता में कोई ज्ञानी हो उसे ऐसा स्वानुभव हो गया हो। शास्त्र अनुसार प्ररुपणा हो उसे ज्ञानी सुने, परन्तु शास्त्र विरुद्ध प्ररुपणा हो वह ज्ञानी श्रोतारुप में सुने नहीं, उसका इन्कार-नकार करे। राग को जो

मोक्षमार्ग मनायें, पराश्रय से धर्म मनाये, आत्मा का पर में कर्तृत्व मनाये, देह की जडक्रिया से धर्म मनाये - ऐसी सीधी सीधी विपरीत प्ररुपणा कोई अज्ञानी कर रहा हो और उसे सुनने का प्रसंग कदाचित् बन जाय, तो ज्ञानी श्रोता उस बात का स्वीकार नहीं करते। इसमें उपादान शुद्ध है और निमित्त अशुद्ध है।

यहाँ एक बात ध्यान में रखनी कि जो श्रोता ज्ञानी है उस श्रोता को धर्म की प्राप्ति के समय किसी अन्य ज्ञानी के पास से देशनालब्धि हो चुकी है, अतः जिनके पास से देशनालब्धि, हुई है वह ही धर्म का निमित्त है। अज्ञानी के उपदेश से कोई जीव देशनालब्धि प्राप्त कर ले ऐसा बनता नहीं। धर्म प्राप्त करनेवालेने एकबार तो ज्ञानीके पास से देशनालब्धि सुनी ही होती है - ऐसी अनादि परम्परा है। हाँ, ऐसा हो सकता है कि अज्ञानी से उपदेश सुनने के समय में पूर्व में हुई देशनालब्धि के संस्कार ताजे हो जाय और उसके बल से जीव धर्म प्राप्त करे; वहाँ वह उपादान की शुद्धि के बल से ही धर्म प्राप्त करता है। इस तरह उपादान शुद्ध और निमित्त अशुद्ध ऐसा प्रकार भी कभी होता है।

इससे कोई ऐसा कहे कि निमित्त भले चाहे जैसा हो, हमे क्यां आपत्ति है ? चाहे जिस के पास से सुनना ही तो है न ! अतः चाहे जैसे अज्ञानी-कुगुरु-अन्यमति का भी उपदेश सुनने में कोई आपत्ति नहीं है। - तो उसकी बात सही नहीं है; वह भारी भ्रमणा में डूबा हुआ है। भाई ! तुझे ऐसे झूठे तत्त्व के श्रवण का भाव क्यों आया ? कुसंग का भाव तुझे कैसे जच रहा है ? अतः तेरा उपादान भी अशुद्ध है। जैसा तेरा वक्ता... वैसा तु। दोनों एक सरीखे; अतः तेरी क्लास इस दूसरे नम्बर में नहीं आयेगी, लेकिन तेरा क्लास तो जो पहले नम्बर की बात बताई उसमें आता है।

(३) वक्ता ज्ञानी हो और श्रोता अज्ञानी हो, वहाँ निमित्त शुद्ध, और उपादान अशुद्ध है; यह तीसरा प्रकार तो सामान्यरुप से देखने में आता ही है। तीर्थंकर भगवान की सभा में तो बहुत सारे जीव श्रोता होते हैं, परन्तु वे सारे ही कोई सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं कर लेते। अतः भैया 'भगवतीदासजी' उपादान-निमित्त

के संवाद में कहते है कि -

यह निमित्त इह जीव के मिल्यो अनंती बार,
उपादान पलट्यो नहि, तो भटक्यो संसार। (९)

देखो तो, निमित्त के रुप में सर्वज्ञ सरीखे वक्ता मिले, और उनकी वाणी समोवसरण में बैठ-बैठकर सुनी, फिर भी ... उपादान अशुद्ध था, वे जीव अज्ञानी रह गये। - निमित्त क्या करे ? स्वयं के उपादान की तैयारी के बिना भगवान भी समझा दे सके ऐसा है नहीं। शुद्धात्मा की एक ही बात ज्ञानी के पास से एक साथ बहुत जीव सुने, उसमें कोई उसे समझकर वैसा अनुभव कर लेता है, कोई जीव वैसा अनुभव नहीं करता। निमित्तरुप में एक ही वक्ता होने के बावजूद श्रोता के उपादानअनुसार उपदेश परिणमित होता है। ऐसी स्वतंत्रता है। यहाँ पर उत्कृष्ट ज्ञानी वक्ता के रुप में तीर्थंकरदेव का दृष्टांतलिया, वैसे चौथे गुणस्थान से लेकर सारे ही ज्ञानी वक्ता का समझ लेना।

(४) किसी समय वक्ता ज्ञानी हो और श्रोता भी ज्ञानी हो, वहाँ उपादान और निमित्त दोनों शुद्ध है; - ऐसा प्रकार भी देखने में आता है। तीर्थंकर भगवान की समबा में गणधर सरीखे श्रोता बिराजमान होते हैं; जगत में सबसे उत्तम वक्ता तीर्थंकरदेव, और सबसे उत्तम श्रोता गणधरदेव, अहा, उस वीतरागी वक्ता और उस श्रोता की क्या बात !! जहाँ सर्वज्ञ सरीखे वक्ता और चार ज्ञानधारी श्रोता... उस सभा के दिव्य दिदार की क्या बात !! और भगवान की वाणी एक समय में पूरा रहस्य लेकर आये, गणधरदेव एकाग्रपूर्वक उसे झीलते झीलते स्वरूप में जम जाय। भगवान की सभा में अन्य भी लाखों करोड़ों ज्ञानी हो, तिर्यंच भी वहाँ धर्म प्राप्त करे। उपादान जग गया उसकी क्या बात !! उत्कृष्ट उपादान जगे वहाँ सामने निमित्त भी उत्कृष्ट होता है। - फिर भी दोनों स्वतंत्र। वक्तापना तेरहवें गुणस्थान में भी होता है, परन्तु श्रोतापना छठे गुणस्थान तक ही है। फिर ऊपर के गुणस्थान में तो उपयोग निर्विकल्प होकर स्वरूप में थंभ गया है, वहां पर वाणी की तरफ लक्ष नहीं है। तीर्थंकर सर्वज्ञपरमात्मा से लेकर गणधरदेव, मुनिवर तथा चौथे गुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि जीव - ये सभी

वक्ता ज्ञानी है, वह शुद्धनिमित्त है, और श्रोता में भी ज्ञानी होते हैं, उनके शुद्ध उपादान हैं। ज्ञानी वक्ता हो और ज्ञानी श्रोता हो ऐसे प्रसंग विरलरुप से देखने में आते हैं।

इस प्रकार वक्ता और श्रोतारुप निमित्त-उपादान के कुल चार प्रकार कहै, उसमें प्रत्येक में उपादान-निमित्त दोनों की स्वतंत्रता समझना। और इस दृष्टान्त अनुसार भिन्न द्रव्यों में सर्वत्र उपादान-निमित्त दोनों की स्वतंत्रता समझ लेना... और पराश्रयबुद्धि छोड़कर स्वाश्रय द्वारा मोक्षमार्ग को साधना... यह तात्पर्य है।

इस प्रकार पंडित श्री बनारसीदासजी द्वारा लिखित उपादान-निमित्त की वचनिका पर पूज्य श्री कानजीस्वामी के, स्वतंत्रता बताकर शुद्ध उपादान को जागृत करनेवाले प्रवचन पूर्ण हुए।